वैदिकविज्ञानसूर्यकीप्रथम-
किरण

ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य
प्रथमखण्ड

१

भाष्यकार

वेदवीथीपथिक—

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाज (गौड़)

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशनफंडद्वाराप्रकाशित

एवं

मोतीलालशर्म्माद्वारासम्पादित

मुद्रक-

श्रीबालचन्द्रइलेक्ट्रिकप्रे

दी न्यू एशियाटिक वैदिक रिसर्च सोसायटी
प्रकाशन विभाग विज्ञान मन्दिर
जयपुर सिटी (इण्डिया)

प्रथमसंस्करण
१००० प्रति

ॐ समर्पण ॐ

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः ।
श्रीविश्वगदयोदयाच्च समभूत् काश्यां सुविद्योदयः ॥
राज्ञा श्रीत्युदयादभूज्जयपुरे संपत्तिभाग्योदयः ।
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥

जिस महापुरुष नें अपनी अप्रतिम प्रतिभा से गुहानिहित वैदिकवाङ्मयपुरुष को प्रकाशित किया, जिस विभूतिनें चिरकाल से विलुप्त वैदिक परिभाषाओं का उद्धार कर वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित किया, जिस महान् आत्मा नें अपनी समस्त आयु को वेदोद्धार के लिए निःस्वार्थभाव से समर्पित किया, जिस वेदमूर्त्ति की अविच्छिन्न युक्तियुक्त विज्ञानमयी वाग्धारा नें पाश्चात्य देश की सुप्रसिद्ध केम्ब्रिज एवं ऑक्सफोर्ड युनिवर्सीटियों के विद्वानों को चकित किया, जिस वाग्देवता के अवतार नें वेद–व्याकरण–छन्द–निरुक्त–ज्यौतिष–कल्प–पुराण–तन्त्र आदि आदि विविधविषयों के गद्यपद्यात्मक लगभग २०० ग्रन्थों से अमरभारती को अमर बनाया, उस महाविभूति के पावन चरणों में उसी के एक अकिञ्चन शिष्य द्वारा विनम्रभाव से सादर समर्पित ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! (मधुसूदन !) तुभ्यमेव समर्पये

——:०ॐ०:——

अकिञ्चन सेवक—

मोतीलाल शर्मा जयपुरीयः

÷÷ विद्यावाचस्पति, समीक्षाचक्रवर्त्ती, वाग्देवतावतार श्री १०८ श्री मधुसूदनजी महाराज ओझाः (मैथिल) । आप का विस्तृत जीवनचरित्र आपके सप्ततिवर्षों (७०) पलक्ष में होने वाले अभिनन्दनोत्सव के अवसरपर श्रीमधुसूदनअभिनन्दनसमिति जयपुर की ओर से अभिनन्दनार्थ प्रकाशित 'वेदाङ्क' में निकल चुका है । प्राप्तिस्थान ——

"संस्कृत रत्नाकर कार्यालय" पानों का दरीबा 'जयपुर' सीटी ।

पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी महाराज (श्रीगुरुचरणाः)

प्रस्तावना

चिदानन्दघन ईशप्रजापति का अंशावतारभूत प्राणी **अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश**-आदि दोषप्रवर्त्तक अविद्यासंस्कारों के प्रभाव से कर्माशय का फल भोगने के लिए मातापिता के शुक्रशोणित के मिथुनभाव में प्रतिष्ठित होकर (गर्भ में प्रविष्ट होकर) धरातल पर अवतीर्ण होता है। क्योंकि इस का मूलप्रभव आनन्दघन ब्रह्मतत्त्व है, अत एव यह प्राणी यावज्जीवन सुख की कामना किया करता है। परन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि अपने जन्मकाल से मृत्युपर्यन्त निरन्तर सुख की कामना करता हुआ भी, तत्प्राप्ति के लिए सतत उद्योगशील बनता हुआ भी यह दुःखी ही देखा जाता है। इस का क्या कारण? उपनिषच्छ्रुति उत्तर देती है।

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

“सर्वथा नीरूप आकाश चर्म्ममय बनें, उस चर्म्ममय आकाश को मनुष्य अपने चारों ओर वेष्टित करले, यदि ऐसा होना संभव है तो आत्मदेवता को विना जानें दुःख का अन्त हो सकेगा”। तात्पर्य इस का यही हुआ कि जैसे आकाश को चर्म के समान शरीर के लपेटना असंभव है, एवमेव विना आत्मज्ञान के दुःख की निवृत्ति सर्वथा असंभव है—**“नामृतत्वस्य तु आशास्ति वित्तेन”**। ऐसी स्थिति में नित्यानन्दलक्षणा पराशान्ति की जिज्ञासा

रखनें वाले प्रत्येक मनुष्य को आत्मबोध करना नितान्त आवश्यक है। इधर आत्मा एक ऐसा जटिलपदार्थ है कि इस का यथावत् परिज्ञान करलेना दुःसाध्य नहीं तो सुसाध्य भी नहीं है। आत्मज्ञान की चरमसीमा पर पहुंचा हुआ स्वयं भारतवर्ष भी आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में नाना-भाव से आक्रान्त हो रहा है। यद्यपि शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप सर्वथा निर्णीत है, तथापि सम्प्रदायभक्त व्याख्याताओं की कृपा से वे ही शास्त्र आज जिज्ञासु के लिए सन्देहनिवृत्ति के स्थान में सन्देह के कारण बने हुए हैं। आत्मबोध के सम्बन्ध में आज **'पश्यन्नपि न पश्यति'** यह उक्ति सर्वात्मना चरितार्थ होरही है।

संभवतः महाभारतकाल के पीछे से सर्वशास्त्रमूर्धन्य निगम (वेद)–शास्त्र का पठन पाठन विरलप्राय बन रहा है। केवल पारायण पर ही वेदशास्त्र की इतिकर्त्तव्यता समाप्त मानली जाती है। वेद में किन मौलिक तत्वों का विचार हुआ है ? इस सम्बन्ध में **सायण–माधव हरिहर**-आदि वेद व्याख्याता भी मौन हैं। केवल कर्मकाण्ड का समन्वय ही उपलब्ध वेदभाष्यों का परमपुरुषार्थ है। इधर कुछ समय पूर्व ऐसे व्याख्याता उत्पन्न हुए हैं, जिन्हों नें वेद में **तार टेलीफोन** आदि के निरूपण में ही वेद का महत्त्व समझा है। भारतवर्ष में आज वेदविद्या का आलोडन–विलोडन एकान्ततः अवरुद्ध है। संस्कृतविद्या के अगाध विद्वानों की समस्त आयु **व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, साहित्य** आदि में परिसमाप्त है। इन्हें वेदार्थ पर दृष्टिपात का अवसर ही नहीं मिलता। **अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-द्वैत** आदि सम्प्रदायों के अनुयायी सांप्रदायिक ग्रन्थों को ही सर्व सर्ग मानते हुए वेदस्पर्श में भी पातक समझते हैं। इधर कुछ समय से भारतीय विद्वानों नें वेदार्थ के सम्बन्ध में कुछ प्रयास किया भी है तो वह परसंपत्ति होनें से उच्छिष्ट मात्र है। पश्चिमी विद्वानों नें वेदार्थ के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं, उन्हीं के आधार पर कुछ लिखनें वालों के विचार भी हमारी जिज्ञासा को पूर्ण करनें में असमर्थ हैं। जब विद्वन्मण्डली की यह दशा है तो साधारणजन समाज का तो कहना ही क्या है। इस प्रकार आर्यजाति का सर्वस्व भूत वेदशास्त्र आज असुर्यलोक में पड़ा हुआ हमारी भाग्यसंपत् को अभिशाप दे रहा है। जैसा कि आर्य जाति का—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

यह चिन्तन सत्य विश्वास है, उसी के फलस्वरूप वेदैकवेद्य वेदमूर्त्ति विश्वेश्वर की अनुकम्पा से आर्यजाति के सौभाग्य से वर्त्तमानयुग में एक ऐसा महापुरुष भारतभूमि पर अवतीर्ण हुआ है, जिसनें ईश्वराज्ञापत्ररूप वैदिकतत्वों को जगत् के सामनें रखकर लुप्तप्राय भारतवर्ष को पुनः आलोकित किया है। आज भारतवर्ष के, एवं युरोप के उच्चकोटि के सभी विद्वान् यह मान गए हैं कि उक्त महापुरुषनें सचमुच वेदार्थ के सम्बन्ध में एक नया युग उपस्थित किया है। जो वैदिकतत्व भाष्यकारों, विद्वानों के लिए स्वप्नजगत् की वस्तु थी, वही आज जाग्रदवस्था में आकर हमारे आश्चर्य का कारण बन रहे हैं। स्वनामधन्य विद्यावाचस्पति, समीक्षाचक्रवर्त्ती पूज्य-गुरुवर **श्रीमधुसूदनजी** महाराज नें अपनीं अप्रतिम ईश्वरदत्त प्रतिभा के बल से वेदार्थ के स्पष्टी-करण के लिए भिन्न भिन्न विषयों पर लग भग २०० ग्रन्थ लिखें हैं। आपके सभी ग्रन्थ अमर-भारती (संस्कृत) को अलङ्कृत कर रहे हैं। यह देश का दुर्भाग्य है कि उक्त ग्रन्थों में से अबतक १२-१५ ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं। शेष संपत्ति उन संपत्तिशालियों की विशेष बुद्धिमानी से भारतवर्ष को वञ्चित किए हुए है। हमारा विश्वास है कि जगदीश्वर की अनुक-म्पा से जिस दिन उक्त वैदिक साहित्य सर्वात्मना प्रकाश में आजायगा, उस दिन समस्त मानव-जाति का एकमात्र आराध्य वेदपुरुष ही रह जायगा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुरुवर श्रीओझाजी के सभी ग्रन्थ संस्कृत में, कुछ एक ग्रन्थ '**छन्दोभाषा**' नाम से प्रसिद्ध वेदभाषा में है। इधर हिन्दीभाषा आज राष्ट्रभाषा बनी हुई है। दूसरे भारतवर्ष का धनिकवर्ग (जो कि इस साहित्य को प्रकाश में लानें की क्षमता रख-ता है) संस्कृतवाङ्मय से अधिकांश में वञ्चित है। इन्हीं सब विषम समस्याओं को लक्ष्य में रखते हुए लेखकनें हिन्दीभाषा द्वारा जनता के सामनें श्रीओझाजी के विचार रखनें का निश्चय किया है। फलतः भिन्न भिन्न विषयों पर हिन्दीभाषा में लगभग ३० सहस्रपृष्ठ लिखे जाचुके हैं। परन्तु आर्थिक समस्या की जटिलता से अबतक यह साहित्य अप्रकाशित ही पड़ा हुआ है।

कुछ समय पूर्व बम्बई के सुविख्यात नामा 'पित्ती वंशज' राजा साहब **श्रीमुकुन्दलालजी** महोदय 'पित्ती' एवं माननीया वयोवृद्धा **लेडी लक्ष्मी बाई जगमोहनदास वरजीवनदास** के सदुद्योग से इस सम्बन्ध में कुछ प्रयास हुआ था। परन्तु कई कारणों से वह कार्य सर्वात्मना पूर्ण न होसका। फिर भी जो कुछ हुआ है, उसी के फलस्वरूप यह '**उपनिषद्भाष्य**' पाठकों के सामनें उपस्थित होरहा है। हमारा विश्वास है कि यदि हम समाज की सेवा करसके तो वह अवश्य इस साहित्य के महाआयोजन को सफल बनावेगा।

पहिले उपनिषद्भाष्य एक साथही प्रकाशित करनें का विचार था, परन्तु पृष्ठसंख्या लगभग ८०० होजानें से इसे दो खंड में विभक्त करना पड़ा। प्रथमखंड प्रकाशित होगया है, दूसरे खंड के प्रकाशन का आयोजन होरहा है। दूसरे खंड के साथ साथ समस्त उपनिषदों की '**उपनिद्भाष्यभूमिका**' नाम की लग भग २०० पृष्ठ की एक स्वतन्त्र भूमिका भी प्रकाशित होरही है। इस भाष्य में क्या विशेषता है, यह यहां बतलानें का अवसर नहीं है। इस की उपादेयता-अनुपादेयता का भार विचारशील पाठकों पर ही निर्भर है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से केवल यही निवेदन करना चाहते हैं कि पाठक महोदय एक बार इसे अथ से इति तक पढ़ने का कष्ट अवश्य करें। साथ ही में यह बतलादेना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि भाष्य में जो विचार प्रकट किए हैं, हम तो इनके सम्बन्ध में केवल निमित्तमात्र हैं। पूज्य ओझाजी के चरणों में बैठकर अब तक जो श्रवण किया है, उसमें से जितना अंश हम स्थिर रख सके हैं, वही भाष्यरूप से उपस्थित किया गया है। यदि हमारे इस प्रथम प्रयास को पाठकों नें अपनाया तो शीघ्र ही आगे के उपनिषद्भाष्य भी सेवा में उपस्थित किए जांयगे।

यद्यपि विक्रमसम्वत् १९९० में ही यह ग्रन्थ सपन्न होगया था, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण अबतक इस का प्रकाशन न होसका। वेदप्रेमियों को विदित है कि लगभग ४-५ वर्षों से हम **शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य** का मासिकरूप से प्रकाशन कर रहे हैं। इस कार्य में हमें अबतक लगभग २ सहस्र का घाटा उठाना पड़ा है। इन्हीं सब विषम समस्याओं

के कारण जिस नियम से, जिस उपादेय सामग्री से प्रकाशन होना चाहिए था, वह कुछ न होसका। इस सम्बन्ध में हम उक्त राजासाहब श्रीमुकुन्दलालजी पित्ती, एवं माननीया श्री लेडी लक्ष्मी बाई महोदया को हार्दिक धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकते, जिन के आयोजन से हम इस साहित्य के प्रकाशन की आंशिक व्यवस्था करनें में समर्थ होसके हैं। इन्हीं साहित्य सेवियों के द्वारा प्राप्त उत्साह से उत्साहित बनकर आज हम अपना यह प्रथम प्रयास पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। इस के साथ साथ ही शतपथ के प्रकाशन का भी आयोजन होगया है। पहिले इसका मासिक रूप से प्रकाशन होता था, अब इसे त्रैमासिक करदिया है। आशा है वेदप्रेमी आर्यजाति के सर्वस्वभूत इस वैदिक साहित्य के प्रचार में पूर्ण सहयोग देगें।

प्रीयतामनेनात्मदेवतेति-शम्

विद्वद्भिर्विधेयः—

फाल्गुनकृष्णा १३ शिवरात्रिः
वि० सं० १९९०

मोतीलालशर्मा, भारद्वाजः
जयपुरराजधानी.

॥ श्रीः ॥

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड की

विषयसूची

प्राक्कथन समाप्त

षोडशीवैभव

पुरुषात्माधिकरण (अमृतात्मा)

२९—२३४ पर्यन्त

विषयप्रवेश २९—३८

विषयप्रवेश समाप्त

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

३८—१०४ पर्यन्त

भोगतन्त्र में राजनीति

४०—४४ पर्यन्त

भोगतन्त्र में धर्मनीति

४५—४६ पर्यन्त

भोगतन्त्र में विज्ञाननीति

४७—१०४ पर्यन्त

विज्ञानीति में प्रवर्ग्यविद्या

५९—७१ पर्यन्त

भोगतन्त्र में विज्ञाननीति
(प्रक्रान्त)

विषयोपसंहार

कर्तृतन्त्र में धर्मनीति

१२४—१४३ पर्यन्त

विषयोपसंहार

कर्तृतन्त्र में विज्ञाननीति

१४४---१५८ पर्यन्त

आवरणतन्त्र में धर्मनीति

१७५—१७८ पर्यन्त

विषयोपसंहार

आवरणतन्त्र में विज्ञाननीति

१७९—१९४ पर्यन्त

विषयोपसंहार

तृतीयमन्त्रभाष्यसमाप्त

मन-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता

१९५—२२७ पर्यन्त

प्रकरणोपसंहार

२२८—२३४

विषयोपसंहार

—:०*०:—

मन्त्रयात्मकपुरुषात्माधिकरण

समाप्त

१

—:०*०:—

प्राकृतात्माधिकरण—२

२३५ से ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्त

प्राकृतात्माधिकरण में— अव्यक्तात्माधिकरण

विषयोपक्रम

२३५—२४२ पर्यन्त

विषय — पृष्ठसंख्या

अव्यक्तात्माधिकरण में चतुष्पाद्ब्रह्म का निरूपण

२४३—३७८ पर्यन्त

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपण में अमृतात्मसंस्थाधिकार

१

२४३—२८९ पर्यन्त

अमृतात्मसंस्थाधिकार में निर्विशेषनिरुक्ति

२४५—२५४ पर्यन्त

विषय — पृष्ठसंख्या

अमृतात्मसंस्थाधिरण में परात्परनिरुक्ति

२५५–२६४ पर्यन्त

उपसंहार

असृतात्मसंस्थाधिकारमें षोडशीपुरुष

२६५—२८६ पर्यन्त

उपसंहार

अमृतात्मसंस्थाधिकार

समाप्त

१

चतुष्पादब्रह्म निरूपण में
ब्रह्माधिकार
१
२८७—३३० पर्यन्त

विषयोपसंहार

ब्रह्मसंस्थाधिकार समाप्त

१

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपण में शुक्राधिकार

३

३३१—३४६ पर्यन्त

विषयोपसंहार

शुक्रसंस्थाधिकार समाप्त

३

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपण में विश्वाधिकार

४

३४७—३८० पर्यन्त

प्रकरणोपसंहार

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणाधिकारः समाप्तः

अव्यक्ताधिकरणमें वेदनिरुक्ति

३८१……पर्यन्त

प्रथमखण्डसमाप्त

१

॥ ॐ तत् सद् ब्रह्मणे नमः ॥

निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ॥
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ १ ॥

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ॥
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' ॥२॥

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में, एवं स्तोतृगणों में) विराजिए। क्योंकि (विद्वान् लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं। अपिच आपके बिना दूरका अथवा समीपका कोई भी कार्य नहीं किया जासकता। (इस लिए सभी कार्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है।) हे महनीय गणपते ! त्रिवृत्–पञ्चदश–सप्तदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानोंकी दृष्टिमें आदरणीय जो हमारा स्तोम (कार्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करनेकी कृपा करें ॥ १ ॥ "ऋक्सं० १२।१०।११३।९"

२—एकही अग्नितत्व (छन्दोभेदके कारण) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण, आवसथ्य, सभ्य, धिष्ण्या, आमात्, क्रव्याद्. आदि अनेक रूपोंसे प्रज्वलित होरहा है। एकही सूर्य विश्वोपलक्षित चराचर जगत में विभूति सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानामात्रोंमें परिणत होरहा है। तीस योजन पर्यन्त अपनी व्याप्ति रखनेवाली, सूर्य्य से ३० योजन पश्चिमकी ओर अपनी स्थिति रखनेवाली, उषाकालकी अधिष्ठात्री एकही उषादेवी उदयबिन्दु के भेदसे नाना रूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित होरही है। नाना भेद भिन्न यह सारा प्रपञ्च एकही ब्रह्मका वैभव है। एकही ब्रह्मतत्त्व उपाधि भेदसे अनेकरूप धारण कर सर्वत्र विभूति सम्बन्ध से व्याप्त होरहा है ॥ २ ॥ "ऋक् सं० ६।४.२९"

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ॥
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणं प्रपद्ये ॥ ३ ॥

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ॥
'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥ ४ ॥

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ॥
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥ ५ ॥

१—जो औपनिषत् पुरुष (सृष्टिकामनासे) सर्वप्रथम प्रतिष्ठा लक्षण चतुर्मुख ब्रह्माको उत्पन्न करताहै, जो वेदान्त पुरुष ब्रह्माके लिए (सृष्टिसाधनभूत) वेदोंको अर्पित करताहै, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाशस्वरूप उसी देवकी मैं मुमुक्षु शरणमें जाताहूं ॥ ३ ॥ " श्वेताश्वतर उप० ६।१८० "

२—वसु-रुद्र-आदित्य भेदाभिन्न ३३ सौ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, मन्त्रदेवता, अभिमानीदेवता, पुरुषविध चेतन प्राणिदेवता, आदि सभी देवता एकमात्र वाक् तत्वको आधार मान कर ही जीवितहैं। २७ गन्धर्व, ५ पशु, मनुष्य सब वाक् को प्रतिष्ठा बना कर ही स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठितहैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः, सत्यम—यह सारे भुवन (लोक) वाक् में ही समर्पितहैं। (इस प्रकार जो वाक्तत्व सर्वत्रव्याप्त होरहा है।) इन्द्रपत्नी नामसे प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस वाक् यज्ञमें) हमारी पुकार सुनें ॥४॥ "तै० ब्रा० २।८।८।५"

३—"अक्षरमिति (अ-क्ष-रम्-इति) त्र्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" " एकाक्षरा वै वाक् " (ताण्ड्य ब्रा० ४।४।२) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार वाग् रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ऋततत्वसे सर्वप्रथम उत्पन्न हुआहै। अतएव यह वाक् ऋतकी 'प्रथमजा' कहलाती है। यही वाक् अनन्त वेदोंकी माताहै। अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाक् यज्ञमें पधारें। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी हमारी प्रार्थना सुनें ॥ ५ ॥ "तै० ब्रा० २।८।८"

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो 'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥६॥
ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ॥
सर्वस्यै वाच ईशाना 'चारुमामिह वादयत्' ॥ ७ ॥

विश्वदृष्टि से अनेककल, विश्वात्मदृष्टिसे त्रिकल, एवं विश्वातीतदृष्टिसे निष्कल, जिस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्वमें पांच प्राण नित्य प्रतिष्ठित रहतेहैं, एवं पञ्चप्राणोपेत जो ब्रह्मतत्व अपने सृष्टरूपमें प्रविष्ट होता हुआ विश्वात्मा बनकर सम्पूर्ण विश्वका संचालन करता हुआ 'ईश' नामसे प्रसिद्ध होरहाहै, उसी विश्वव्यापक किंवा सर्वव्यापक, सर्वधर्म्मोपपन्न सगुणमूर्त्ति ईशका स्मरण करते हुए 'ईशोपनिषत्' का विज्ञानभाष्य प्रारम्भ किया जाताहै। यह उपनिषत् ईश

१—षोडशीपुरुष नामसे प्रसिद्ध जिस आत्मतत्वमें प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद यह पांच प्राण नित्य समाविष्ट रहतेहैं, दूसरे शब्दोंमें एक ही प्राणतत्व उपरोक्त पांच स्वरूप धारण कर (पंचधा विभक्त होकर) जिसमें प्रविष्ट होगयाहै, वह अणु आत्मा चित्तद्वारा पहिचानना चाहिए। प्राणसूत्रके द्वारा जिसमें सारी प्रजाओं का चित्त प्रोत होरहाहै, अर्थात् जो सबका हृदय है, उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए। बुद्धियोगद्वारा विशुद्धचेता पुरुषका यह आत्मतत्व अपने विभूतिभावमें आजाताहै। अपने व्यापक स्वरूपमें परिणत होजाता है ॥ ६ ॥ "मुण्डकोपनिषत् ३—२—९"।

---

२ उपनिषदोंके आद्यन्तमें मंगल पाठ क्यों किया जताहै? उपनिषत् शब्दका क्या अर्थहै? औपनिषत् ज्ञानका अधिकारी कौनहै? ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्–इन तीनोंमें परस्पर क्या सम्बन्धहै? उपनिषदोंमें क्याहै? क्या उपनिषत् वेदहैं? उपनिषत् हमें क्या सिखातीहैं? औपनिषद् ज्ञानके प्रवर्त्तक कौनथे? क्या एकेश्वर वादका उपनिषत्कालसे सम्बन्धहै? विज्ञानभाष्यकी आवश्यकता क्यों हुई? उपनिषत् विभिन्न अर्थका ही निरूपण करतीहैं, अथवा प्रतिपाद्य विषय भिन्न भिन्न है? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिए हमारा लिखा हुआ "उपनिषदोंकी भूमिका" नामका निबन्ध देखना चाहिए। इस भूमिकासे प्रायः सभी उपनिषदोंका तात्पर्यार्थ विदित होजाता है। औपनिषद्ज्ञानके जिज्ञासुओंको परिभाषाओंसे परिचय प्राप्त करनेके लिए विज्ञानभाष्यके साथ साथ भूमिकाभागका भी संग्रह करना चाहिए। पृष्ठसंख्या अधिक (प्रायः २००) होनेसे उसका प्रकाशन स्वतन्त्र रूपसे ही हुआ है। लेखक......

की ही उपनिषत् बतलाती है। नित्यसिद्ध विज्ञानसिद्धान्तको ही 'उपनिषत्' कहते हैं। जिस मौलिक सिद्धान्तके आधार पर हमारा मन श्रद्धासूत्र द्वारा प्राप्तव्यतत्वके समीप निश्चयरूपसे बैठ-जाताहै, दूसरे शब्दोंमें जिस तत्वके परिज्ञानसे हमारा आत्मा उस प्राप्तव्यकी ओर झुकजाता है, वही उस कर्म्मकी उपनिषत् है। इन सब विषयोंका भूमिका प्रकरणमें विस्तारसे निरूपण किया जाचुकाहै। अतः प्रकृतमें पिष्टपेषणकी आवश्यकता नहीं है। प्रकृतमें केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि उपनिषत् पुस्तकका नाम नहीं है, अपितु विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषत् है। क्योंकि इसी विज्ञासिद्धान्तके आधार पर हमारा आत्मा उस विज्ञानघनके साथ सामीप्यभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होताहै। बात यथार्थ है। यदि किसी विषयका हमें विज्ञानसिद्धान्त मालुम होजाताहै, दूसरे शब्दोंमें यदि उस विषयकी उपपत्ति (मौलिकरहस्य) हम जानलेतेहैं तो सुतरां उसकी ओर हम आकर्षित होजातेहैं। यज्ञोपवीत क्यों पहिनना चाहिए? इस क्यों का सम्यक् समाधान कनेवाला विज्ञानरहस्य ही यज्ञोपवीतकी उपनिषत् हैं। जिसके लिए पाश्चात्य भाषामें 'प्रिन्सपल' शब्द प्रयुक्त हुआहै, यावनीभाषा जिसे 'उसूल' कहती है, वही हमारी 'उपनिषत्' है। इसी परिभाषा के अनुसार सर्वशास्ता ईशकी उपनिषत् बतलाने वाली हमारी उपनिषत् '**ईशोपनिषत्**' नाम से प्रसिद्ध होरही है। वस्तुतः शाखाप्रणालीकी अपेक्षा से इसका नाम '**वाजसनेयोपनिषत्**' समझना चाहिए। यजुर्वेदकी १०१ शाखाओं में से एक शाखा '**वाजसनेय**' नामसे प्रसिद्ध है। यह उपनिषत् वाजसनेय वेदका अन्तिम भागहै। अतः इसका उपरोक्त नामही न्यायप्राप्त है।

उपलब्ध होनेवाली उपनिषदोंमें आजदिन पहिला स्थान इसी उपनिषत् को दियाजाता है। इसका क्या कारण? क्यों इसे पहिली उपनिषत् माना गया? इसके उत्तरमें हम यही कहेंगे कि उपनिषत् वास्तव में वेदका ही एक प्रधान अङ्ग है, उपनिषत् वेद ही है, इस वेद भावको प्रकट करनेके लिए ही ऋषिने इसे पहिला स्थान दियाहैं। अपनी अल्पज्ञताके कारण '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' (आपस्तम्ब श्रौ० सू० २४।१।३१), '**मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते**' (बोधायन गृह्यसूत्र ३।६।२) '**आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च**' (कौशिक सूत्र १।३) इत्यादि श्रौतस्मार्त सिद्धान्तोंकी अवहेलना कर जो महानुभाव विधिभाग (ब्राह्मण),

आरण्यक भाग एवं उपनिषत् भागको साक्षात् वेद न मान कर केवल वेदकी व्याख्या मानने का अनुचित साहस करते हैं, वे भी उपलब्ध यजुर्वेद संहिता को अवश्य ही वेद मानतेहैं। यजुर्वेद संहिता के ४० वें अध्याय का ही नाम 'ईशोपनिषत्' है, यह भी सुविदित है। साथही ४० वां अध्याय आजदिन उपनिषत् सम्प्रदायमें 'ईशोपनिषत्' नामसे प्रसिद्धहै, इसमें भी किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। बस उपनिषत् साक्षात् वेद है, इस सनातन सिद्धान्तको दृढ़मूल करनेके लिए ही संहिताभागभूत ईशोपनिषत् को उपनिषत् गणनामें पहिला स्थान मिला है।

अपिच—भूमिकाभागमें यह विस्तारसे बतलाया जाचुका है, कि सभी उपनिषदोंमें प्रधान रूपसे 'अध्यात्मतत्व' का निरूपण किया गया है। दूसरे शब्दोंमें उपनिषदोंमें प्रधान रूपसे जीवात्माका ही निरूपणहै। प्रज्ञापराधके कारण नित्यशुद्ध–नित्यबुद्ध–नित्यमुक्त ईश्वरके अंशभूत अतएव तद्रूप जीवात्मा पर अविद्या–अस्मिता–रागद्वेष–अभिनिवेश इन अविद्यामूलक दोषोंका आक्रमण होताहै। इससे शुद्ध भी जीवात्मा मेघावृत सूर्यके समान तमसे आवृत होजाताहै। सभी उपनिषत् इन आवरणमूलक अविद्याभावोंको दूर करनेका उपाय बतलातेहैं। उन उपायों के द्वारा जीवात्मा अपने आगन्तुक दोषोंको हटाकर निर्धूत किल्विष होता हुआ—

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम" ॥

(कठोपनिषत् ४।१५.)

इस सिद्धान्तके अनुसार उस कारणभूत शुद्धव्यापक तत्वमें लीन होजाताहै। ईश तत्व सर्वज्ञहै, सर्वशक्तिहै, सर्ववित्है। तदंशभूत जीव अल्पज्ञहै, अल्पशक्ति है, नियतार्थवित् है। "यो वै भूमा तत् सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्" (छां० उप० ७।२३।१) "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते–अथ तस्य भयं भवति" (तै० उ० ७।१) इत्यादिके अनुसार अपने भूमाभावसे पृथक् होनेवाला जीवात्मा दुःख पाया करता है। इस दुःखसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपायहै—अद्वैतमूर्त्ति—सदैकरस भूमास्वरूप

ईश्वरतत्वको प्राप्त कर द्वैतभावसे अलग होना। जीवात्मा क्यों उसे प्राप्त करने का कठिन प्रयास करे ? इसकी उपनिषत् वही ईशहै। ईश तत्व स्वयं वैसाहै—अतः जीवात्मा को अवश्य ही उसकी आराधना करनी चाहिए।

"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (यजुः ३१।१८) के अनुसार मृत्युरूप, अतएव भयस्वरूप, अतएव च सर्वथा हेय विश्वबन्धन को तोड़नेके लिए मुमुक्षु को अवश्यही उसकी ओर झुकना चाहिए। इसके अतिरिक्त बन्धन तोडनेका कोई साधन नहीं है। प्रश्न होताहै कि जिसे हम आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिके लिए प्राप्त करना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या है ? बस जो ग्रन्थ इस प्रश्नका समाधान करता है, दूसरे शब्दो में जिसमें ईशकी उपनिषत् का निरूपण है वही हमारी 'ईशोपनिषत्' है। जीवोपनिषत्के परिज्ञानसे पहिले जीवात्माकी प्रतिष्ठारूप ईशोपनिषत् को जानना पहिला एवं मुख्य कर्तव्य है। जिस सुस्वादुफलका मनुष्य रसास्वादन करना चाहताहै, उस फलकी ओर प्रवृत्ति करानेके लिए पहिले फलका स्वरूप उसके सामने रक्खाजाता है। अनन्तर उसे प्राप्त करनेकी योग्यता उस मनुष्य में उत्पन्न कराई जातीहै। मूलके आधारसे ही शाखादि पर आरोहण किया जासकताहै। ईश जीवात्मा का मूलहै। जीवप्रपञ्च उस मूलका तूलहै। तूलसे पहिले मूलज्ञान अपेक्षितहै। इसी रहस्यको लक्ष्यमें रखकर ईशकी उपनिषत् बतलाने वाली ईशोपनिषत् को पहिला स्थान दिया गया है। ईश्वर पूर्णेन्द्र है, जीव अर्द्धेन्द्रहै। अतएव पूर्णेन्द्रका स्वरूप बतलानेवाली प्रकृत उपनिषत् को हम **'पूर्णोपनिषत्'** भी कहसकते हैं। इसप्रकार इसे **"ईशोपनिषत्"** 'वाजसनेयोपनिषत्' 'मूलोपनिषत्', 'पूर्णोपनिषत्', 'सर्वोपनिषत्' आदि विविध नामों से व्यवहृत किया जासकता है। उपरोक्त सनातनमर्य्यादा का अनुगमन करते हुए हम भी पहिले 'ईशोपनिषत्' का ही स्वरूप उपनिषत् प्रेमी पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं।

कला प्रेमियों की कृपा से प्रकाशमें आए हुए जितनें भी उपनिषद् ग्रन्थ आजदिन उपलब्ध होतेहैं, उनमें विषय विभागका सर्वथा अभावहै। इस विप्रतिपत्तिका, जहांतक हम ठीक समझते हैं, यही कारण प्रतीत होता है कि सभी उपनिषदों को प्राचीन आचार्योंने

एकमात्र अखण्ड आत्माका प्रतिपादक माना है । उनकी दृष्टिमें उपनिषदोंमें, अद्वैतमूलक मायातीत रसस्वरूप शुद्ध निर्विशेषका ही निरूपण है । अस्तु इन विषयोंका विषद निरूपण भूमिका भागके 'उपनिषदों में क्या है' ? इस प्रश्नके समाधानमें किया जाचुका है । यहां हमें केवल यही बतलाना है कि—हमारे तुच्छ विचार से सभी उपनिषत् निर्धर्म्मक–निष्कल–निरञ्जन–द्वैतातीत–विश्वातीत अतएव वाङ्मनस पथातीत, अतएव च सर्वथा शास्त्रानधिकृत 'नेति–नेति' शब्दसे उपवर्णित किसी अगम्य तत्वका निरूपण न कर (जिसका कि निरूपण करना यत्किञ्चित् पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में अपनी शक्ति रखनेवाले शब्दशास्त्र के सामर्थ्य के बाहरकी बात है) भिन्न भिन्न सखण्ड आत्माओं का ही निरूपणकरतीं हैं । गूढोत्मा–अव्य-क्तात्मा–महानात्मा–विज्ञानात्मा–प्रज्ञानात्मा—प्राज्ञात्मा–तैजसात्मा—वैश्वानरात्मा–यज्ञात्मा–भूता-त्मा–हंसात्मा आदि भेदसे अध्यात्मजगत्में अनेक सखण्डात्माओं का समावेशहै । जीवात्मा एक आत्मा नहीं अपितु वनस्पतियोंकी तरह 'आत्मग्राम' है । किसी उपनिषत् में गूढोत्माका निरूपण है । किसीमें प्रज्ञानात्मा की प्रधानता है । कोई महानात्माको प्रधान मान कर ही आगे चलता है, जैसा कि भूमिकाभागमें स्पष्ट करदिया गया है ।

जब कि निरूपणीय विषयोंका भेद है, तो ऐसी अवस्थामें सभी उपनिषदोंमें विषय विभाग सर्वथा अपेक्षित होजाताहै । इसलिए उपनिषदर्थनिरूपण से पहिले हम विषय विभाग ही उपन्यस्त करेंगे ।

पूर्वोक्त परिभाषाके अनुसार इस उपनिषत् में 'ईश' का निरूपण है । सप्तवितस्तिका-यात्मक सर्वेश्वरके उदरमें सभी खण्डात्माओं का समावेशहै । उन खण्डात्माओं की जिस क्रम से उसमें स्थिति है, उसी क्रमसे उनका निरूपण कियागया है, जैसा कि विषयविभाग से स्पष्ट होजायगा । आगे आनेवालीं खण्डात्मप्रतिपादिका सभी उपनिषदोंका इस उपनिषत् में संक्षेपसे निदर्शन है । इसी सर्वभावको लक्ष्यमें रखकर हमने इसे 'सर्वोपनिषत्' कहा है । खण्डात्मगर्भित ईशके अंशभूत जीवात्मा में उन खण्डात्माओं का ज्योंका त्यों समावेश है । अध्यात्मस्थ खण्डात्माओं के मूल–ईश्वरस्थ खण्डात्मा हैं । प्रकृत उपनिषत् में उन्हीं मूलतत्वोंका

निरूपण है। अतएव हमने इसे 'मूलोपनिषत्' नाम से व्यवहृत किया है। हमारा विश्वास है, कि यदि आपने इस उपनिषत् को यथावत् हृदयङ्गम कर लिया तो आगेकी सारी उपनिषदें गतार्थ होजांयगीं। इसमें जिन विषयों का संक्षिप्त निरूपण है, आगे की उपनिषदों में उन्हीं का उपबृंहण है। आगेकी उपनिषदें भिन्न भिन्न अर्थों का निरूपण करतीं हुई परस्परमें सर्वथा भिन्न हैं, परन्तु यह उपनिषत् सर्वोपनिषत् होने से सबके लिए अभिन्न है · समान है। जो यहां है, वह अन्यत्र है। जो यहां नहीं, वह अन्यत्र नहीं।

उपनिषदर्थ को सामने रखते हुए यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उपनिषदों ने संचर प्रतिसंचर भावों को प्रधान मानते हुए ही स्व स्व विषयका निरूपण किया है। एक तत्वको मूल मानकर अनेक की ओर आना संचर पक्ष है। इस पक्षमें एकत्व उद्देश्य है, अनेकत्व विधेय है। ठीक इसके विरीत अनेक भावों को लक्ष्य बना कर अन्ततोगत्वा एक तत्व पर विश्राम करना 'प्रतिसंचर' पक्ष है। इस पक्ष में अनेकत्व उद्देश्य है, एकत्व विधेय है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' यह नैगमिक वचन संचर पक्ष का निरूपण करता है "ब्रह्मही सब कुछ बना है"—इसमें 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस वचन के अनुसार ब्रह्मतत्व सजातीय–विजातीय स्वगत भेद से रहित होता हुआ एक है। वही एक 'एकं वा इदं विबभूवसर्वम्' इस ऋक् श्रुति के अनुसार सब कुछ बन गया है अर्थात् एकहीने नानारूप धारण करलिया है। यही संचर पक्ष है। एवं-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह महा वाक्य प्रतिसंचर पक्ष का अनुगामी है। 'यह सबकुछ दृश्यमान प्रपञ्च वही ब्रह्म है' इससे अनेक पर एकत्वका स्थापन है। यही प्रतिसंचरपक्षहै। एक ब्रह्म से नानाभावोपेत विश्व कैसे बनजाताहै? इसका उत्तर संचरविद्या है। अनेक भावोपेत विश्व अन्ततः एक भावमें कैसे परिणत होजाता है? इसका उत्तर 'प्रतिसंचर' विद्या है। संचरमें विश्वकी प्रधानता है। अतएव यह विश्वविद्या किंवा क्षरविद्या है। क्यों कि भौतिक प्रपञ्च का ही नाम विश्व है। एवं 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इस स्मृति के अनुसार क्षरतत्व ही भूतसङ्घ है। प्रतिसंचरमें ब्रह्मकी प्रधानताहै। अतएव यह ब्रह्मविद्या किंवा अक्षरविद्याहै। सर्वथा विभिन्न भौतिक परमाणुओं पर एकत्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाला साक्षीभूत अक्षर ही है। इसीलिए स्मृतिने 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गीता) यह कहा है।

यही दोनों विद्याएं उपनिषदोंमें क्रमशः पराविद्या—अपराविद्या नामसे व्यवहृत हुई हैं। संचरमूला विश्वविद्या किंवा क्षरविद्या, अपराविद्याहै। प्रतिसंचरमूला ब्रह्मविद्या किंवा अक्षरविद्या पराविद्याहै। इन्हीं दोनों भावोंको लक्ष्यमें रखकर उपनिषत् कहती है—

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो-
वदन्ति—पराचैव, अपरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो-
यजुर्वेदः०। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" ॥

(मुण्डकोपनिषत् १।१।४ ५) इति।

विश्वस्वरूप क्षरतत्व मरणधर्म्मा है। ब्रह्मस्वरूप अक्षरतत्व नित्यहै। कारण स्वरूप एकत्वभाव अमृत मूलकहै। अनेकत्व मृत्यु निबन्धनहै। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठ०) के नुसार नानाभाव ही मृत्युका स्वरूपलक्षणहै। उपरोक्त कथनानुसार वही अमृत है, वही मृत्युहै। विश्वावस्था मृत्यु है, विश्वातीतावस्था अमृतहै कार्यावस्था मृत्युहै, कारणावस्था अमृतहै। दोनों हीं अक्षर हैं दोनों ही क्षरहैं। एक अविद्यामूर्त्तिहै, एक विद्यामूर्त्तिहै। इसी रहस्यका निरूपण करते हुए महर्षि श्वेताश्वर कहतेहैं—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहते यत्र गूढे।
क्षरंत्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेता० उप० ५ अ० १ मं०)

उपरोक्त मन्त्रमें 'यस्तु सोऽन्यः' से अव्यय पुरुषकी ओर संकेत कियाजाताहै, जो कि अव्यय पुरुष कारण—कार्य दोनों अवस्थाओं से पृथक् रहता हुआ, अतएव संचर प्रतिसंचर क्रमसे असंश्लिष्ट रहता हुआ आलम्बन रूपसे प्रतिष्ठित रहताहै।

संचर आगति पक्ष है, प्रतिसंचर गतिपक्ष है। पुराणभाषा के अनुसार सर्ग (सृष्टि) संचरपक्ष है, प्रतिसर्ग (प्रलय) प्रतिसंचर पक्षहै। दर्शनभाषा के अनुसार विज्ञान संचर पक्षहै,

ज्ञान प्रतिसंचर पक्ष है । उपनिषत् भाषा के अनुसार संभूति संचरपक्षहै, विनाश प्रतिसंचर पक्षहै। यज्ञभाषाके अनुसार आदान संचर पक्षहै, विसर्ग प्रतिसंचर पक्षहै। व्यवहारभाषाके अनुसार ग्रहण संचर पक्षहै, परित्याग प्रतिसंचर पक्षहै। साधारण भाषाके अनुसार आगति संचरपक्ष है, गति प्रतिसंचर पक्षहै । खूब सोचिए. खूब ढूंढिए, सर्वत्र उपरोक्त इन्हीं दो भावों का साम्राज्य मिलेगा। यदि आपने आत्मब्रह्म के इन दोनों रहस्यों को यथावत् जानलिया तो सबकुछ जानलिया । फिर सर्वज्ञता में बाकी क्या बचताहै । इसी संचर प्रतिसंचर रहस्य का निरूपण करते हुए पुरुषोत्तम कहते हैं—

> **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।**
> **यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥** (गीता० ७-२)

क्षरप्रपञ्च				अक्षरप्रपञ्च
१ अविद्या	मनःप्राणवाङ्मयोऽव्ययपुरुषः क्षरालम्बनम्	आनन्द-विज्ञानमनःप्राणवाङ्मयोऽव्यय-पुरुषः सर्वालम्बनम्	आनन्द-विज्ञान-मनोमयोऽव्ययपुरुषोऽक्षरालम्बनम्	विद्या
२ मृत्युः				अमृतम्
३ असत्				सत्
४ तमः				ज्योतिः
५ संचरः				प्रतिसंचरः
६ सर्गः				प्रतिसर्गः
७ विज्ञानम्				ज्ञानम्
८ सम्भूतिः				विनाशः
९ ग्रहणम्				परित्यागः
१० आगतिः				गतिः

हृद्ग्रन्थिबन्धनम् — विश्वम्

हृद्ग्रन्थिविमोकः — ब्रह्म

उपनिषदोंने इन्हीं उपरोक्त दोनों पक्षोंका आश्रय लियाहै। कहीं संचर पक्षको उपक्रम मानकर प्रतिसंचर पक्ष पर उपसंहार कियाहै, कहीं प्रतिसंचरको उपक्रम मानकर संचर पर उपसंहार किया है। कहीं दोनों ही भावोंका समावेश है। जैसाकि तत्तदुपनिषदों में स्पष्ट होजायगा।

प्रकृत उपनिषद्में उपरोक्त दोनों पक्षोंमें से संचरपक्षको ही प्रधानता दी गई है। एकत्व भावापन्न ब्रह्मको उपक्रम मानकर क्रमशः विश्वसंस्थाओं की ओर जाते हुए पृथ्वी पर उपसंहार कियागया है, जैसाकि निम्नलिखित विषयविभाग से स्पष्ट होजाता है।

विषयविभाग प्रदर्शन

अथ

वाजसनेयोपनिषत्

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ओं शान्तिः। शान्तिः॥ शान्तिः॥।

अमृतात्मनि द्विविधसत्यात्मनिरुक्तिरीशोपनिषत्

तत्राद्ये ब्रह्मसत्याक्षरे षडात्मानः

१—विद्याकर्म्ममयः पुरुषो गूढात्मा="अमृतात्मा"

१ ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्॥
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

२ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥२॥
३ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ॥
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

२—ब्रह्मसत्याक्षरः "स्वयम्भूः" अव्यक्तं वा "सत्यात्मा"

१ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

संसर्गः

अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्—

१ तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ॥
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥५॥
२ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्याति ॥
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते ॥६॥
३ यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि-आत्मैवाभूद् विजानतः ॥
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

३- ब्रह्मसत्याक्षरः "परमेष्ठी" "महान्" वा सत्यात्मा ।

१ स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यधाच्छाश्वतीभ्यःसमाभ्यः ॥८॥

४-ब्रह्मसत्याक्षरः "सूर्यः" "बुद्धि"र्वा-सत्यात्मा ।

१ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥
२ अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥ १० ॥
३ विद्यां चाविद्यांच यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

५-ब्रह्मसत्याक्षरः "चन्द्रः" "मनो" वा-सत्यात्मा । ४ ।

१ अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ १२ ॥
२ अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुमधीराणां ये न स्तद् विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

३ संभूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

६—देवसत्यात्तरो वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञो वा—

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञो वा त्रिकलः सत्यात्मा ।

१ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥ १५ ॥
२ पूषन्नेकर्षे यम-सूर्य-प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।
समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥ १६ ॥
३ वायुरनिलममृतम्…………………… ॥ १७ ॥

७—ब्रह्मसत्यात्तरः "पृथवी" शरीर—हंस—कर्म्मात्मा वा सत्यात्मा ।

१ ……………………अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
क्रतो स्मर, कृतं स्मर । क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥ १८ ॥

८—उभयोः सत्यात्मनोरग्निना सह—ऐकात्म्यम् ।

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१९॥

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

उपनिषत् वेदका अन्तिम भाग है । अतएव यह 'वेदान्त' नामसे प्रसिद्ध है । उपनिषत् से पहिले क्रमशः आरण्यक, ब्राह्मण, संहिता, यह तीन विभाग और हैं । संहिताभाग 'मन्त्र' नामसे प्रसिद्ध है, एवं ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, इन तीनोंकी समष्टि 'ब्राह्मण' नामसे व्यवहृत होती है । उपनिषत् ज्ञानकाण्ड है, आरण्यक उपासनाकाण्ड है, एवं ब्राह्मण कर्म-काण्ड है । इन तीनों मूलभूत संहिताभाग में क्रमशः विज्ञान, स्तुति, इतिहास, इन तीन काण्डों का समावेश है । मूलभूत संहिताभाग के उपबृंहणका ही नाम ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् है । ऐसी अवस्था में यह मानलेना पड़ता है कि ब्राह्मणादिमें भी कर्म्म—उपासना—ज्ञान इन अपने अपने प्रधान विषयों के साथ साथ विज्ञान, स्तुति, इतिहास इन तीनों काण्डोंका भी समावेश है ।

"अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ" (प्रश्नोपनिषत् ३ प्र०) "अथ हैनं सौर्य्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ" (प्रश्नोपनिषत् ४ प्र०) "त्रयो ह उद्गीथे कुशला बभूवुः" (छां० उ० ७।८ खं० १ कं०) "जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस" (छां० उ० ४ प्र० १ खं० १ कं०) इत्यादि रूपसे उपनिषदों में इतिहास का भी समावेश है ।

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" (छां० उ० ३।३।१) 'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो" देवानामसि वह्नितमः (प्र० उ० २।८) इत्यादि रूपसे स्तुतिकाण्ड का भी सम्बन्ध है ।

एवं तीसरे विज्ञानकाण्ड के विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं है। सर्वमूलभूत ब्रह्मविज्ञान का ही नाम 'उपनिषत्' है। यही तो उपनिषदोंका प्रधान निरूपणीय विषय है।

यही स्थिति आरण्यक की है—

"एतद्ब्रह्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः" (ऐत० आ० २।१।८।२)

"विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उवाच" (ऐत० आ० २।२।३.१)

इत्यादि रूपसे आरण्यक में इतिहास भी है। इसी प्रकार—

"उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्" (ऐत० आ० २।१.२) "पुरुष एवोक्थम्" (ऐत० आ० २ १।२) "अथातो रेतसः सृष्टिः" (ऐत० आ० २।१।३।१) "चत्वारः पुरुषा इति बाध्वः" (ऐत० आ० ३।२।३) इत्यादि रूपसे विज्ञान का भी निरूपणहै। एवं स्तुतिप्रधान, उपासनातत्व प्रतिपादक आरण्यकभाग से सम्बन्ध रखने वाले स्तुतिकाण्ड के विषयमें तो कुछ कहना ही नहीं है।

अब चलिए ब्राह्मणभाग की ओर—

"पवित्रं वा आपः" "मेध्या वा आपः" (शत० ब्रा० २।१।१) "प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवास" (शत० ब्रा० २।२.२।१) "संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः" (शत० ब्रा० १०।२।३।१) इत्यादि रूपसे ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टिविज्ञान का भी विशद निरूपण है। इसी प्रकार—ब्राह्मणोक्त तत्तत् कर्म सम्बन्धिनी देवताओं की स्तुतिका भी समावेश है। एवमेव—

"देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे" (शत० ब्रा० १।२।३।२४) इत्यादि रूपसे बड़े विस्तारके साथ इतिहासका भी निरूपणहै।

इस प्रकार स्तुति-विज्ञान-इतिहासरूप संहिताभाग के उपबृंहण स्वरूप ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् इन तीनोंमें ही यद्यपि स्तुति आदि तीनों विषयों का समावेश है; तथापि यह मानलेने में कोई आपत्ति नहीं कि—ब्राह्मणभागमें इतिहासकाण्ड की प्रधानता है। यहां विज्ञान एवं स्तुति दोनों काण्डोंका इतिहास मर्य्यादा से ही निरूपण है। इन इतिहासों में कितने ही शुद्ध वैज्ञानिक चरित्र हैं, एवं कितने ही मनुष्य चरित्र से सम्बन्ध रखते हैं।

इसीप्रकार आरण्यकमें स्तुतिकाण्डकी प्रधानता, एवं उपनिषदों में विज्ञानकाण्डकी प्रधानता है। इसी अभिप्राय से 'उपनिषदों की भूमिका' में हमनें नित्यसिद्ध विज्ञानसिद्धान्त को ही उपनिषत् शब्दका अच्छेदक माना है।

पूर्व निरूपणसे ब्राह्मणादि तीनों वेदभागों में इतिहासादि तीनों काण्डोंकी सत्ता सिद्ध हो जाती है, एवं इन तीनों काण्डों का मूल संहिताभाग है। ऐसी अवस्था में यह भलीभांति सिद्ध होजाता हैं, बिना संहिताभाग के जाने इतर वेदभाग का समन्वय करना नितान्त असम्भव ही है। यही अवस्था ब्राह्मणादिकी हैं। ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत् तीनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव एक के ज्ञानके लिए दूसरेकी सहायता लेना परम आवश्यक होजाता है। स्तुति और इतिहास का प्रकृतमे सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्धहै ज्ञान एवं विज्ञानका। विज्ञानगर्भित ज्ञान ही उपनिषदोंका प्रधान विषय है। विज्ञानमूलक नानाभावों से आत्माको हटाकर उसे एक नित्य अभिन्न तत्वकी ओर लेजाना ही उपनिषदों का परम पुरुषार्थहै। उपनिषदों में विज्ञानका निरूपण हैं अवश्य, परन्तु गौणरूपसे। प्रधानता ज्ञानपक्षकी ही है। साथ ही में यह भी ध्रुव सत्य है कि बिना ब्रह्मविज्ञान के ज्ञानप्राप्ति असम्भव है। ऐसी अवस्थामें यह आवश्यक होजाता है कि, उपनिषदर्थ परिज्ञानके लिए ब्राह्मणभागका, विशेषतः संहिताभागका आश्रय लिया जाय। इसी स्थिति को लक्ष्यमें रखकर उपनिषत् के अर्थ निरूपण से पहिले तत् सम्बन्धी *ब्रह्मविज्ञानका ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाताहैं।

'स एवेदं सर्वम्' (छां० ७ २५) 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (शत० ६।१।२।१२) 'तथाक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि-यन्ति' (मुण्डकोपनिषत्—१।१।१) इत्यादि ब्राह्मणोपनिषद्वचन ब्रह्मको ही विश्वका मूलकारण मानते हैं। इस ब्रह्ममूला सृष्टिविद्याके सम्बन्धमें–ब्रह्मका क्या स्वरूपहै? वह प्रजानिर्म्माण कैसे करताहैं? अर्थात् प्रजानिर्म्माणका प्रकार क्या है? किस आलम्बन

* ब्रह्मविज्ञानके लिए श्रीगुरुप्रणीत 'ब्रह्मसमन्वय' 'ब्रह्मचतुष्पदी' 'विज्ञानविद्युत्' आदि ग्रन्थ द्रष्टव्यहैं।

पर प्रतिष्ठित होकर बनाता है ? क्यों बनाताहै ? कब बनाताहै ? उत्पन्न विश्व एवं प्रजाका क्या स्वरूप है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं । इन सारे प्रश्नोंका समाधान करनेवाले उत्तरगर्भित निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सामने आतेहैं—

१—किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णान्महिना विश्वचक्षाः ॥

२—किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

३—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

१—(विश्वनिर्म्माण कालमें ईश्वर प्रजापतिका) अधिष्ठान (आलम्बन-प्रतिष्ठा-आधारभूमि) क्या था ? विश्वकी उपादान सामग्री क्या थी ? यदि विश्वका कोई आरम्भण (उपादान) था तो वह कैसा था ? जिस अधिष्ठान एवं आरम्भणसे विश्वचक्षा (सर्वद्रष्टा) विश्वकर्म्मा (सर्वकर्मा) प्रजापतिने भूमिको उत्पन्न करते हुए द्यौ को अपनी महिमा से बड़ी दूरतक फैलाया । उपादान कारणके लिए श्रुति में "आरभ्यते-अनेन" इस करण व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर "आरम्भण" शब्दप्रयुक्त हुआ है, एवं आलम्बनके लिए 'अधिष्ठान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। (ऋक्० सं० १०।६।८१।२) ।

२—वह ऐसा कौनसा महावन था ? उस महावन में ऐसा कौनसा महावृक्ष था ? जिसको काटकर द्यावा पृथिवीरूप संसार बनायागया । विद्वान् लोग अपने मनसे ही यह पूछें कि किस महावनके किस महावृक्षसे इस विश्वका निर्म्माण कर सम्पूर्ण विश्वको अपने में धारण करता हुआ प्रजापति उसपर प्रतिष्ठित होगया । (ऋक्० १०।६।८१।४) ।

३—सृष्टिविद्याके सम्बन्धमें विशेषज्ञान न रखनेवाला मैं इस विषयके विशेषज्ञ, पारङ्गत कवियोंको पूछता हूं । मैं स्वयं इस विषयसे अनभिज्ञहूं । इसे जाननेके लिए मेरा यह प्रश्न है । मैं यह जानना चाहता हूं कि जिसने भूः-भुवः-स्वः-महत्-जन-तपः इन ६ रजोंको (लोकोंको) अपनेमें बद्ध कर रक्खा है, उसका क्या स्वरूप है ? एवं इन सबको अपने निर्यतिचक्रमें बद्ध रखनेवाले उस अज (अविनाशी) का क्या कोई एक नियत स्वरूप है ? (ऋक्० सं० १।२२।१६४।६) ।

ब्रह्मसे सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, यह वेदाभिमत निश्चित सिद्धान्तहै। इस पर सृष्टितत्व वित् आप्त महर्षियों के पूर्वपक्ष चलते हैं। हम देखतेहैं कि लोकमें प्रजापति (कुम्भकार–कुह्मार) घट निर्म्माण करताहै। घटसृष्टि मनुष्य प्रजापतिकी सृष्टिहै। इस सृष्टिका विधाता कुम्भकार है। भूमण्डल इसका आधारहै। काष्ठदण्ड निमित्तकारण (असमवायिकारण) है। मिट्टी उपादानकारण (समवायिकारण) है। कुह्मार जमीन पर बैठकर स्वव्यापारसे घूमते हुए चक्र पर दण्ड द्वारा आपोमयी मिट्टीको घटरूपमें परिणत कर, सूत्रद्वारा चक्रसे पृथक् कर उसे नियत स्थान में परिपाकके लिए रखदेताहै। विना इन सब कारणों के घटकार्य कथमपि संभव नहीं है। कारण समुदायको कार्यके प्रति कारणता है। यही परिस्थिति महासृष्टिके सम्बन्ध में समझनी चाहिए। सृष्टि एक कार्य है। एवं 'यद्यत् कार्यं–तत्तत् कर्तृजन्यम्–कार्यत्वात् घटवत्' इस न्यायाभिमत सिद्धान्त के अनुसार सृष्टिकार्य का कोई कर्त्ता अवश्य है। यदि ऐसा है तो उस कर्त्ताका क्या स्वरूप है? वह किस पर बैठके सृष्टि बनाता है? उपादान द्रव्य क्या है? एवं किस व्यापारसे बनाताहै? यह जिज्ञासा होती है। यद्यपि परमार्थतः उस प्रजापतिकी दुर्बोध सृष्टिके विषय में ऐसे ऐसे कुतर्कोंका कोई मूल्य नहीं है। तथापि उपरोक्त प्रश्नोंका समुचित उत्तर न पानेसे ईश्वरसत्ता से विमुख होनेवाले नास्तिकों को सन्तुष्ट कर ईश्वरसत्ताको मनाने के लिए इन प्रश्नोंका समाधान सर्वथा अपेक्षित होजाता है। उपरोक्त प्रश्न करने वाले के लिए भक्तिमार्ग के अनुयायी श्री पुष्पदन्तने जहां—

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्,
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसर दुःस्थो हतधियः,
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥

(महिम्नस्तोत्र)

इत्यादि रूपसे जिस प्रश्नकर्त्ता को 'हतधी'–(नष्टबुद्धि) कहा है, वही प्रश्नावली रूपान्तर से हमारे सामने आती है। विज्ञान न जानने वालेके लिए भले ही उपरोक्त प्रश्न दुर्बुद्धिके कारण बनें, परन्तु विज्ञान समुद्र के अन्तस्तल पर पहुंचे हुए महर्षियों की दृष्टि में यह प्रश्न

सर्वथा उचितहैं, एवं इनका समाधान भी यथावत है। हां तो अब देखना यह है कि ऋपियों नें इनका क्या समाधान किया है। 'उपनिपदों की भूमिका' के 'उपनिपदों में क्याहै'? इस प्रकरण को आद्योपान्त पढ़जाइए। वहां आपको सर्वजगत्मूलाधार अमृतमृत्युमय सर्वबलविशिष्ट रसस्वरूप, अनन्त ईश्वरोंको अपने गर्भ में रखने वाले सर्वव्यापक, परमेश्वर नामसे प्रसिद्ध परात्पर नामका तत्व मिलेगा। इसी रसबलमूर्त्तिपरात्परका एक प्रदेश मायाबलसे सीमित होजाता है। मायावच्छिन्न वही भाग अव्ययरूपसे प्राप्त होगा। उस अव्ययपुरुषमें हृदयरूप अक्षर की कृपासे आपको आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक् यह पांच कलाएं उपलब्ध होंगी। इन पांचोंमें आनन्द–विज्ञान–मन को आप स्थितिभावापन्न देखेंगे, एवं मन–प्राण–वाक् को गतिभावयुक्त पावेंगे। यही स्थिति गत्यात्मक पञ्चकल अव्यय जगदालम्बन रूपसे आपके सामने आवेगा। आलम्बन रूप उस अव्यय पुरुष के साथ साथ ही हृदयबलरूप पञ्चकल अक्षर, एवं अक्षरसे नित्यसंश्लिष्ट पञ्चकलक्षर के भी दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। जहां आप अव्ययको आलम्बन रूपसे देखेंगे, वहीं अक्षरको समवायी कारण (निमित्तकारण) रूपसे पहिचानेंगे, क्षरको समवायीकारणता (उपादानकारणता) से युक्त देखेंगे। बस पूर्वोक्त सारे प्रश्नोंका उत्तर उपरोक्त पङ्क्तियों से गतार्थ होजायगा।

'किं स्विदासीदधिष्ठानम्' का उत्तर पञ्चकल अव्यय पुरुष है। आनन्द विज्ञान मनोमय स्थितिमूर्त्ति अव्यय स्थिर धरातल है मन–प्राण–वाङ्मय गतिमूर्त्ति अव्यय घूमता हुआ चक्र है। परिभ्रमणशील चक्र और धरातल ही आलम्बन है। यही विश्वका अधिष्ठान (आलम्बन) है। 'आरम्भणं कतमत् स्वित्' का उत्तर पञ्चकल क्षरपुरुष है सारे विश्वका उपादान क्षर ही है। उपादान कारण के लिए ही श्रुतिमें 'आरम्भण' शब्द प्रयुक्त हुआहै। एवं मध्यपतित पञ्चकल अक्षर निमित्त कारण है। यही सृष्टिकर्त्ता है।

'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुः संहिता) के अनुसार अव्ययका श्वोवसीयस मन अक्षररूप हृदय में प्रतिष्ठितहै। मनके साथ प्राणका नित्य सम्बन्ध है, प्राणके साथ वाक् नित्य सम्बद्ध है। ऐसी अवस्थामें मध्यपतित अक्षरके साथ मन–प्राण–वाक् तीनों का सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। अव्ययके मनोभागसे सर्वज्ञ, प्राणभागसे सर्व-

शक्ति, वाक्भागसे सर्ववित् वनता हुआ, सर्वत्र नियति रूपसे प्रतिष्ठित होता हुआ, नियतिदण्ड से सबको भयभीत करताहुआ सर्वशास्ता अक्षर ही विश्वकर्त्ता है । अव्यय मनकी कामना हीं अक्षरकी कामना है । प्राणव्यापार ही ईहा है । वाग् व्यापार ही उपाय है । इस प्रकार स्थिति भावापन्न आनन्दविज्ञानमय अव्ययधरातल पर प्रतिष्ठित होता हुआ ज्ञानक्रियाअर्थकाय, अक्षरपुरुष मनप्राणवाङ्मय गतिभावापन्न अव्ययचक्रपर क्षररूप उपादानसे सारा विश्व बनाया करता है ।

आगे जाकर ऋषि प्रश्न करते हैं कि, वह ऐसा कौनसा वन था ? एवं उस वनमें ऐसा कौनसा महावृक्ष था ? जिसे काटछांट कर यह विश्वरूप स्तम्भ खड़ा कियागया । उपरोक्त मन्त्रका वड़ी सुन्दरताके साथ समाधान करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

(तै० ब्राह्मण)

रसवलात्मक, सर्व धर्म्मोपपन्न पूर्वोक्त व्यापक परात्पर ही ब्रह्मवन है । ब्रह्म सच्चिदानन्द अव्यय है । एक एक मायासे एक एक ब्रह्माव्यय का स्वरूप निष्पन्न होताहै । सर्वव्यापक परात्परमें अनन्त मायावलहैं । जितने मायावलहैं, उतने ही अव्यय ब्रह्महैं । अतएव परात्परको अवश्य ही '**ब्रह्मवन**' कहा जासकताहै । इस ब्रह्मवन का एक महावृक्ष वही अव्यय ब्रह्महै । इस महावृक्षमें १००० शाखाएं हैं । प्रतिशाखामें स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी यह पांच २ पुण्डीर (पोर) हैं । अतएव यह शाखा '**पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा**' नामसे प्रसिद्धहै । शाखा शब्दके लिए वेदमें पुण्डीर शब्द प्रयुक्त हुआहै । यही महावृक्ष अश्ववत् प्रतिष्ठित होनेंके कारण—किं वा अश्वत्थवृक्षवत् प्रतिष्ठित होनेंके कारण '**अश्वत्थ**' नाम से प्रसिद्धहैं । इसी ब्रह्माश्वत्थका निरूपण करते हुए आप्तपुरुष कहतेहैं—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः* सनातनः ।
तदेवशुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

---

* कठ–एवं मुण्डकोपनिषत् के विज्ञानभाष्यमें अश्वत्थविद्याका निरूपण देखना चाहिए ।

तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् । (कठोपनिषत् २.२।१)

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गी० १५।१)

अनन्त मायाओंके कारण परात्परमें-अनन्त वृक्षोंकी सत्ता सिद्ध होजातीहै । इसी लिए परात्परको 'वन' कहना यथार्थ होताहै । इसी अश्वत्थवृक्षके क्षरभागको काटछांटकर द्यावापृथिवीरूप विश्व बनायागयाहै । 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' इस श्रौतसिद्धान्तके अनुसार अक्षरद्वारा क्षरोत्पादनसे सारा विश्व बनाकर वह अव्यय आलम्बनरूपसे प्रतिष्ठित होगयाहै । इसी अभिप्रायसे—'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' कहाहै । अव्ययकी इसी आलम्बनताका निरूपण करते हुए पुरुषोत्तम कहते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (गीता० १५।१७)

जिस परात्परलक्षण ब्रह्मवनके सम्बन्धमें 'तद्ध तद्वनं नाम, तद्वनमित्युपासितव्यम्' (केनोपनिषत् ४।६) यह कहाजाताहै । उस महावनके एक एक वृक्षका नाम भूः—भुवः—स्वः—महत्—जनः—तपः—सत्यम् इन नामोंसे प्रसिद्ध सप्तव्याहृत्यात्मक लोकत्रयाधिष्ठाता अव्यय पुरुषहै । त्रिवृत् भावापन्न भूः—(रोदसीत्रैलोक्य), भुवः (क्रन्दसीत्रैलोक्य), स्वः (संयतीत्रैलोक्य), इन तीन लोकोंसे युक्त एक एक विश्वका गति—भर्त्ता—प्रभु—साक्षी—निवास—शरण—सुहृत् एक एक अव्ययपुरुषहै । एक एक मायाबल उस परात्पर ब्रह्मका एक एक रोम कूपहै । एक एक रोमकूप एक एक ब्रह्माण्डहै । एक एक ब्रह्माण्डके भीतर अव्ययकी पूर्णतासे फिर अवान्तर सूर्य परमेष्ठी आदि अनन्त ब्रह्माण्ड समाविष्ट रहतेहैं । सम्पूर्ण अव्ययवृक्ष विश्व नहीं बनता, अपितु अव्ययका अपरा प्रकृतिलक्षण क्षरभाग ही अक्षरके व्यापारसे क्षरित होकर विश्व बनताहै । इसी विज्ञानको समझानेके लिए—'यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः' यह कहाहै । अथर्ववेदीया स्कम्भविद्याके अनुसार सारा विश्व एक स्कम्भहै । 'स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्' (अथर्व० संहिता)

के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम प्रपञ्च इसी विश्वस्कम्भपर प्रतिष्ठितहै। यह स्कम्भ उस अश्वत्थ वृक्षसे तरासा हुआ भागहै। वही क्षररूपसे स्कम्भ बनाहै। अक्षररूपसे वही स्कम्भ निर्माताहै, एवं अव्ययरूपसे वही आलम्बनहै। जो तात्पर्य्य—**'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययईश्वरः'** इस स्मार्त्तवचनका है वही भाव **'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्'** इस वाक्यका है।

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादी उभावपि" (गीता०)

के अनुसार अव्यय पुरुष अपने स्वभावभूत, अन्तरङ्ग प्रकृतिस्वरूप अक्षर-क्षरसे अविनाभूतहैं। तीनों ही पंचकलहैं। इन १५ कलाओं के अतिरिक्त परमार्थतः अकल, किन्तु व्यवहारदृष्टया एककल सोलहवां परात्परहै। यही षोडशकल प्रजापति विश्वप्रजाका अधिपतिहै जैसा कि—**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** (छां० उपनिषत्) का अर्थ करते हुए, भूमिकाभागमें विस्तारसे बतलाया जाचुकाहै। षोडशीपुरुष विश्वका आत्माहै। यह नित्यहै, अमृतहै। क्षरप्रधान विश्व विपरिणामी होनेसे अनित्य, अतएव मर्त्यहै। मर्त्य भूतमय विश्वमें अन्तर्निगूढ होनेंके कारणही—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (कठोपनिषत् १।३।१२)

इस श्रौतसिद्धान्तके अनुसार **'गूढोत्मा'** नामसे व्यवहृत हुआहै।

उस ज्ञानज्योतिर्मय तत्वको आवृत करनेवाला वही एकमात्र मायाबल है। मायाने हीं उस असीमको ससीम विश्वद्वारा तिरोहित कररक्खाहै। अतएव सर्वत्र व्याप्त रहताहुआ भी वह हमारे लिए कृष्ण बनरहाहै। इसी अव्ययकृष्णतत्वको लक्ष्यमें रखकर कृष्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता०)

यह है विश्वाधिष्ठाता ईश्वरप्रजापतिका संक्षिप्त निदर्शन। यही अमृतात्माहै। यही गूढोत्मा है। यही षोडशी प्रजापति है। परात्परब्रह्मका यही प्रथम अवतारहै। निम्नलिखित तालिका से उपरोक्त विषय स्पष्ट होजाताहै—

शुद्धरस स्वरूप निष्कल निरञ्जन 'निर्विषेश'

१ = १ = सर्वबलविशिष्ट रसरूप व्यापक परात्परब्रह्म = "ब्रह्मवन"
५ = २ = मायाबलावच्छिन्न रसबलात्मक अव्ययपुरुष = "ब्रह्मवृत्त"
५ = ३ = अक्षर पुरुषः=पराप्रकृतिः-(अमृतब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोमभेदसे पञ्चकल
५ = ४ = क्षरपुरुषः=अपराप्रकृतिः-(मर्त्यब्र. वि. इ. अ. सो. भेदसे पञ्चकल)

"षोडशकलं वा इदं सर्वम्" (कौ० उ०) "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" (कौ. उ. ,

उपरोक्त परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर इन चारोंमें से विश्वके उपादान क्षरतत्वपर दृष्टि डालिए। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम यह क्षरकी पांच कलाएंहैं। इन पांचोंसे क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न यह पांच विकार उत्पन्न होतेहैं। यह पांचों विकार 'विकारक्षर' नामसे प्रसिद्धहैं। यही पांचों-वैकारिक विश्वके आधारहैं, अतएव विकृतिरूप इन पांचोंको वैकारिक विश्वकी अपेक्षासे हम 'प्रकृति' कहनेके लिए तय्यारहैं। अव्यय पुरुष पुरुषहै। अक्षर क्षर समष्टि प्रकृतिहै। उपरोक्त विकारक्षर अक्षरक्षरापेक्षया विकृति, विश्वापेक्षया प्रकृति होनेसे 'प्रकृति विकृति' है। पांचों विकार प्राणात्मकहैं। रूप-रस-गंध स्पर्श-शब्द शून्य अधामच्छद (स्थान न रोकनें वाला) तत्व ही प्राणहै। विकारक्षरों की यही अवस्थाहै। अतः उन्हें हम अवश्यही 'प्राण' कहनेंके लिए तय्यारहैं। यह पांचों प्राकृतप्राण मृद्घटवत् उसी अमृतात्मस्वरूप मनोगम्य षोडशीपुरुषमें प्रतिष्ठितहैं। मनोगम्य षोडशी पुरुष अणुहै। उसमें प्राण- आप-वाग्-आदि पांचों प्राण नित्य प्रतिष्ठित रहतेहैं। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहतीहै—

> एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
> प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ (मुण्डक)

उपरोक्त पांचों विकारक्षर पञ्चीकरण द्वारा क्रमशः विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरंजन-रूपमें परिणत होते हुए अन्ततोगत्वा पुरस्वरूप में परिणत होजातेहैं। पञ्चीकृत प्राणमय पुर स्वयम्भूहै पञ्चीकृत। आपोमय पुर परमेष्ठीहै। पञ्चीकृत वाङ्मय पुर सूर्य्यहै। पञ्चीकृत अन्नादमय पुर

पृथिवी है। पञ्चीकृत अन्नमय पुर चन्द्रमाहै। पांचों पुर पिण्डात्मक हैं। सहृदयहैं। एवं जो पदार्थ सहृदय—सशरीरी होताहै, विज्ञानभाषामें वही 'सत्य' कहलाताहै। उपादानकारण अपने कार्यकी प्रतिष्ठा है। अभिन्नसत्ताककार्यकारणभावों में कारणसत्तामें कार्यसत्ता अनुस्यूत रहती हैं। दूसरे शब्दोंमें कारणसत्ता ही कार्यसत्ताहै। कारणही कार्यको अपने ऊपर प्रतिष्ठित रखताहै। अतएव कारणतत्व 'बिभर्त्ति कार्यं' के अनुसार 'ब्रह्म' शब्दसे व्यवहृत हुआहै। परम्परया इस चरका प्रादुर्भाव अक्षरसे ही हुआहै। एवं क्षर ब्रह्महै, अतएव इसके लिए—'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता) यह कहाजाताहै। ऐसी अवस्थामें पञ्चकल विकार क्षरको हम अवश्य ही 'ब्रह्म' कहसकते हैं। ब्रह्मविकारभूत प्राणमय स्वयम्भू पहिला ब्रह्महै। विष्णु विकारभूत आपोमय परमेष्ठी दूसरा ब्रह्महै। इन्द्रविकारभूत वाङ्मय सूर्य्य तीसरा ब्रह्महै। अग्निविकारभूता अन्नादमयी पृथिवी चौथा ब्रह्महै। एवं सोमविकारभूत अन्नमय चन्द्रमा पांचवां ब्रह्महै। पांचों ही ब्रह्म सहृदय—सशरीरी होते हुए सत्यहैं। अतएव हम अमृतात्मा (षोडशी-पुरुष) में प्रतिष्ठित इन पांचोंको अवश्य ही ब्रह्मसत्य कहने के लिए तय्यारहैं। इन पांचों सत्योंका क्रमिक अवतारहै। अतएव इनका सम्बन्ध 'दहरोत्तर' नामसे प्रसिद्धहै। स्वयम्भूके महिमामण्डलमें परमेष्ठी है। परमेष्ठीके महिमामण्डलमें सूर्य्य है। सूर्य्यके महिमा-मण्डलमें (सौरसंस्था—किं वा सोलर सिस्टममें) पृथिवीहै। पृथिवीके महिमामण्डल में चन्द्र-माहै। उत्तरमण्डल पूर्वमण्डलकी अपेक्षा छोटाहै। इसीका नाम दहरोत्तर सम्बन्धहै। परात्परका पहिला अवतार अमृतसत्य (षोडशीपुरुष) था, दूसरा अवतार यही ब्रह्मसत्यहै। ब्रह्म सत्यसे आगे जाकर शुक्रका अवतार होताहै। इसप्रकार वही परात्परब्रह्म मायाबलकी कृपासे क्रमशः अमृत (षोडशीपुरुष), ब्रह्म (स्वयम्भू आदि), शुक्र यह तीन स्वरूप धारण करलेताहै। तीनों भाव उस एक हीका विवर्त है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषच्छ्रुति कहतीहै—

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म—तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन॥ (कठ उ०)

उपरोक्त अमृत—ब्रह्म—शुक्र तीनोंमें से प्रकृतमें 'ब्रह्मसत्य' की ओर आपका ध्यान आ-कर्षित कियाजाताहै। यद्यपि सृष्टिक्रमके अनुसार नियनब्रह्मामूलक चन्द्रमा ब्रह्माका ही सर्वान्तमें

समावेशहै, परन्तु (हमारी अपेक्षासे) स्थिति क्रममें पृथिवीब्रह्म सबके अन्तमें आताहै। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्र–पृथिवी यह स्थितिक्रमहै। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–पृथिवी–चन्द्रमा यह सृष्टिक्रमहै। पृथिवी नामका ब्रह्मसत्य प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद–इस क्रममें अन्नादमयहै। अन्नाद अग्निहै। पृथिवी 'अग्निर्भूस्थानः' (या० नि०) के अनुसार अग्निमयीहै। यह अग्नितत्व अमृत–मर्त्य भेदसे दो भागोंमें विभक्तहै। मर्त्याग्नि ही यज्ञपरिभाषानुसार 'चित्याग्नि' कहलाताहै। अमृताग्नि 'चितेनिधेय' नामसे प्रसिद्धहै। चित्याग्निसे पृथिवी पिण्ड बनताहै। दूसरे शब्दोंमें पृथिवीपिण्ड मर्त्याग्निमयहै। यही चित्याग्निमूर्त्ति पृथिवीपिण्ड 'ब्रह्मसत्य' है। इसी अन्नादमय ब्रह्मसत्यसे आगे जाकर 'यज्ञमात्रिक' नामके वेदसत्यका अवतार होताहै। पृथिवीकेन्द्रसे प्राणाग्नि निकलताहै। यह प्राणाग्नि भूपिण्डसे बाहर निकलता हुआ बड़ी दूर तक अपना एक मण्डल बनाताहै। यही प्राणाग्नि अमृताग्निहै। बहिर्मण्डलावच्छिन्न इस प्राणाग्निके अवस्थाभेदके कारण अग्नि–वायु–आदित्य यह तीन रूप होजाते हैं। तीनोंकी परस्पर में आहुति होती है। उससे क्रमशः–अग्निप्रधान वैश्वानर, वायुप्रधान हिरण्यगर्भ, आदित्यप्रधान सर्वज्ञका जन्म होताहै। वैश्वानराग्निदेवता त्रिवृत् स्तोम (९) में प्रतिष्ठितहैं। हिरण्यगर्भदेवता पञ्चदश स्तोम (१५) में व्याप्तहैं, एवं सर्वज्ञकी प्रतिष्ठा एकविंशस्तोम (२१) हैं। इसप्रकार अन्नमय चन्द्रमा नामके ब्रह्मसत्य, एवं अन्नादमय पृथिवी (पिण्डपृथिवी) के मध्यमें प्राणाग्निमयी अमृतापृथिवीके आधार पर अग्नि–वायु–आदित्यमूर्त्ति वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ इन तीन देवसत्योंकी सत्ता सिद्ध होजाती है।

इन उपरोक्त तीन देवसत्योंके कारण आधिदैविकमण्डलाधिष्ठाता ईश्वरकी अमृतात्मा–स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–पृथिवी यह नौ कलाएं होजातीहैं। दशाक्षर छन्दका नाम विराट्छन्दहै (शत० १।१।१।२२) 'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्' (ऐ.ब्रा. १।६।२-३७) इससिद्धान्तके अनुसार एक अक्षर कम होनेसेभी छन्दका स्वरूप नहीं बिगड़ता। एवं एक अक्षरसे न्यून विराट्भी विराट्है। 'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (शत० ११।१।२।४) इस सिद्धान्तके अनुसार उपरोक्त नवाक्षर मूर्त्ति, अतएव न्यून विराट्मूर्त्ति ईश ही 'इदं सर्वम्' है। वही अध्यात्महै। वही अधिभूतहै। सर्वत्र पूर्णांशकी पूर्णताका साम्राज्यहै। अध्यात्मस्थ नौ अक्षर अमृत–अव्यक्त–महान्–विज्ञान–(बुद्धि), प्रज्ञान–(मन),

वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–शरीर इन नामोंसे प्रसिद्धहैं । नाममात्रमें अन्तरहै । पदार्थ जो वहां है, वे ही यहां है । उपरोक्त ईश्वरकी ६ कलाओंसे अतिरिक्त परात्पर नामका अखण्ड आत्माहै ।

> संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
> यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

के अनुसार परात्परशास्त्रमर्यादासे सर्वथा वहिर्भूतहैं । शब्दशास्त्र केवल उपरोक्त खण्डात्माओंका ही निरूपणकरताहै । हमारे इस सर्वोपनिषत्में सभी खण्डात्माओंका क्रमिक निरूपणहै, जैसाकि तत्तत् प्रकरणों से स्पष्ट होजायगा । इस समन्वयक्रमको सामने रखलीजिए, और क्रमशः मन्त्रों का निरूपण देखते जाइये । सारा रहस्य आदर्शवत् हृदयङ्गम होजायगा, एवं साथ ही में व्याख्याताओंकी कृपासे चिरकालसे फैलीहुई उपनिषद् अर्थसम्बन्धिनी भ्रान्तिका भी समूल विनाश होजायगा । प्राक्कथन समाप्त हुआ, अब उपनिषदर्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित कियाजाताहै ।

ईशः आधिदैवतम्	इदं सर्वम्	जीवः अध्यात्मम्	
१ षोडषीपुरुषः	पूर्णमदः—	षोडशीपुरुषः=अमृतात्मा	
२ स्वयम्भूः	पूर्णात्पूर्णमुदच्यते	अव्यक्तात्मा	ब्रह्मसत्यात्मा
३ परमेष्ठी		महानात्मा	
४ सूर्यः		विज्ञानात्मा	
५ चन्द्रमा	पूर्णमिदम्—	प्रज्ञानात्मा	
६ सर्वज्ञः		प्राज्ञात्मा	देवसत्यात्मा
७ हिरण्यगर्भः		तैजसात्मा	
८ वैश्वानरः		वैश्वानरात्मा	
९ पृथिवी		शरीरम्	ब्रह्मसत्यात्मा

(२–९ के पार्श्व में: “प्रजापतिर्वै प्रजाः प्रजायन्ते” क्षेमा स्थूणा विराट्)

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"

पुरुषात्माधिकरण

१

विद्याकर्म्ममयः पुरुषो गूढोत्मा "अमृतात्मा"

१—अमृतात्मा

- १—"ईशावास्यमिदं सर्वम्"—भोगतन्त्रम्=मनः
- २—"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि"—कर्तृतन्त्रम्=प्राणः
- ३—असुर्या नाम ते लोकाः"—आवरणतन्त्रम्=वाक्

स एष कर्म्माण्ययो विद्यामयः

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

"ओं' यह एकाक्षर (अधिदैवत स्वरूपसे) पूर्णहै । यह (अध्यात्म) पूर्णहै । पूर्णसे पूर्ण निकलाहै । पूर्णके पूर्णको लेकर पूर्णही शेष रह जाताहै," यह है मन्त्रका अक्षरार्थ । सम्पूर्ण कर्म्म–पुरुषार्थ, क्रत्वर्थ भेदसे दो भागोंमें विभक्तहैं । क्रत्वर्थ कर्म्मसे पुरुषार्थ कर्म्मका स्वरूप निष्पन्न होताहै । पुरुषका परम पुरुषार्थ यही है कि, वह जिस पूर्णाक्षर का अंशहै, उसके साथ अभेदभावको प्राप्त होता हुआ भयाकाशसे विमुक्त होजाय । ईश्वर पूर्णेन्द्रहै, प्रर्णपुरुष है । ऐसे इस पूर्णेशकी उपनिषत् 'ओं' यह एकाक्षरहै । उसका वाचक यही 'प्रणव' है । अर्द्धमात्रा, अकार, उकार–मकार–इन चारोंका समुच्चय ही ओंकारहै । अर्द्धमात्रा तुरीय पद है, यही परात्पर है । अकार अव्यय पुरुष है । उकार अक्षर पुरुषहै । मकार क्षर पुरुषहै । शब्दसृष्टिमें सबका मूल अकार ही है । एकही अकार सोमप्रधानस्पर्श–अग्निप्रधाना ऊष्माके तारतम्यसे वर्णराशिका आरम्भक बनजाताहै । स्पर्श संकोचहै–यह सोमका धर्म्म है । ऊष्मा विकास है–यह अग्निका धर्म्महै । जैसे अर्थसृष्टि के मूल अग्नि सोमहैं, उसीप्रकार शब्द सृष्टि के मूलभी स्पर्श–ऊष्मा रूप अग्नि सोमही हैं । अकारकी इसी विभूति का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहतेहैं—

"अकारो वै सर्वा वाक्–सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना–
बह्वी नाना रूपा भवति" (ऐत० आरण्यक)

इसीलिए अव्यय पुरुषकी विभूतियोंके सम्बन्धमें 'अक्षराणामकारोऽस्मि' (गीता १०।३३) यह कहा गयाहै । शब्दसृष्टिमें अकार कण्ठताल्वादिके अभिघातसे रहितहै । यह असंगहै ।

एवं असंग होता हुआ भी वर्णसृष्टिका आलम्बनहै। यही स्वरूप अव्यय पुरुषका है। इसी सजातीयताके कारण हम अकारको अव्यय पुरुषका वाचक मानने के लिए तय्यारहैं। उकार के उच्चारणमें मुखका संकोचहै। यह संसर्गासंगहै। यही अवस्था मध्यपतित अक्षरकी है। अतः उकार अक्षर पुरुषका वाचक माना गयाहै। 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः' इस सिद्धान्त के अनुसार मकार पर स्पर्शभावकी समाप्तिहै। मकार अन्तिम स्पृष्टवर्णहै। यहां मुखका सर्वथा संकोचहै। यही अवस्था क्षरपुरुषकी है। अतः मकारको क्षरका वाचक मानागयाहै। अ—उ—म्—तीनों क्रमशः अव्यय—अक्षर—क्षर—हैं। चौथा परात्पर अर्द्धमात्राहै। वह अगम्याहै। अनुच्चार्यहै। शाब्दानविकृताहै। 'ओम्'[1] इस एकाक्षरस परब्रह्मका स्वरूप यथावत् हृदयङ्गम होजाताहै। इसीलिए नचिकेताके—

अन्यत्र धर्म्मात्—अन्यत्राधर्म्मात्—अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद ॥

यह प्रश्न करने पर मृत्यु उत्तर देतेहैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥
'ओम' इत्येतत् (कठोपनिषत् १।२।१४—१५)

'ओम्' शब्द 'अह्—अम्' से निष्पन्न हुआहै। ईश्वर पूर्णपदहै। एक स्वतन्त्रपदहै। अतः इस पदविवक्षासे 'अह्' का हकार पदान्तका हकार होजाताहै। अतः इसे उत्व होजाताहै। अ—उ—अम यह स्थिति रहजातीहै। गुण एवं पूर्वरूपसे 'ओम्' की स्वरूपनिष्पत्ति होजातीहै। जो 'ओम' है, वही 'अहम्' है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा उस परमपदका अवयवहै। स्वतन्त्रपद नहीं। अतः जीव विवक्षामें अह् का हकार पदान्तका हकार नहीं रहता। अतएव उत्व नहीं होता। हकारका अकारके साथ सम्बन्धमात्रहै। अह्—अम् का 'अहम्' बन जाताहै। ईशकी उपनिषत् 'ओम्' है। जीवात्माकी उपनिषत् 'अहम्' है।

१—इस प्रणव विद्या का विशद निरूपण "माण्डूक्योपनिषत्" के विज्ञानभाष्य में देखना चाहिये।

परमार्थतः ईश्वर और जीव एकतत्वहै । अविद्याचतुष्टयीके कारण यह 'अहम्' बनरहा है । वस्तुतः यह भी ओंकारही है । पूर्णसे निकलनेवाला यह अपूर्ण तभीतक अपूर्ण है, जबतक कि यह अपने मूलपुरुषकी पूर्णताको नहीं समझलेता । जिसदिन यह उस पूर्णकी पूर्णताको पहिचानलेगा, अवश्यही उसदिन पूर्ण होजायगा । पूर्णतामें शान्तिहै, अपूर्णतामें क्षोभहै । यदि सर्वत्र आप 'ओंकार' स्वरूप पूर्णेशकी सत्ता देखरहेहैं, तो आपके सामने—'ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!, यह वाक्यहै ।

इस प्रकार मंगलपाठके साथ साथही परमपुरुषार्थका स्वरूप बतलाता हुआ वेदपुरुष इस उपनिषत् में बतलाए जाने वाले सारे विषयका स्वरूप हमारे सामने रखदेताहै । "ओम् इस एकाक्षरकी पूर्णता पहिचानिए । उसे भी पूर्ण समझिए । अध्यात्मको भी पूर्ण समझिए । उस पूर्ण की पूर्णतालेकर अहंभाव का परित्याग करते हुए आप भी पूर्ण बनजाइए" सारी उपनिषत् का यही आदेश है । यही पुरुष का परम पुरुषार्थहै । ईशकी उपनिषत् इसीकी प्राप्तिका साधन है ।

षोडशी पुरुष का क्षरभागही क्रमशः विश्वसृट् (विकारक्षर), पञ्चजन (पञ्चीकृत विकारक्षर), पुरंजन, पुर रूपमें परिणत होता हुआ विश्वमूर्त्ति बना हुआहै । सारा विश्व पञ्चीकृत महाभूतों का समुच्चय है । स्वयम्भू आकाशहै । परमेष्ठी वायुहै । सूर्य तेज है । चन्द्रमा आप हैं । पृथिवी प्रसिद्धहै । इन पांचोंमें प्रत्येकमें पृथिव्यप्तेजादि पांचों हैं । आधे भागमें आकाश—आधेमें—वाय्वादि चारोंके समन्वयसे आकाशात्मा स्वयम्भूका स्वरूप निष्पन्न हुआहै । यही क्रम परमेष्ठी—सूर्य्यादिमें है । यही प्रक्रिया दर्शनशास्त्रमें 'पञ्चीकरण' नामसे प्रसिद्धहै । संहिताभागमें इसी पञ्चीकरणके लिए 'सर्वहुत' शब्द प्रयुक्त हुआहै ।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥"

(यजुः संहिता)

इस सिद्धान्त के अनुसार वेद—लोक—प्रजा—भूत—धर्म्म आदिकी समष्टिरूप सारा विश्व इसी सर्वहुत यज्ञसे उत्पन्न हुआहै ।

यही सर्वहुत प्रक्रिया उपनिषदोंमें 'त्रिवृत्करण' नामसे प्रसिद्ध है। दर्शन शास्त्रनें जहां पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाश–इन पांच [१]तत्वों के पञ्चीकरणसे विश्वकी उत्पत्ति मानी है, वहां उपनिषदोंनें तेज–आप–अन्न–इन तीन तत्वोंके त्रिवृत् करणसे विश्वसृष्टि को गतार्थ मानाहै। परमार्थदृष्टिसे दर्शनशास्त्रकी पञ्चीकरण प्रक्रिया–एवं उपनिषदोंकी त्रिवृत्करण प्रक्रिया एक वस्तुहै। पञ्चकल अव्ययपुरुषही सर्वालम्बनहै। आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्ययपुरुष मुक्तिसाक्षीहै, एवं मन–प्राण–वाङ्मय अव्ययपुरुष सृष्टिसाक्षीहै। मनस्वी–प्राणवान्–वाग्मी-अक्षरतत्वमनकी कामनासे, प्राणके तपसे, एवं वाक्के श्रमसे विश्व उत्पन्न करताहै। विश्वात्मा मनप्राणवाक् प्रधानहीहै। अतएव विश्वदृष्टिसे आत्माकेलिए–'सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' यह कहाजाताहै। इस मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययके कारणही त्रिवृत्करण प्रक्रिया का जन्म होजाताहै। अव्यय–क्षरानुग्रहीत अक्षरप्रजापति किसी समय एकाकी था। उसने कामना–तप–श्रमके द्वारा तेज–आप–अन्न यह तीन तत्व उत्पन्न किए। अनन्तर इन्हीं तीनोंके त्रिवृत्करणसे पञ्चभूतात्मक–एवं सप्तलोकात्मक–विश्व उत्पन्न किया। जैसा कि छांदोग्य श्रुति कहती है—

> सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत–'बहुस्यां–प्रजायेयेति'। तत्तेजोऽसृजत। तदपोऽसृजत। ता अन्नमसृजन्त। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्। (छां० उ० ६।२।४।५)

सारे लोक इसी त्रिवृत्भावसे सम्बन्ध रखतेहैं। इसी आधार पर—'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' यह कहाजाताहै। इस प्रक्रियासे जिस प्रकार सात लोक उत्पन्न होतेहैं वह निम्नलिखित तालिकासे स्पष्ट होजाताहै—

---

१ भारतीय वैदिकविज्ञानसे परिचय प्राप्त न कर कितने ही कल्पनारसिक पाश्चात्य विद्वान पाञ्चभौतिक तत्ववाद पर आक्षेप करतेहैं। पृथिवी– जल–तेज–वायु–आकाश अवश्य ही तत्वहैं। इनकी मूलावस्था हमारे शास्त्रमें 'पञ्चमहाभूत' नामसे प्रसिद्धहै। इनका मूल रेणुभूतहै। रेणुभूतका मूल अणुभूतहै। अणुभूतका मूल गुणभूत (पञ्चतन्मात्रा) है। हम रेणुभूतको तत्व मानतेहैं–नकि महाभूतको। इस वस्तुस्थितिको न समझकर आक्षेप करनेवालोंके सम्बन्धमें—"मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ताहरीतकी" इससे अधिक क्या कहा जासकताहै। इस तत्वविचारकेलिए श्रीगुरुप्रणीत 'सायंसप्रदीप' नामका ग्रन्थ द्रष्टव्यहै।

	तेजः	....	....	१—सत्यम्	स्वयम्भू	आकाशः ।
१—तेजः	आपः	....	....	२—तपः	सूत्रम्	× ।
	अन्नम्	तेजः	....	३—जनः	परमेष्ठी	वायुः ।
२—आपः		आपः	....	४—महः	शिवः	× ।
		अन्नम्	तेजः	५—स्वः	सूर्यः	तेजः ।
३—अन्नम्			आपः	६—भुवः	चन्द्रमा,रुद्रः	जलम् ।
			अन्नम् ...	७—भूः=पृथिवी=पृथिवी ।		

उपरोक्त सातों लोक सप्तव्याहृतिनामसे प्रसिद्धहैं। इन सातों व्याहृतियोंका भू—भुवः—स्वः, इन तीन महाव्याहृतियोंमें अन्तर्भावहै। तीनों लोक उपरोक्त त्रिवृत्करणके कारण त्रिवृत् हैं। भूलोक—भूः, भुवः, स्वः, इन तीनो लोकोंमें विभक्तहै। यह 'भू' लोक किंवाभूत्रिलोकी 'रोदसी' नामसे प्रसिद्धहै। भुवर्लोकभी—भूः, भुवः, स्वः, इन तीनों लोकोंमें विभक्तहै। यह त्रिलोकी 'क्रन्दसी' नामसे व्यवहृत होतीहै। एवमेव स्वः त्रिलोकी भी—भूः, भुवः, स्वः, इन तीन लोकोंमें विभक्तहै। यह त्रैलोक्य 'संयती' नामसे प्रसिद्ध किया जाताहै। रोदसी—क्रन्दसी—संयती तीनोंकी समष्टि 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' कहलातीहै। भूलोक विज्ञानपरिभाषाके अनुसार माताहै। स्वर्लोक-पिताहै। तीनही माताएं हैं, तीनही पिताहैं। इसी त्रैलोक्य त्रिलोकी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर मन्त्रश्रुति कहतीहै—

१ तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुतद्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ॥

(ऋक् सं० २।३।२७।८)

२ तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥

(ऋक् सं० १।२२।१६४।१०)

३ तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट्चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥

(अथर्व सं० ४।४।२०।२)

उपरोक्त लोकव्यवस्थाके अनुसार यद्यपि ९ लोक होनेचाहिए. परन्तु ऐसा न होकर लोक केवल सात ही रहजातेहैं । रोदसी त्रैलोक्यका स्वर्लोक, क्रन्दसी त्रैलोक्यका भूलोक होजाता है, । एवं क्रन्दसी त्रैलोक्यका स्वर्लोक, संयती त्रैलोक्यका भूलोक होजाताहै । इस प्रकार दो लोकोंका मध्यके स्वर्लोकोंमें अन्तर्भाव होजानेसे सातही लोक रहजातेहैं ।

३—स्वः	३ स्वः	... ...	सत्यम् ७	
	२ भुवः	... ...	तपः ६	संयती त्रैलोक्यम्
	१ भूः / ३ स्वः	....	जनत् ५	
२—भुवः	२ भुवः	...	महः ४	क्रन्दसी त्रैलोक्यम् २
	१ भूः / ३ स्वः	स्वः	३	
१—भूः ...	२ भुवः	भुवः	२	रोदसी त्रैलोक्यम् १
	१ भूः	भूः	१	

"कुतो वा इमे त्रिवृतो लोकाः!!"

इन सातों लोकोंमें तीन अन्तरिक्षहैं, एवं स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—पृथिवी यह चार सत्य हैं । इन चारोंके अतिरिक्त रोदसी त्रैलोक्यके अन्तरिक्षमें 'एतद्ध देवसत्यं यच्चन्द्रमाः' (कौ ब्रा० ३।१) के अनुसार चन्द्रमा नामका एक सत्य और है । इस प्रकार पांच ब्रह्मसत्य होजाते हैं, जैसाकि पूर्वमें बतलाया जाचुकाहै । वेद—लोक—प्रजा—भूत—धर्म्म नामसे प्रसिद्ध पांच पुरजनोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वयम्भू आदि पांचों ब्रह्मसत्य ही महाभारतादिमें 'पञ्चब्रह्म' नामसे प्रसिद्धहैं । यह पांचों सत्य भूतभौतिक विश्वकी प्रकृतिएं हैं । षोडशीपुरुष पुरुषहै । षोडशी पुरुषमें पुरुष सम्बन्धकी अपेक्षासे 'मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययपुरुष' ही प्रधानहै । जिस तरह पंचब्रह्मकी मूलभूता क्षरप्रकृति त्रिवृतकरणसे युक्त होकर पुरसृष्टिका कारण बनती है एवमेव अव्ययका मनप्राणवाङ्मय कर्म्मभाग त्रिवृद्भावमें परिणत होकर ही त्रिवृत् विश्वमें प्रतिष्ठित होताहै । वस्तुतः देखाजाय तो अव्ययका त्रिवृत्करण ही तेज—अप्—अन्नके त्रिवत् करणमें कारणहै । विश्वरूपशरीर—षोडशी आत्माकी पुष्टिहै । विश्वकी तेजकला अव्ययके वाक् भागको पुष्ट करतीहै, अप कला अव्ययके प्राणभागको प्रतिष्ठित रखतीहै, एवं अन्नकला मनो

नयी मूर्तिको सुरक्षित रखती है। यही स्थिति अध्यात्ममें है। हमारा मन अन्न पर प्रतिष्ठितहै, प्राण अन्ततत्त्व परप्रतिष्ठित है, एवं वाक् तेज पर प्रतिष्ठितहै। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहतीहै—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते—तस्य योऽणिष्ठो भागस्तन्मनः।
आपःपीतास्त्रेधा विधीयन्ते—तासां योऽणिष्ठो भागःसप्राणः।
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते—तस्य योऽणिष्ठो भागः सा वाक्।
अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयःप्राणः, तेजोमयी वाक्।

(छां० उ० ६।३) इति।

मन—प्राण—वाक् तीनोंमें तीनोंकी आहुति होरहीहै। मन ज्ञानशक्तिमयहै, प्राण क्रियाशक्तिमयहै, एवं वाक् अर्थशक्तिमयीहै। ज्ञानमय मनमें भी प्राणवाक्का सम्बन्धहै। कोई भी ज्ञान बिना व्यापारके एवं बिना किसी अर्थके अपना स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं रखसकता। निष्क्रिय एवं निरर्थक ज्ञान कुछ नहीं। क्रियामय प्राणमें भी मन—वाक्का सम्बन्धहै। बिना ज्ञान और अर्थके क्रियाका संचालन ही असंभवहै। एवमेव वाक्में भी प्राण और मनका सम्बन्धहै। क्रिया एवं ज्ञानके बिना अर्थ सचमुच निरर्थकहै। ऐसी अवस्थामें यह मान लेना पड़ताहै कि कल्पित—मन—प्राण—वाक्—इन तीनों कलाओं में प्रत्येकमें तीनोंहैं, जैसाकि निम्नलिखित तालिकासे स्पष्ट होजाताहै—

१ मनः ...... { मनः, प्राणः, वाक् } .... प्राणवाग्गर्भितं ज्ञानमयं मनः—मनप्राणवाङ्मयं त्रिवृन्मनः१

२ प्राणः .... { मनः, प्राणः, वाक् } मनोवाग्गर्भितः क्रियामयः प्राणः—मनप्राणवाङ्मयः त्रिवृत्प्राणः२

३ वाक् .... { मनः, प्राणः, वाक् } मनप्राणगर्भिता-अर्थमयी वाक् मनप्राणवाङ्मयी—त्रिवृता वाक्३
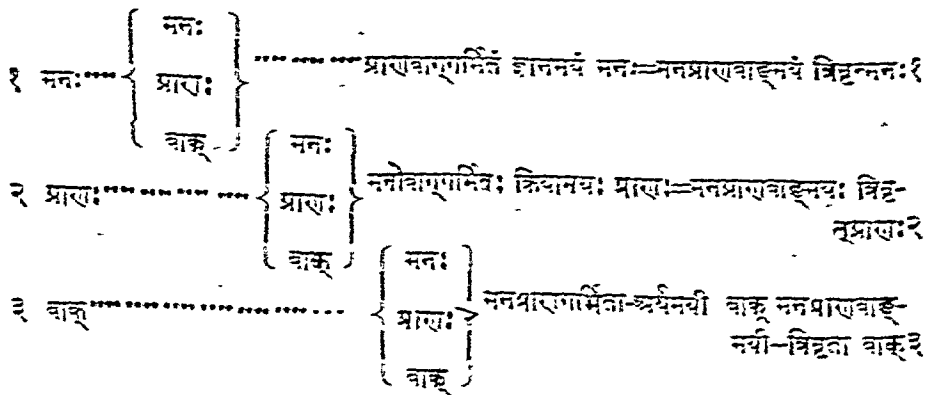
त्रिवृत्मन अव्ययपुरुषका कारण शरीर है। त्रिवृत्प्राण अव्ययात्माका सूक्ष्मशरीरहै। त्रिवृतावाक् स्थूलशरीर है। मन सुसूक्ष्महै, यही कारणहै। कामनाही सबका मूलकारणहै। प्राण सूक्ष्महै। वाक् स्थूलाहै। बस इस 'पुरुषात्माधिकरण' के तीनों मन्त्र क्रमशः अव्यय की इन्हीं तीनों कलाओंका निरूपण करते हैं। प्रथम मन्त्र त्रिवृत मनका निरूपण करताहै। त्रिवृत् मनमें भी मन-प्राण-वाक् तीनों का सम्बन्धहै। अतः इस मन्त्रके तीन अर्थ होजातेहैं। मनप्रधान विज्ञाननीति पक्ष, प्राणप्रधान धर्म्मनीति पक्ष, एवं वाक् प्रधान राजनीति पक्ष. इसप्रकार तीन पक्षोंका निरूपण प्रथम मन्त्र करताहै। यही अवस्था त्रिवृत्प्राणतत्व प्रतिपादक द्वितीयमन्त्रकी एवं त्रिवृतवाक्तत्व प्रतिपादक तृतीयमन्त्रकी है। मनसे कामाका उदय होताहै। स्वकामना द्वारा मन ही विषयभोक्ताहै। भोग करना मनका कामहै। प्रथममन्त्र 'भुञ्जीथाः' इस रूपसे इसी मनोमय भोगतन्त्रका निरूपण करताहै। प्राणसे व्यापार होताहै। कर्तृतन्त्रका अधिष्ठाता प्राणहै। द्वितीयमन्त्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि रूपसे प्राणमय इसी कर्तृतन्त्रका निरूपण करताहै। वाक् धामच्छदहै। इससे आवरणका उदय होताहै। दूसरे शब्दोंमें यह वाक्तत्व आवरणतन्त्रका अधिष्ठाताहै। तृतीयमन्त्र 'तमसावृताः' इत्यादिरूपसे वाङ्मय इसी आवरण तन्त्रका निरूपण करताहै। भोग-कर्म्म-आवरण तीनोंही स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर भेदसे पृथक् २ विभक्तहैं। स्थूलशरीरके भोगमें मनको वाक्का सहारा लेना पड़ताहै, सूक्ष्मशरीर भोग में प्राणकी अपेक्षा होतीहै, एवं कारणशरीरभोगमें मनकी, प्रधानता रहतीहै। दूसरे शब्दोंमें भोग-कर्म्म-आवरण तीनों स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरभेदसे त्रेधाविभक्तहैं। तीनों मन्त्रोंनें इसी रूपसे निरूपण कियाहै। जैसाकि निरूपणीय विषयसे स्पष्ट होजायगा—

१.—मनःप्रधानं भोगतन्त्रम्—"**मनः**"

१.—विज्ञाननीतिः=कारणशरीरभोगो मनोमयः
२—धर्मनीतिः = सूक्ष्मशरीरभोगः प्राणमयः
३—राजनीतिः = स्थूलशरीरभोगो वाङ्मयः

} "ईशावास्यमिदं सर्वम्" १.

२—प्राणप्रधानं कर्तृतन्त्रम्—"**प्राणः**"

१–विज्ञाननीतिः=कारणशरीरकर्म्म मनोमयम्		
२–धर्मनीतिः =सूक्ष्मशरीरकर्म्म प्राणमयम्	" कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि "	२
३–राजनीतिः =स्थूलशरीरकर्म्म वाङ्मयम्		

३—वाक्प्रधानमावरणतन्त्रम्—"वाक्"

१–विज्ञाननीतिः=कारणशरीरावरणं मनोमयम्		
२–धर्म्मनीतिः =सूक्ष्मशरीरावरणं प्राणमयम्	" असुर्या नाम ते लोकाः "	३
३–राजनीतिः =स्थूलशरीरावरणं वाङ्मयम्		

उपरोक्त तालिकाके विषयक्रमको हृदयङ्गम करके ही आगेका प्रकरण देखनाचाहिए।

१—गूढोत्मा नामसे प्रसिद्ध विद्याकर्म्ममय अमृतात्मा

कारणशरीरपरकमात्मग्रामनयं भोगतन्त्रम्—

मन्त्रः

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

जगत्यां (संसारे) यत्किञ्च (यत् किमपि चराचरं) इदं सर्वं (तत्सर्वमपि वस्तुजातं) ईशा (जगन्नियन्त्रा षोडशीपुरुषेण) आवास्यं (अभिव्याप्यं–ज्ञेयमितिशेषः)। तेन (ईश्वरसत्तया) त्यक्तेन (प्रवृक्तेन–वस्तुना) भुञ्जीथाः (भोगं कुरु)। कस्य स्वित् (कस्यापि) धनं मागृधः। "जगतमें जो कुछ चराचर है, यह सब ईशकी सत्तासे आक्रान्त समझना चाहिए। ईशद्वारा छोडे हुए (नियत किए हुए) पदार्थ से ही भोग करना चाहिए। किसी के (पराए) वित्तकी इच्छा मतकरो" यह है मन्त्रका अक्षरार्थ।

पाठक सोचते होंगे कि प्रतिज्ञा की गई थी कि प्रथम प्रकरणमें अमृतात्मा का निरूपण किया जायगा। एवं बतलाया जाताहै कुछ ओरका ओरही। न उपरोक्त श्रुति के अक्षरों

से ही अमृतात्मा का निरूपण सिद्ध होता । यथार्थमें बात ऐसी ही है । यदि साधारणसी बात होती तवतो प्राचीन व्याख्याताओं के भाष्योंकी समालोचना करनेंका अवसर ही नहीं आता। वेदज्ञ विद्वान्–'परोक्ष प्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः' (गो.पू.२।२१) इस श्रौत सिद्धान्तसे भलीभांति परिचितहैं। आर्षप्रणाली के अनुसार यह एक ध्रुव नियमहै कि महर्षिगण तत्त्वद्विषयोंका प्रत्यक्ष रूपसे निरूपण न कर परोक्ष रूपसे ही उनका स्वरूप बतलाते हैं। अक्षर कुछ और होतेहैं, उनका प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न ही होताहै । साधारण रीतिसे किनारे पर पहुंचने के अनन्तर जहां गुहानिहित रहस्यार्थ के निरूपण का अवसर आताहै, वहां आप्त पुरुषोंके 'तद् गुरुमुखादेवावगन्तव्यम्' 'परिप्रश्नेन सेवया' इत्यादि आप्तवाक्य हमारे सामने उपस्थित होतेहैं । यह कहनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि आजदिन जितनेंभी वेदभाष्य उपलब्ध होतेहैं, वे गुरुपरम्परा की मर्य्यादासे बहिर्भूतहैं । वेदके रहस्यार्थ गुरुपरम्परा में ही सुरक्षितहैं । व्याकरणके बलसे वेदार्थका सम्यक् परिज्ञान कठिनही नहीं अपितु असंभवहै । वेदोंका तात्विक अर्थ गुरुओं में ही निहित रहताहै । चिरकालसे उस परम्पराका मार्ग बन्द होगयाहै । साथहीमें–वेदकी गुहानिहित गुप्त परिभाषाओंके निरूण करनें वाले रहस्य–निदान गाथा–वाकोवाक्य–नाराशंस आदि ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं होते, एसी अवस्थामें केवल स्वबुद्धिवलसे व्याकरणके बलपर किया हुआ वेदार्थ कभी उसके वास्तविक रहस्यको नहीं बतला सकता । परम्पराभिज्ञ–एवं गुरुकृपाके अधिकारियों के लिए इन्हीं अक्षरोंमें सब कुछ है । न देखनें वालोंके लिए देखतें हुएभी कुछनहीं । इसी भावका बडा सुन्दर निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहतीहै—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(ऋक्० १०।६।७१।४)

आज उसी विलक्षणरूपको आपके समक्ष उपस्थित किया जाताहै । अमृतात्माके निरूपण करने वाले इस प्रथम प्रकरण में तीन मन्त्रहैं । तीनों मन्त्रोंके प्रत्येकके तीन २ अर्थ होतेहैं । राजनीतिपक्ष, धर्मनीतिपक्ष, विज्ञाननीतिपक्ष, इसप्रकार तीनोंमें तीनोंपक्षोंका समावेश

है। तीनों मन्त्रोंके वैज्ञानिक अर्थ का ही 'अमृतात्मा' के साथ प्रधान सम्बन्धहै। शेष दोनों अर्थ गौणहैं। इन तीनों अर्थोंके अतिरिक्त एक चौथा दार्शनिक अर्थ औरहै। उसका हमारी दृष्टिमें कोई मूल्य नहींहै. अतः उसे छोडतेहैं। शेष तीनों अर्थोंकी ओरही आपका ध्यान आकर्षित करतेहैं। तीनों अर्थोंमें से 'सूची कटाह' न्यायके अनुसार पहिले राजनीतिपक्ष एवं धर्म्मनीतिपक्ष का ही निरूपण किया जाताहै।

१ राजनीतिपक्ष

भूतग्राममय-वाक्प्रधान-स्थूलशरीर सम्बन्धी भोग-

"स्थावर जंगमात्मक इस संसारमें जोकुछहै, वह सब किसी न किसी स्वामी की सत्तासे नित्य आक्रान्तहै। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका कोई स्वामी न हो। सबपर किसी न किसीका सत्व अवश्यहै। श्रुति आज्ञा देतीहै कि 'जबतक उस वस्तुपर उसके स्वामीका सत्व है, अधिकारहै, तबतक तुम उसे लेनेकी इच्छा मतकरो। हां जब वह वस्तु उसके सत्वसे पृथक् होजाय, तब तुम अवश्यही उसका भोग करसकतेहो। सावधान-अन्यस्वामीकी सत्तासे आक्रान्त वित्तपर कभी नियत मत डिगाओ। ऐसा करना समाजमें अशान्ति का साम्राज्य स्थापित करनाहै"-यह है इस मन्त्रका राजनैतिक, दूसरे शब्दों में सामाजिक अर्थ।

समाजकी शान्ति के लिए उपरोक्त नियमका परिपालन परम आवश्यकहै। यदि सबकी वस्तु सबकी मानली जातीहै, तो वह समाज कभी सुव्यवस्थित नहीं रहसकता। ऐसा होनेसे समाज उच्छिन्न होजाताहै। समाजमें बडी अव्यवस्था फैल जातीहै। समाजके सारे व्यवहार छिन्नभिन्न होजातेहैं। उदाहरणार्थ एक ऐसा रोगी सामने समझिए जो मृतप्रायहो। रोगी मरणशय्यापर आरूढहै। उपचारक वैद्यके जाताहै। वैद्य महोदय चिकित्सा पत्र (नुसखा) लिखदेतेहैं। उपचारक औषधालयमें दवा लेने जाताहै। इतने में ही उपचारक के एक अभिन्न मित्र आतेहैं, और उपहासमें आकर चुपचाप उसकी जेबमेंसे पैसे निकाल कर चले जातेहैं। कम्पाउंडर पैसे मांगताहै-यह देखतेहैं तो पैसे नहीं। कम्पाउन्डर इसे जानता नहीं। इस झगडेमें विलम्ब होजाताहै। समयपर औषधि नहीं पहुंचती। मित्रवरकी इस जरासी भूल

से रोगीके प्राण पखेरू उडजातेहैं। निदर्शन मात्रहै। आप अपने उपयोग में आनेवाली वस्तुओंको नियत स्थानपर रखदेतेहैं, एवं समय-समय पर उनसे कामलेते रहतेहैं। उपरोक्त 'तेन-त्यक्तेन भुञ्जीथा' इस आदेशको न मानने वाला कोई व्यक्ति आपकी सुव्यवस्थित वस्तुओंको अपने कामके लिए लेजाताहै, अथवा अस्तव्यस्त करदेताहै। सोचिए जब आपको समय पर वे वस्तुएं अस्तव्यस्त मिलतीहैं, अथवा उनमेंसे कोई वस्तु (जिसके बिना आपका उस समय का कार्य रुक जाताहै) नहीं मिलतीतो क्या हालत होतीहै। अनुभव रसिकही इस कठिनताका अनुमान लगासकतेहैं। कहना नहीं होगा कि आज भारतवर्षने अपने इस उपरोक्त सनातन श्रौत आदेशकी अवहेलना कर अपने समाजमें कैसी अशान्ति उत्पन्न करदी है। बडा भाई छोटे भाईके न्यायप्राप्त सत्वको हडपना चाहता है, पुत्र पिताके सत्वपर अनधिकार चेष्टा करना चाहताहै, पराया धन-पराई स्त्री सबपर यथेच्छ आक्रमण किया जारहाहै। फलतः भारतका प्रत्येक गृहस्थ ज्वालामुखी बनरहाहै। हमारा विनाश होरहाहै, हमारे हितचिन्तक न्यायालयोंका पोषण होरहाहै। जमीदारोंके अत्याचारोंसे त्रस्त गरीब किसान अपने सत्वमें वञ्चित होतेहुए अपनी दर्द भरी आहोंसे भारतके वैभवको भस्मसात् कररहेहैं। संसारको अपने सदुपदेशोंका पाठ पढाने वाला, संसारमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेवाला-'सर्वे सन्तु निरामयाः' का उद्घोष करनेवाला भारतवर्ष आज श्रौत आदेशोंका तिरस्कार करताहुआ संसारकी दृष्टिमें कैसा तिरस्कृत होरहाहै, यह बतलाना लेखिनीके सामर्थ्यके बाहरहै। ऐसी अवस्थामें समाज शान्ति के लिए यह पहिला-प्रधान अतएव आवश्यक कर्त्तव्य होजाताहै कि हम पराए सत्व पर कभी दृष्टि न डालें। व्यक्तिका-समाजका-देशका-राष्ट्रका-इतनाही नही समस्त विश्वका इसीमें कल्याणहै।

दूसरेकी वस्तु लेसकतेहो, कब !, जबकि उसपरसे उसका स्वामी अपना सत्व हटादे। जबतक उस वस्तुके साथ उसका ममत्वहै, तबतक उसे लेने का तुम्हें कोई अधिकारनहींहै। आप उपवनमें भ्रमणार्थ जातेहैं। आपकी दृष्टि सुवर्ण की खानपर पडतीहै। ऐसी स्थितिमें यह कभी मत समझो कि इसका स्वामी कोई नहींहै। चलो अपनही लेलें। विश्वास करो, उस प्रदेश का जो अधिपतिहै, वही इस खानका भी स्वामीहै। यदि विना उसकी आज्ञाके तुमने उसपर

अपनी नियत डिगाई तो तुम्हें राजदण्डका भागी बनना पडेगा। राजशासनके अनुसार पृथिवी का कोईभी भाग ऐसा नहींहै जहां किसी राजाकी सत्ता न हो। बस राजाने जितना भाग तुम्हारे लिए नियत कर रक्खा है, तुम उसी के अधिकारी हो। शास्ता राजा की सत्ता से पृथग्भूत भाग को भोगने में ही तुम्हारा, एवं तुम्हारे समाज का कल्याण है।

यह सब कुछ होने पर भी राजनीतिपक्ष में केवल सत्व हटाना ही अपेक्षित है। समान आकार वाले समान लम्बाई वाले दो वंश दंड आपके सामने रखकर आपसे कहा जाता है, कि आप इन दोनों में से एक वंश दंड को छोटा करदो, एक को बड़ा करदो। यह व्यवस्था दो तरह से हो सकती है। एक दंड का कुछ भाग काट दीजिए, सुतरां दूसरा दंड बड़ा रह जायगा। इसी का नाम राजनीति है। इस पक्ष में अन्य का पराजय ही अपना अभ्युदय है। इसी अभिप्राय से नीति का—

"आत्मोदयः परग्लानिर्नीतिरित्यभिधीयते" यह लक्षण किया जाता है धर्म्मनीति में ठीक इसके विपरीत है। एक दंड के ऊपर के भाग में एक लकडी का टुकड़ा और जोड दीजिए। इससे यह बडा हो जायगा। इस पक्ष में अन्य की हानि नहीं है, अपितु अपना अभ्युदय मात्र है।

उपरोक्त दोनों पक्षों से प्रकृत में केवल यही बतलाना है कि, राजनीति पक्ष में केवल सत्व छुडाना अपेक्षित है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि, चाहे जिस निर्बल को नष्टकर उसके सत्व पर अपना अधिकार जमालो। ध्यान रहे इस उद्दण्डता का बदला लेने वाला राजदण्ड तुम्हारे सर पर खड़ा है। यदि उसका भी सामना करने की शक्ति है. तो फिर—'जमी जोरू जोर की—जोर घटै तो और की' इस लौकिक आभाणक के अनुसार अवश्य ही तुम उस वस्तु पर अपना अधिकार जमा सकते हो। एक शक्तिसंपन्न प्रबल राजा दूसरे निर्बल राजा को परास्त कर उसकी संपत्ति को यदि अपने अधिकार में कर लेता है, तो राजनीति पक्ष के अनुसार ऐसा करने में कोई दोष नहीं है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि प्रसन्नता से अथवा अप्रसन्नता से इस पक्ष में सत्व हटाना मात्र अपेक्षित है। सत्व

हटाना पहिला काम है, यह तुम्हारा विजय है। विजयानन्तर विजित वस्तु पर अपना सत्व स्थापित करना दूसरा कार्य है। पुरायुग में—देवता-असुर-मनुष्य आदि प्रजाएं इसी मार्ग का अनुसरण करतीं थीं'। जैसाकि निम्नलिखित श्रौत आख्यान से स्पष्ट हो जाता है—

"देवाश्च वाऽअसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुव्यामिवासुः। अथ ते असुरा मेनिरे 'अस्माकमेवेदं खलु भुवन' मिति ते (असुराः) होचु:— हन्त इमां पृथिवीं विभजामहे तां विभज्य उपजीवाम—इति। तामौक्ष्णैश्चर्मभिः प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः। तद्वै देवाः शुश्रुवुः— विभजन्ते हवाऽइमामसुराः पृथिवीं, प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते। के वयं ततः स्याम यदस्यै न— भजेमहि—इति। ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः। ते होचुः— अनुनोऽस्यां पृथिव्या- माभजत, अस्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति। ते हासुरा असूयन्त-इवोचुः- यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वोदद्म इति। वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे। महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति। ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिः पर्य्यगृह्णन्। तं छन्दोभि रभितः परिगृह्य अग्निं पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त। एवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां संवृंक्ते। निर्भजत्यस्यै सपत्नान्यय एवमेतद् वेद"— शत० ब्रा० १।१।५)

जिस प्रकार अधिदैवतमंडलमें त्रैलोक्य व्यवस्था है, उसी प्रकार हमारे इस भूमंडल में भी त्रैलोक्य व्यवस्था थी। वही युग ब्राह्मण ग्रन्थों में **'देवयुग' 'पूर्वयुग'** आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। प्राकृतिक आसुरप्राणप्रधान मनुष्य असुर थे, दिव्यप्राणप्रधान मनुष्य देवता कहलाते थे। इन दोनों में सहज वैर था। किसी समय बलप्रधान असुरों ने सारे भूमण्डल पर अपना अधिकार कर लिया था। जब यह घटना देवताओं को विदित हुई तो उन्होंने विष्णु को आगे कर अपने दायाद पर पुनः अधिकार जमाया। उपरोक्त आख्यान आधिदैविक एवं आध्यात्मिक चरित्र के साथ साथ ही आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का भी निरूपण करता है। इन सब विषयों का विशद निरूपण शतपथब्राह्मण के विज्ञान भाष्य में किया जाचुका है। यह भाष्य मासिक रूप से जयपुर से प्रकाशित हो रहा है। अबतक इसके २४ अंक निकल चुके हैं।

उपरोक्त राजनीतिपक्ष में 'तेन' का अर्थ '**स्वामिकृतसत्वेन**' यही करना पड़ेगा। ऐसा भोग ही भयरहित होता हुआ शान्तिप्रद होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि यदि आप अपने समाज में शान्ति चाहते हैं, तो किसी भी वस्तु को बिना उसके स्वामी की इच्छा के, या आज्ञा के, किंवा सत्वपरित्याग के कभी अपने काम में मत लो। यदि तुमने इस नियम का उल्लंघन किया तो, यह व्यवस्था आगे जाकर उग्ररूप धारण करती हुई समाजनाश का कारण बन जायगी। इसलिए सदा सर्वदा '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' (अतः) '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' इस अनुशासन को सामने रखते हुए ही भोगों का भोग करना चाहिए। आपका, और आपके समाज का इसी में कल्याण है। ऊपर बतलाया जाचुका है कि, राजनीतिपक्ष में स्थूल शरीर के भोग का सम्बन्ध है। ऐसी अवस्था में यह भी सिद्ध होजाताहै कि जो व्यक्ति उपरोक्त राजनीति, दूसरे शब्दों में समाजनीति का उल्लंघन करता है, उसे कारावास, अथवा अन्य कोई शारीरिक दण्ड मिलता है॥

१—धर्म्मनीतिपक्ष
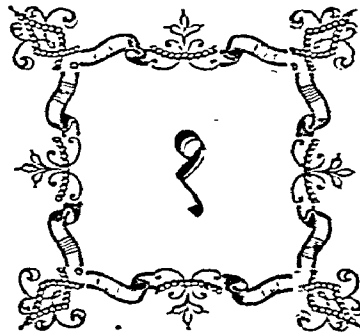
देवग्राममय-प्राणप्रधान-सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी भोग

"विश्व के यच्चयावत् पदार्थ स्वामी की सत्ता से आक्रान्त हैं। उस स्वामी की इच्छा से छोड़ा हुआ पदार्थ ही तुम अपने काम में लो। कभी अदत्तादान की इच्छा मत करो। इस आदेश के परिपालन से ही तुम इसलोक और परलोक में सुखी हो सकोगे" धर्म्मनीतिपक्ष का यही निष्कर्ष है। इस पक्ष में और सब अर्थ राजनीतिपक्ष से मिलता हुआ है। केवल इच्छा-अनिच्छा में अन्तर है। प्रसन्नता से-अथवा अप्रसन्नता से राजनीतिपक्ष में केवल सत्व हटाना अपेक्षित था, परन्तु प्रकृत में इच्छा की ही प्रधानता है। वर्त्तमानयुग के सभी राष्ट्र केवल राजनीतिपक्ष के ही अनुयाई हैं, परन्तु परलोकसत्ता को प्रधानता देनेवाला आर्यावर्त्त विज्ञानभित्तिपर प्रतिष्ठित धर्म्मनीति का ही प्रधानरूप से समर्थक है। इसका विश्वास है कि, बलात्कार से अथवा स्तेयकर्म्म से किसी की वस्तु को अपनी बनालेना अधर्म है। यह सत्य है कि, अधर्म्ममूलक राजनीतिमार्ग—"अधर्मेणैधतेपूर्वम्" के अनुसार कुछ दिन के लिए अवश्य ही उस मनुष्य को वैभवशाली बना देता है, परन्तु अन्ततोगत्वा 'समूलं च विनश्यति' के अनुसार उसका विनाश अवश्यंभावी है। राजनीति दुष्टों के दमन के लिए है। शान्ति की दुहाई देकर अपने आधीनों का सर्वस्व अपहरण कर लेना राजनीति नहीं है। ऐसी नीति को भक्षकनीति कहना उचित होगा। यही कारण है कि मनु-याज्ञवल्क्य-बृहस्पति-वसिष्ठ-विदुर-आदि भारतीय राजनैतिज्ञों ने धर्म्म को प्रधान मानते हुए ही सारी व्यवस्था की है। राजनीति के आचार्य ही धर्म्माचार्य हैं। इन आचार्यों का सिद्धान्त है कि, अन्यायोपार्जितद्रव्य तमोमय होता हुआ ज्योतिर्मय आत्मा को मलिन कर देता है। ऐसा मनुष्य इहलोक में राजदण्ड से दण्डित होता है, एवं परलोक में भी उसे निकृष्ट रौरवादि स्थान मिलते हैं। ऐसी अवस्था में पराई वस्तु को बलात्कार से उसके स्वामी की इच्छा के विरुद्ध लेने का प्रयास करना पाप होजाता है। जहां राजनीति केवल सत्व हटाने का आदेश करती है, वहां धर्मनीति इच्छा को ही प्रधान मानती है। दूसरे के ऊपर आक्रमण कर बलात्कार से उसको सत्व हटाकर, उस वस्तु को अपनी बना लेना राजनीतिपक्ष है। धर्म्मनीति में ऐसा नहीं है।

यहां वस्तु के स्वामी का सत्व प्रधान नहीं है, अपितु स्वयं स्वामी की प्रधानता है। यदि वह प्रसन्नतापूर्वक अपना सत्व हटाकर तुम्हें प्रसन्नता से दे देता है, तभी तुम उसके लेने के अधिकारी हो, अन्यथा नहीं। इसी उभयलोक कल्याणकारिणी धर्म्मनीति को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

"संसार के पदार्थमात्र का कोई न कोई अधिपति अवश्य है। जबतक प्रसन्नतापूर्वक वह तुम्हें न दे, तबतक उसे लेने की कभी अभिलाषा मत करो"। इस धर्म्मनीति से सम्बन्ध रखने वाला वित्त ही धर्म्मशास्त्र में दान शब्द से व्यवहृत हुआ है। दान में स्वसत्व की निवृत्ति होती है, एवं परसत्व का स्थापन होता है। यद्यपि राजनीतिपक्ष में भी स्वसत्वनिवृत्ति और परसत्वस्थापन है। परन्तु वहां एकान्ततः स्वसत्वनिवृत्ति नहीं होती। बलात्कार से हटा लेने पर भी उस मनुष्य का अन्तरात्मा उस वस्तु से एकान्ततः सम्बन्ध नहीं तोड़ता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि किसी निर्बल मनुष्य की संपत्ति को कोई सबल मनष्य बलात्कार से छीन लेता है तो, उस मनुष्य की "कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि, जिससे बलात्कार से छीनी हुई मेरी वस्तु पुनः मुझे मिल जाय" यह भावना बनी रहती है। वस्तुसम्बन्ध टूट जाने पर भी उस पर से उसका 'ममत्व'रूप सत्व नहीं हटता। इसलिए मान लेना पड़ता है कि, दान से सम्बन्ध रखने वाली स्वसत्वनिवृत्ति का राजनीतिपक्ष में अभाव ही है। कन्यादान, वस्त्रदान, अन्नदान, भूमिदान आदि अपनी इच्छा से किए जाते हैं। इच्छा सत्वमय मन की वृत्ति है। दान में यह वृत्ति दत्तपदार्थों से पृथक् हो जाती है। कन्यादान करने वाला धार्मिकमनुष्य भूलकर भी उस पर अपना सत्व स्थापित नहीं करना चाहता। अतएव धर्म्माचार्यों ने इस दान को सात्विकदान कहा है, एवं पूर्व के दान को दान न कहकर अपहरण कहा है। वह निकृष्ट है, यह उत्तम है। वह कहने का ऐहलौकिकसुखसाधनभूत होता हुआ भी, परमार्थतः दुःख का कारण बनता हुआ पारलौकिक सुख का विरोधी है। यह उभयलोक में कल्याणप्रद है। पूर्व प्रकरण में बतलाया जाचुका है कि, धर्म्मनीति का प्रधानरूप से सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध है। इस व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति पूर्वोक्त धर्म्मनीति का तिरस्कार कर उत्पथगामी बनता है, उसका सूक्ष्मशरीररूप अन्तःकरण मलिन हो जाता है। यही प्रकृतमन्त्र का दूसरा अर्थ है। २

३—विज्ञाननीतिपक्ष

आत्मग्राममय-मनप्रधान-कारणशरीर सम्बन्धी भोग

विज्ञानपक्ष ही इस मन्त्र का प्रधानपक्ष है। इस प्रकरण में इसी का निरूपण किया जायगा। प्रकरण आरम्भ करें इसके पहिले हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं। प्रचलित अध्यपनाध्यापन प्रणाली को देखते हुए यह मान लेना पड़ता है कि, आज हम वैदिक तत्वों से वहुत दूर निकल गए हैं। हमारा यह निश्चय है कि, उपलब्ध वेदभाष्यों से आप कभी वेद के वास्तविक गुहानिहित अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि, उपनिषदर्थ के साथ साथ ही उन गुप्त परिभाषाओं का स्वरूप भी पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जाय। विषय अतिप्रत्न होता हुआ भी अति नवीन है। अतः प्रत्येक प्रकरण के साथ तत्सम्बन्धी ब्रह्मविज्ञान का निरूपण आवश्यक हो जाता है। ऐसा करने से हमें पुनरुक्तिदोष का आश्रय लेना पड़ता है, जो कि परिस्थिति देखते सर्वथा क्षम्य है। मन्त्रके गौणअर्थों का निरूपण होचुका, अब मुख्यार्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

रसवलात्मक मायावच्छिन्न समीम परात्पर का नाम 'अव्ययपुरुष' है। समीम होने के कारण ही यह पुरुष हृदयवल से युक्त होजाता है। असीम परात्पर हृदयवल से रहित होता हुआ निष्काम था, परन्तु हृत्प्रतिष्ट मन के कारण यह पुरुष सकाम है। वह निष्कल था, यह सकल है। विविध कलाओं से युक्त अतएव 'सकल' नाम से प्रसिध्द इस सकल विश्व का अधिष्ठाता यही सकलपुरुष है। मायावल के उदय से हृदयवल उत्पन्न हुआ। यही हृदय-वल आगे जाकर 'अक्षर' नाम से प्रसिध्द होता है। यही अक्षर सारे विश्व का कर्ता होने से 'प्रकृति' नाम से व्यवहृत होता है। जबतक हृदय है, तभी तक ससीम पुरुष है, एवं जबतक मायावाच्छिन्न पुरुष है, तभीतक हृदयरूपा प्रकृति है। दोनों अविनाभूत हैं। इसी आधार पर—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्दयनादी उभावपि" यह कहा जाता है।

प्रश्न होता है कि अव्ययपुरुष, एवं उसकी प्रकृति का क्या स्वरूप है ? उत्तर स्पष्ट है। सिवाय रसबल के और तीसरा तत्व कहां से आवेगा। रस-बल, अमृत–मृत्यु, अस्ति–नास्ति, सत्–असत्, इत्यादि विविध नामों से प्रसिध्द आत्मतत्व के अतिरिक्त सचमुच अन्य का अभाव है। यही कारण है कि अस्तिनास्तिरूप प्रकृति–पुरुप के समन्वय से उत्पन्न होने वाले विश्व में समष्टिरूप से, एवं व्यष्टिरूप से सर्वत्र आपको अस्ति–नास्ति–इन्ही दो भावों के दर्शन होंगे। भावद्वयोपेत प्रत्येक पदार्थ—'सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः' प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' त्रीणि ज्योतींषि सचते स पोडशी' 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यादि के अनुसार प्रजापति स्वरूप है। सेन्द्रिय हो, अथवा अनिन्द्रिय सब पदार्थ प्राण से युक्त होते हुए प्राणी हैं। प्रत्येक प्राणी (पदार्थ) प्रजापति है। इसी विज्ञान के आधार पर प्रजापति का—'यद्वै किंच प्राणि स प्रजापतिः' (शत० ११।१।६।१७) यह लक्षण किया जाता है। यह प्रजापति 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' (शत० १०।१।४।१)के अनुसार अमृतमृत्युमय है। आधाभाग अमृत है, एवं आधाभाग मर्त्य है। दोनों–'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्' (शत० १०।५।२।३) के अनुसार एक दूसरे में ओत प्रोत हैं। यदवच्छेदेन अमृत है, तदवच्छेदेनैव मृत्यु है। यही सम्बन्ध 'अन्तरान्तर्गीभाव' नाम से प्रसिध्द है।

विज्ञानशास्त्र का यह निश्चित सिध्दान्त है कि–'किसी भी वस्तु को सर्वात्मना देखने के लिए ६ भावों का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तु के विभिन्नदिक् से ६ फोटू लेने पर ही उसका पूरा स्वरूप पकड़ में आता है। जबतक ६ तरह से वस्तु को नहीं देखा जाता, तबतक उसका पूरा दर्शन नहीं हो सकता। इन ६ दृष्टियों में तीन अमृत दृष्टि है, एवं तीन मृत्यु दृष्टि है। अस्तिनास्तिरूप अमृत्युमय पदार्थ में अस्ति भाग को भी तीन तरह से पकड़ा जाता है, एवं नास्ति भाग को भी तीन तरह से देखा जाता है। प्रत्येक पदार्थ को ६ तरह से देखा जाता है, इसी विज्ञान के आधार पर दर्शनविज्ञानप्रतिपादक भारतीयदर्शन ६ भागों में विभक्त है।

प्रचलित परिपाटी के अनुसार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा (पूर्वमीमांसा),

वेदान्त-(उत्तरमीमांसा), भेद से आस्तिक दर्शन ६ माने जाते हैं, एवं नास्तिकदर्शन भी-चार्वाक, माध्यमिक योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, आर्हत इस प्रकार ६ ही माने जाते हैं। इस क्रमविभाग में हमारी दृष्टि में विप्रतिपत्ति है। विप्रतिपत्ति का कारण यही है कि, आत्मदर्शन का उपाय बतलाने वाला शास्त्र ही 'दर्शन' है। आत्मा में अमृत-मृत्यु दो ही भाव हैं, एवं प्रत्येक के साथ तीन तीन दृष्टियो का ही सम्बन्ध है। ऐसी अवस्था में दर्शन कुल ६ ही हो सकते हैं। आस्तिक-नास्तिक दोनो दर्शनों के ६-६ विभाग मानना विज्ञान विरुद्ध है। न्यायशास्त्र को आज दिन दर्शन माना जाता है, परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। न्यायशास्त्र कथाशास्त्र है। उसमें व्यावहारिक न्याय (कानून) का निरूपण है, जैसाकि न्यायशास्त्रके मूलभूत निम्नलिखित सूत्र के दिग्दर्शन से स्पष्ट हो जाता है। न्याय के मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

> "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-
> तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रह-
> स्थानानां तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः"—(न्यायसूत्र १।१।) इति ॥

न्याय सम्बन्धी राजकीय शासन, न्यायालय, न्यायाधीश, प्राड्विवाक (वकील), आदि सब इसी उपरोक्त सूत्र से संचालित हैं। एक सुचतुर प्राड्विवाक को, एवं न्यायाधीश को सत्यन्यायनिर्णय के लिए, एवं तद्द्वारा देश का एवं अपना अभ्युदय करने के लिए उपरोक्त सूत्रप्रदर्शित नियमों का सम्यक् परिपालन परम आवश्यक होजाता है। हमारे शास्त्र ने न्यायालयोंके साहस, दाय आदि विविध यह तीन विभाग मानेहैं। वर्त्तमानयुग में यही विभाग फौजदारी, दीवानी ...... आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों विभागों में आने वाले न्यायभिक्षुओं के सत्यन्याय के लिए प्राड्विवाकादि को पूर्वोक्त नियमों को ही अपनाना पड़ता है। किसी भी सुचतुर वकील को अपने फरीकसानी (मुअक्किल-न्याय चाहने वाला) को सच्चा साबित करने के लिए जिन जिन उपायों का आश्रय लेना पड़ता है, उपरोक्त सूत्र उन्हीं का दिग्दर्शन कराता है।

विजय का पहिला एवं मुख्य साधन प्रमाण (सुबूत) है। यदि वह प्रमाण निरर्थक है तो

उसका कोई उपयोग नहीं। प्रमाण का उपयोग तभी होना चाहिए, जबकि किसी विषय को पुष्ट करना हो। प्रमेय (जिस विषय को सिद्ध करना है वह विषय) की सिद्धि के लिए ही 'प्रमाण' की अपेक्षा होती है। प्रमाण की प्रमाणता संशय (ईशु) पर निर्भर है। विना संशयोत्थापन के प्रमेय की वस्तु स्थिति का पता लगाना कठिन हो जाता है। प्रमाण-प्रमेय-संशय के अनन्तर अपना प्रयोजन न्यायाधीश के सामने उपस्थित करता है। विषयस्वरूप प्रमेय की सिध्दि से वादी एवं प्रतिवादी अपना क्या लाभ चाहते हैं? वही प्रयोजन है। विना प्रयोजन के प्रमेय, एवं प्रमेयसम्बन्धी प्रमाण और संशय की उत्थानिका व्यर्थ है। प्रयोजनसिध्दि के लिए दृष्टान्त (नजीर) की अपेक्षा होती है। "अमुक न्यायालय के अमुक न्यायाधीश (जज) ने अमुक प्रमेय के सम्बन्ध में यह निर्णय किया था, वही परिस्थिति हमारे प्रमेय की है" यह वतलाना दृष्टान्त है। आज तो इन्हीं दृष्टान्तों के आधारपर (नजीर संग्रह-जो कि इलाहाबाद हाईकोर्ट के फैसलों का संग्रह है) सारे निर्णय किए जाते हैं। प्राड्विवाकों की जीविका का प्रधान एवं सुलभ साधन यही दृष्टान्त संग्रह है। दृष्टान्त यदि सामयिक होता है तो, निश्चित सिद्धान्त पर न्यायाधीश की दृष्टि चली जाती है। इसलिए ऋषि ने दृष्टान्त के आगे ही सिद्धान्त का समावेश किया है। इस सिद्धान्त के याथातथ्य के लिए पञ्चावयव वाक्य का सहारा लेना पड़ता है। आजकल के न्यायालय इस पञ्चावयववाक्यसिद्धि से सर्वथा दूर हैं। यही कारण है कि, कई वार वास्तविक निर्णय में वड़ी कठिनता उपस्थित हो जाती है। प्राचीनभारत के न्यायाधीश इसी पंचावयव वाक्य के द्वारा दूध का दूध, और पानी का पानी करने में पूर्ण समर्थ थे। पंचावयववाक्य को दृढमूल करने के लिए तर्क (वहस) का आश्रय लेना पड़ता है। तर्क से अवश्यमेव निर्णय दृढमूल हो जाता है। यह सव कुछ हुआ, परन्तु मानलीजिए न्यायाधीश किसी कारण-विशेष से अपने हठ पर है, तो ऋषि आज्ञा देते हैं कि ऐसी विषम परिस्थिति में तुम्हें वाद—जल्प—एवं वितण्डा का (आवश्यकतानुसार—क्रमशः) अनुगमन करना चाहिए। "जव सारी परिस्थिति हमारे अनुकूल है तो, फिर जज महोदय को निर्णय में क्या आपत्ति है" इस प्रकार के उत्तर प्रत्युत्तर का ही नाम 'वाद' है। यदि इसके एकवार कहने से न्यायाधीश

का ध्यान तुम्हारी ओर आकृष्ट नहीं होता तो तुम्हें बार २ इसे दोहराना चाहिए। यही जल्प है। यदि इस पर भी काम न चले तो जरा जोर से बोलो। "जब हम सब तरह सच्चे साबित होरहे हैं, तो फिर क्यों नहीं हमारे प्रमेय पर ग़ौर किया जाता" इस प्रकार जोश में आकर कहीं कहीं मर्यादा का उल्लंघन करते हुए बोलो—यही वितण्डा है। यदि वितण्डा से भी काम न चले तो "सत्यपक्ष की रक्षा के लिए 'नरो वा कुञ्जरो वा' इत्यादि के अनुसार विषमस्थिति में असत्य का आश्रय लेने में कोई दोष नहीं" इस आर्ष सिद्धान्त के अनुसार असत्य दृष्टान्तों का सहारा लो। "अमुक हाईकोर्ट में अमुक विषय में अमुक निर्णय हुआ था। उस निर्णयपुस्तक के अमुकपृष्ठ की अमुकपंक्ति में अमुक निर्णय है"—यह सहसा बोल पड़ो। यही हेत्वाभास (मिथ्या हेतु) है। यदि इससे भी काम न चले तो प्रतिवादी का वकील स्वपक्ष समर्थन के जो तर्क उपस्थित करता है, भुलावे में डालकर उसे तर्कच्युत करो। दूसरे शब्दों में उसे धोका दो। यही 'छल' है। यदि उपरोक्त सभी उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, तो ऐसी अवस्था में एकमात्र उपाय बच जाता है—"जातिनिग्रह"। वादी एवं प्रतिवादी (मुद्दई—मुद्दालय) की ओर से प्रमेय के सम्बन्ध में कुछ नियम निश्चित रहते हैं। दोनों को उन निश्चित नियमों का पालन करते हुए स्वपक्ष समर्थन करना पड़ता है। मानलीजिए आप सच्चे हैं, परन्तु प्रमादवश प्राड्विवाक ने उन निश्चित नियमों के विरुध्द बोल दिया तो प्रतिवादी के प्राड्विवाक की ओर से उसी समय आप रोक दिए जांयगे। लक्ष्यच्युत (out of point) होते ही आपका मुकदमा डिसमिस कर दिया जायगा। इसी का नाम 'जातिनिग्रह' है।

इस प्रकार यदि इन सब पूर्वोक्त नियमों का सम्यक् परिज्ञान है तो विजय अवश्यंभावी है। हम उन दर्शनभक्तों से पूंछते हैं कि, क्या आत्मज्ञान के लिए वाद—जल्प—वितण्डा—छल आदि का आश्रय अपेक्षित है? कदापि नहीं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, न्यायशास्त्र—न्यायशास्त्र है। कानून की किताब है। अपनी ही मूर्खता से आज हम अपने घर की इस अमूल्यनिधि से वंचित होते हुए परमुखापेक्षी बन रहे हैं। आज उपरोक्त नियमों का पालन होता है, केवल शुष्क शास्त्रार्थों में। भारतवर्ष के कतिपय विद्वानों का अनुमान

है कि, हमारे शास्त्रों में केवल आत्मवाद ही है। लौकिक व्यवहारों से हम विद्वानों का क्या सम्बन्ध। उधर भगवन् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वे मानवाः ॥मनुः॥

आज हम अपने शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय कुछ और का और ही समझ रहे हैं। अस्तु इस सारे प्रपंच से प्रकृत में हमें यही वतलाना है कि, कथाप्रधान न्यायशास्त्र कभी दर्शन नहीं माना जासकता। क्योंकि [1]'आत्मदर्शनत्व' ही दर्शनशास्त्र का अवच्छेदक है। यही अवस्था पूर्वमीमांसा की है। मीमांसा कर्म्मकाण्ड है। उसका आत्मदर्शन से क्या सम्बन्ध। यही अवस्था उपासना प्रधान योगशास्त्र की है। इसी आधार पर भगवान् वादरायण को—'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (व्याससूत्र) यह कहना पड़ा है। ऐसी अवस्था में दर्शन शब्द के अधिकारी—वैशेषिक—प्राधानिक—शारीरिक—यह तीन शास्त्र वच जाते हैं। परात्पर-विशिष्ट पंचकल अव्यय, पंचकल अक्षर, पंचकल आत्मक्षर—इस प्रकार कलाभेद से षोडशकल, एवं पुरुष भेद से (अव्यय—अक्षर—क्षर—भेद से) त्रिकल तत्व ही आत्मा है। इसे ही हमने विद्याकर्म्ममय गूढोत्मा नाम से व्यवहृत किया है। यही वास्तविक आत्मा है। इसका दर्शन ही दर्शन है। जो शास्त्र इस त्रिपुरुषपुरुषात्मक आत्मा के दर्शन का उपाय वत-लाता है, वही दर्शनशास्त्र कहलाने का अधिकारी है। वैशेषिक दर्शन आत्मा के क्षर भाग का निरूपण करता है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गीता) के अनुसार भौतिक प्रपंच आत्मा की क्षर कला का विकास है। विकार संश्लिष्ट आत्मा का क्षर भाग द्रव्यकोटि में प्रविष्ट हो जाता है। यही वैशेषिक का निरूपणीय विषय है। इसी आधार पर इस शास्त्र में 'आत्मा को द्रव्य माना गया है, जोकि क्षर दृष्टि से सर्वथा उचित है। भौतिक विज्ञान (Matiral Science) का भी इसी में अन्तर्भाव है।

---

[1] इन सारे विषयों का विशद निरूपण श्रीगुरुप्रणीत गीताविज्ञानभाष्य के—'आत्मदर्शन रहस्य' नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

इसी आधार पर इस शास्त्र में 'आत्मा' को द्रव्य माना गया है, जो कि क्षर दृष्टि से सर्वथा उचित है। क्षरप्रधान भौतिक विज्ञान का भी इसी में अन्तर्भाव है। अक्षर प्रकृति है। प्रकृति को ही प्रधान कहते हैं। सांख्यदर्शन इसी अक्षररूप प्रधानतत्त्व का निरूपण करता हुआ 'प्राधानिक' नाम से व्यवहृत हो रहा है। यह शास्त्र अव्ययेश्वर का सृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मानता। तीसरा शारीरिकदर्शन अक्षरसंश्लिष्ट अव्यय का निरूपण करता है। शरीरका अभिमान रखनें वाला—'अहम्' तत्त्व है, एवं गीताविज्ञान से परिचित विद्वानों को यह भलीभांति विदित है कि अहंपदवाच्य अव्यय ही है। दो तीन स्थलों को छोड़कर गीता में सर्वत्र अहंशब्द अव्ययेश्वर के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस शारीरिक तत्त्व का निरूपण करनेवाला शास्त्र ही वेदान्तदर्शन नाम से प्रसिद्ध है।

षोडशी पुरुषो गूढोत्मा

१ अव्ययपुरुषः=वेदान्तदर्शनम्
२ अक्षरपुरुषः=सांख्यदर्शनम्
३ क्षरपुरुषः = वैशेषिकदर्शनम्

तदित्थमात्मदर्शनं त्रेधा विभक्तम्

आनन्दविज्ञानादि अव्ययकी पांच कलाओं में से मन—प्राण—वाक्—इन तीन कलाओं को सृष्टिविद्या में प्रधानता दी जाती है। इसी आधारपर सृष्टिसाक्षी आत्माका—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' (बृ० आ० उपनिषत्) यह लक्षण किया जाता है। मन ज्ञानशक्ति है, प्राण क्रियाशक्ति है, वाक् अर्थशक्ति है। तीनों की उन्मुग्धावस्थाही 'सत्ता' किंवा 'अस्ति' तत्त्व है। सत्ता का—'मनःप्राणवाचां संघातः सत्ता' यही लक्षण होसकता है। इन तीनों में ज्ञानप्रधान मन का विकास अव्यय पुरुष में है, क्रियाप्रधान प्राण का विकास अक्षर में है, एवं अर्थ प्रधाना वाक् का विकास क्षर में है। अव्यय मनप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्त्ति है, अक्षर प्राणप्रधान होता हुआ क्रियामूर्त्ति है, एवं क्षर वाक्प्रधान होता हुआ अर्थमूर्त्ति है। प्रत्येक पदार्थ अर्थ (द्रव्य) है। उस में क्रियारूप से प्राण है। प्राण का संचालक श्वोवसीयसमन सर्वान्तर्निगूढ़ है। मन से रूप का विकास है, प्राण से कर्म्म का विकास है, एवं वाक् से नाम का उद्गम है। नाम—रूप—कर्म्म उस पदार्थ का मृत्युस्वरूप है. एवं तदाधारभूत मन—प्राण—वाक्—अमृतस्वरूप है। पूर्वोक्त परि-

मृत्युभाग हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। "घटोऽस्ति" (घड़ा-है), इस वाक्यमें घट नामरूपकर्म की समष्टि है। एवं 'अस्ति'भाग (है–यह तत्त्व) मन प्राण वाक् का समुच्चय है। नामरूपकर्म्म मर्त्य होनें से प्रतिक्षण विलक्षण होतेहुए नास्ति स्वरूप है। "क्षणिकं क्षणिकम्, अत एव शून्यं शून्यम्, अत एव दुःखं दुःखम्, अत एव स्वलक्षणं स्वलक्षणम्" ही इसका वास्तविक स्वरूप है। अस्तिवत् नास्ति भी तीनही भागों में विभक्त है, ऐसी अवस्था में नास्तिक दर्शन के भी १–लौकायतिक, २–वैनाशिक, ३–आर्हत, यह तीन ही विभाग रह जाते हैं। इस प्रकार अस्ति नास्ति के समुच्चयसे कुल ६ ही दर्शनों की सत्ता मानना युक्तिसंगत अत एव उचित है। अस्तु विज्ञानप्रधान उपनिषत् में दर्शन को अधिक महत्व नहीं दिया जासकता। इस पर्वनिदर्शन से बतलाना यही है कि वह जगन्मूल मायी अव्यय रसवलात्मक है। रस अस्ति है, वल नास्ति है। "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय" (गीता) इस स्मार्त्त सिद्धान्तके अनुसार वही अव्ययपुरुष सबकुछ बनाहुआ है। वही प्रकृति है, वही विकृति है। ऐसी अवस्था में सर्वत्र रसवल का अनतिरेक मानना पड़ता है। रसवल का समुच्चय ही पुरुष है, रसवल की समष्टि ही प्रकृति है, यह मानलेनेपर भी दोनों की प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य अवश्य मानना पड़ता है। पहिले पुरुष को ही लीजिए। मायाके कारण पुरुष हृदयवलावच्छिन्न है। हृदयावच्छिन्न रसवल का सुच्चय ही 'श्वोवसीयस' मन है। मन से कामना का उदय होता है। मन रसवलात्मक है, अत एव उस से निकलनें वाली कामना के भी दो ही रूप होजाते हैं, वलगर्भिता रसप्रधाना कामना असंगरस की प्रधानताके कारण 'मुमुक्षा' कहलाती है। रसगर्भिता वलप्रधाना कामना ससंग वल की प्रधानताके कारण 'सिसृक्षा' कहलाती है। इन दो विरुद्ध कामनाओं के द्वारा केन्द्रस्थ मनपर रस और वलकी पृथक् २ चिति होती है। चिति का कर्त्ता हृदयरूप अक्षर है। मुमुक्षा से अक्षरद्वारा मनपर रसचिति होती है, यही अन्तश्चिति कहलाती है, एवं सिसृक्षासे अक्षरद्वारा मनपर वलचिति होती है, यही वहिश्चिति नाम से प्रसिद्ध है। इन सब विषयोंका भूमिका प्रकरण में विशद निरूपण किया जाचुका है। प्रकृत में यही समझलेना पर्य्याप्त होगा कि मनोमय अत एव एककल वह अव्यय पुरुष सिसृक्षा–मुमुक्षा के प्रभाव से चेतना रूप अक्षरद्वारा होनेंवाली

भाषा के अनुसार दोनों की समष्टि ही तत्तत्पदार्थका अस्तित्व है। मन–प्राण–वाक्–इन तीनोंमें मन सुसूक्ष्म है, इस का कारणशरीर से सम्बन्ध है, प्राण सूक्ष्म है, इस का सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध है, एवं वाक् स्थूला है, इस का स्थूलशरीर से सम्बन्ध है। यह तीनों अवयव प्रज्ञामात्रा (मन)–प्राणमात्रा (प्राण)–भूतमात्रा (वाक्), आत्मग्राम (मन)–देवग्राम (प्राण)–भूतग्राम (वाक्), बीजचिति (मन)–देवचिति (प्राण)–भूतचिति (वाक्)–आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों में 'स्थूल.रुन्धति' न्याय के अनुसार पहिला विभाग वाङ्मय स्थूलशरीर का है। इस का प्रतिपादन करने वाला वैशेषिक दर्शन है। (द्रव्यरूप) भूतात्मा की आधार भूमि यही है। इसका विश्रामस्थान परमाणुवाद है। दूसरा प्राणमय सूक्ष्मशरीरहै। इसका प्रतिपादक सांख्यदर्शन है। यही कर्म्मात्माकी आधार भूमि है. एवं कारणशरीरप्रतिपादक शास्त्र 'वेदान्त' दर्शन है। यही विज्ञानघन औपनिषत् पुरुष की आधार भूमि है। अस्तितत्त्व–मन–प्राण–वाक्–भेद से तीन भागों में विभक्त है, एवं सत्ता ही ब्रह्म है, आत्मा है। इस त्रिकल आत्मा के दर्शन तीन ही हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में 'अस्तितत्त्व निरूपक' आस्तिकदर्शन तीन ही मानें जा सकते हैं—

१.–कारणशरीर = प्रज्ञामात्रा = आत्मग्राम = आत्मविभाग–मनोमय	'अस्ति ब्रह्म'
२.–सूक्ष्मशरीर = प्राणमात्रा = देवग्राम = प्रकृतिविभाग–प्राणमय	
३–स्थूलशरीर = भूतमात्रा = भूतग्राम = विकृतिविभाग–वाङ्मय	

१.–पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः = मनप्रधानो ज्ञानमूर्त्तिः	"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः।"
२–पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः = प्राणप्रधानः क्रियामूर्त्तिः	
३–पञ्चकलः क्षरपुरुषः = वाकप्रधानः–अर्थमूर्त्तिः	

१-अव्ययप्रधान-मनोमय-कारणशरीरसम्बन्धी = मनोदर्शन–वेदान्तदर्शन	आस्तिकदर्शन
२-अक्षरप्रधान-प्राणमय-सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी = प्राणदर्शन–सांख्यदर्शन	
३-क्षरप्रधान-वाङ्मय-स्थूलशरीर सम्बन्धी = वागदर्शन–वैशेषिकदर्शन	

यही स्थिति नास्तिक दर्शन की है। यहां भी ६ विभाग मानना भ्रान्ति ही है। कारण स्पष्ट है। पूर्वोक्त मनप्राणवाङ्मय अस्तितत्त्व अमृत हैं। इस अमृत के नाम–रूप–कर्म्म–यह तीन

चिति के कारण आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक् भेदसे पञ्चकल होजाता है। यही पञ्च-कलात्मक, किंवा पञ्चकोशात्मक अव्यय पुरुष विश्वका आलम्बन है। इस आधार भूमिपर प्रतिष्ठित होता हुआ अक्षरपुरुष मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय के सहारे क्षरद्वारा वैका-रिक विश्वका निर्माण किया करता है। साथही में आनन्द–विज्ञान–मनोमय मुक्तिसाक्षी अव्यय का आलम्बन लेताहुआ, निवृत्तिकर्मप्रधानअक्षर ग्रन्थिविमोक किया करता है। वही मन प्राण वाग्द्वारा सृष्टि का प्रभव है, एवं वही आनन्दविज्ञानमन द्वारा विश्वका परायण बनता है। इसी आधारपर श्रुति कहती है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

(मुण्डकोपनिषत्)

'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः' (गीता) के अनुसार अक्षरही अव्यक्त तत्व है। वही सबका प्रभव प्रतिष्ठापरायण है। जैसा कि स्मृति कहती है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

(गीता)

आनन्द शुद्धरस है। यहां बल सर्वथा प्रसुप्त है। निर्वचनसाधक बल के प्रसुप्त होनें से ही शान्तस्वरूप आत्मानन्द सर्वथा अनिर्वचनीय है। विज्ञान में रसकी प्रधानता है, बल गौण है। मन में रसबल दोनों समान हैं। इसी आधारपर 'उभयात्मकं मनः' यह कहाजाता है। इसी प्रकार वाक् शुद्ध बल मात्र है। यहां रस सर्वथा प्रसुप्त है। प्राण बलप्रधान है, रस गौण है। आनन्द–विज्ञान–मनोमय अव्यय रसप्रधान होनेसे 'विद्या' स्वरूप है, एवं मनप्राण-वाङ्मय अव्यय बलप्रधान होताहुआ 'अविद्या' रूप है। विद्याव्यय 'ब्रह्म' है। अविद्याव्यय कर्म्म है। ब्रह्मकर्म्म की समष्टि ही 'ओम' (ईश्वर) है. यही 'अहम्' (जीव) है, यही 'अहः' (जगत्) है। अधिदैवतमण्डल की उपनिषत् 'ओंकार' है, अधिभूतकी उपनिषत् 'अहस्कार' है, एवं अध्या-

त्म की उपनिषत् 'अहंकार' है । 'नातोऽन्यत् किञ्चिदस्ति' । आनन्द–विज्ञान–मन को हम ने विद्या बतलाया है । परन्तु विद्या विना कर्म्म के अनुपपन्न है । इस बलरूप कर्म्म के तारतम्य से विद्याभाग में भी ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है। आनन्द शुद्धज्ञानमूर्त्ति है, विज्ञान क्रियामूर्त्ति है, मन अर्थमूर्त्ति है । यही अवस्था मन–प्राण–वाक् प्रधान कर्म्मभाग की है । मन ज्ञान है, प्राण क्रिया है, वाक् अर्थ है । मन से काम का उदय होता है, प्राण से विक्षेप होता है, एवं वाक् तत्त्व आवरण का जनक है । जो कुछ हम आंखों से देखते हैं, वह वाक्पिण्ड है । इसी आधार पर "अथो वागेवेदं सर्वम्" यह कहा जाता है। वाङ्मय प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ व्यापार किया करता है, यही विक्षेप है । बिना ज्ञान के क्रिया सर्व्वथा अनुपपन्न है । वही ज्ञान काममय मन है । उस के भीतर विज्ञान है । सर्वान्तरतम आनन्द है । आनन्द एवं विज्ञान सृष्टि में सर्वात्मना अनुस्यूत रहते हुए भी कामना रहित होने से सृष्टि के वहिर्भूत है । मनप्राणवाङ्मय अव्यय सृष्टि का आलम्बन है, दूसरे शब्दों में विद्याभाग से वह सृष्टि मर्य्यादा से वहिर्भूत है, एवं कर्म्मदृष्ट्या सृष्टि में अन्तःस्यूत है। उस के लिए "मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि भूतानि" दोनों ही ठीक हैं। यह भूतों में है भी नहीं भी, है। अत एवच किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में अपनी शक्ति रखने वाला शब्दशास्त्र कदापि उस का निरूपण नहीं कर सकता। शब्दशास्त्र उसी विद्याभाग का निरूपण करेगा, जो कि विश्व में प्रविष्ट होकर सोपाधिक बन गया है । पूर्व कथनानुसार विश्व के प्रत्येक पदार्थ में विद्या–कर्म्म दोनों निविष्ट हैं । विद्याभाग अन्तर्निगूढ है, कर्म्मभाग वहिःस्तर में है । मन–प्राण–वाङ्मय सत्तामात्र का सब को समान प्रत्यय होरहा है। परन्तु अन्तर्निगूढ आनन्द–विज्ञान से साक्षात्कार करना साधारण यथाजात मनुष्यों के लिए दुर्लभ है । हमारी दृष्टि प्रथम मनप्राणवाङ्मय कर्म्मभाग पर पड़ती है । अतः स्थूलारुन्धति न्याय से पहिले उसी का निरूपण अपेक्षित है। यही कारण है कि श्रुति ने प्रारम्भ के तीन मन्त्रों से उसी कर्म्माव्यय का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है । कर्म्म भाग के निरूपण के साथ साथ ही अकर्म्मस्वरूप विद्याभाग का भी निरूपण गतार्थ हो जाता है। कारण शुद्धविद्या का स्वतन्त्ररूप से निरूपण करना सर्वथा असम्भव ही हो जाता है ।

"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" ।
"कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः" ।
"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"—

इत्यादि श्रौतस्मार्त सिद्धान्तों के अनुसार शुद्ध विश्वातीत अकर्म्माव्यय मनप्राणवाङ्मय कर्माव्यय से अभिन्न है। कर्म्म निरूपण से ही विद्वानों को अकर्म्म का स्वरूप समझ लेना चाहिए। इस प्रकार मन्त्रत्रयात्मक हमारा प्रथम प्रकरण विद्यागर्भित अव्यय के कर्म्मभाग का निरूपण करता हुआ अवश्यमेव १—"विद्याकर्म्ममयः पुरुषो गूढोत्मा—अमृतात्मा" इस शीर्षक का अधिकारी बन जाता है।

शेष बचता है सोपाधिक विद्याभाग। आगे के प्रकरण में उसी का निरूपण है। स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी इन पांचों ब्रह्मसत्यों की समष्टि ही विश्व है। वह षोडशी पुरुष स्वालम्बन पर अक्षर द्वारा क्षर के विकारों से इसे उत्पन्न कर, इस में प्रविष्ट होजाता है। अत एव "विशति यत्र आत्मा" इस व्युत्पत्ति से यह पञ्चपुरसमष्टि "विश्व" नाम से प्रसिद्ध होती है। पंचावयव विश्व के पांचों अवयव आत्ममय होने से विद्या कर्म्म मय हैं। इन दोनों में से कर्म्म का निरूपण तो प्रथम प्रकरण से ही गतार्थ होजाता है। बाकी बचता है विद्याभाग। यह वेदस्वरूप में परिणत होकर ही आगे आगे क्रमशः अवतीर्ण होता है। वेद—विद्या—ब्रह्म तीनों परमार्थदृष्टि से अभिन्न हैं, जैसा कि भूमिका में विस्तार से बतलाया जाचुका है। उपनिषत् प्रकरण का दूसरा विभाग (अनेजदेकम्०—इत्यादि) स्वयम्भू का निरूपण करता हुआ "ब्रह्मनिश्वसित" रूप विद्याभाग का निरूपण करता है। तीसरा प्रकरण (सपर्य्यगात्० इत्यादि) परमेष्ठी का निरूपण करता हुआ "ब्रह्मस्वेद" रूप विद्याभाग का निरूपण करता है। चौथा प्रकरण (अन्धं तमः० येऽविद्याम्० इत्यादि) सूर्य्य का निरूपण करता हुआ "गायत्रीम त्रिक" रूप विद्याभाग का निरूपण करता है। पांचवां प्रकरण (अन्धं तम० येऽसम्भूतिं० इत्यादि) चन्द्रमा का निरूपण करता हुआ चन्द्र-विद्या का निरूपण करता है। एवं ६ ठा प्रकरण पार्थिव "यज्ञमात्रिक" रूप विद्याभाग का निरूपण करता है। इस प्रकार प्रारम्भ से समाप्तितक तत्तत् खण्डात्माओं का निरूपण

करती हुई यह उपनिषत् एकमात्र विद्याकर्म्मात्मक अव्ययेश्वर का ही निरूपण करती है। अव्यय साक्षात् ईश्वर है। ईश्वर ही ईश है। यह विद्याकर्म्म द्वारा सब का शास्ता बन रहा है। प्रकृत उपनिषत् में इसी का निरूपण है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर हमने मुख-पृष्ठ पर—"विद्याकर्म्ममयगूढोत्मावर्णनपरेयमुपनिषत" यह लिखने का साहस किया है। शुद्धविद्यागर्भित अव्यय का मनभाग का निरूपण करता हुआ ही—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्" यह प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है।

"सब कुछ ईश की सत्ता से आक्रान्त है। अतः उस से प्रवृक्त भाग का ही भोग करो। अन्य वस्तु की इच्छा मत करो" यह है उपरोक्त मन्त्र का तात्पर्य्यार्थ। क्या संसार में कोई ऐसा पदार्थ है, जो ईश्वरसत्ता से पृथक् होजाय? जब कि—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि आप्तसिद्धान्त सर्वत्र ईशसत्ता का अविनाभाव मानते हैं, तो ऐसी अवस्था में—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" यह कैसे कहा गया? इस प्रश्न के समाधान के लिए निम्नलिखित—"प्रवर्ग्यविद्या" की ओर आप का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

प्रवर्ग्यस्वरूपनिरूपण

इसी पुरुष में पञ्चकल अव्यय पुरुष की सत्ता है। पञ्चकल अक्षर, एवं पञ्चकल आत्मक्षर अव्ययपुरुष की अन्तरङ्ग प्रकृतिएं हैं, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में कई बार कहा जाचुका है। प्रवर्ग्य का स्वरूप निरूपण करने के लिए आज पुनः उसी विषय की ओर दृष्टि डाली जाती है। पुरुष और प्रकृति के समन्वय से सारी सृष्टिए होती हैं। यह प्रकृति तत्त्व अन्तरङ्ग—बहिरङ्ग भेद से दो भागों में विभक्त है। "स्वभाव" नामा से प्रसिद्ध अन्तरङ्ग प्रकृति की अक्षर—क्षर यह दो अवस्थाएं हैं, एवं "परभाव" नाम से प्रसिद्ध बहिरङ्ग प्रकृति की ब्रह्म—यज्ञ यह दो अवस्थाएं हैं। उधर अव्यय पुरुष की भी विद्या—कर्म्म भेद

से दो ही अवस्थाएं हैं। इस प्रकार पुरुष–अन्तरङ्गप्रकृति–बहिरङ्गप्रकृति इन तीनों की विद्या-कर्म्म, अक्षर–क्षर, ब्रह्म–यज्ञ यह ६ अवस्थाएं होजाती हैं। प्रत्येक पदार्थ इन छओं की समष्टि है। इसी आधार पर —"पाट्कौशिकमिदं सर्वम्" यह अनुगम प्रसिद्ध है। सर्वान्त में प्रतिष्ठित यज्ञपुरुष से विकार उत्पन्न होते हैं। आप जो कुछ देखते हैं, सब विकारसङ्घ है। विकार कूट में यज्ञ प्रतिष्ठित है। यज्ञ का (यौगिकतत्त्व का) आधार ब्रह्म (मौलिक तत्त्व) है। ब्रह्म (विकारक्षर) का आधार क्षर (आत्मक्षर) है। क्षर का आलम्बन अक्षर है। अक्षर का आलम्बन विद्याकर्म्ममय अव्यय पुरुष है। यह ६ ओं आत्मविवर्त्त क्रमशः भातिब्रह्म, अस्तिब्रह्म, परमब्रह्म, अपरब्रह्म, विश्वसृड्ब्रह्म, पञ्चजनब्रह्म, इन नामों से भी व्यवहृत होते हैं। पञ्चकल विकारक्षर विश्वसृड् ब्रह्म है। इस ब्रह्म की पांचों कलाएं पांचों में आहुत होतीं हैं। इसी को हमने पूर्व प्रकरण में "सर्वहुतयज्ञ" कहा है। सर्वहुत यज्ञमूर्त्ति क्षरतत्त्व पञ्चीकृत होने से "पञ्चजन" नाम से प्रसिद्ध है। इसी को हमने "यज्ञब्रह्म" कहा है। इसी सर्वहुत ब्रह्म यज्ञ से आगे का सारा वैकारिक विश्व उत्पन्न होता है। अव्ययतत्त्व पुरुष है, ब्रह्मयज्ञ विभूति हैं। विश्व विकृति है। पुरुष, प्रकृति, विभूति, विकृति इन चारों की समष्टि ही "सर्वम्" है। अव्ययाक्षरात्मक्षरगर्भित पञ्चब्रह्मात्मक प्राणमय प्रजापति ही सर्व कामना से प्रेरित होकर सर्वहुत यज्ञ उत्पन्न करता है। यज्ञ के साथ साथ ही यज्ञ को उपादान बनाकर सारी वैकारिकी प्रजा उत्पन्न करता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर प्रजापति कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवस्त्विष्टकामधुक् ॥ (गीतोपनिषत्)

यह यज्ञपुरुष पञ्चीकृत प्राण–आप–वाक्–अन्न अन्नादमय है। इन पांचों कलाओं से यज्ञपुरुष द्वारा शब्द–रूप–रस–गन्ध–स्पर्श यह पांच अणुभूत उत्पन्न होते हैं। यही अणुभूत आगे जाकर आकाशादि महाभूतों में परिणत होजाते हैं। शब्दसृष्टि से प्रारम्भ कर स्वयम्भू आदि पुरसृष्टि पर्य्यन्त सारा भाग वैकारिक विश्व है। यह वैकारिक विश्व उस यज्ञपुरुष का अन्न है। दूसरे शब्दों में इस वैकारिक विश्व की उस महायज्ञपुरुष में निरन्तर आहुति

हो रही है। विश्व में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो उस में हुत न होता हो। इसी लिए वह यज्ञपुरुष "सर्वहुत" नाम से प्रसिद्ध है। इस यज्ञपुरुष में आहुत होने वाला अन्न "ब्रह्मौदन" "प्रवर्ग्य" भेद से दो प्रकार का है। ब्रह्मौदन से यज्ञपुरुष अपना स्वरूप सुरक्षित रखता है, एवं प्रवर्ग्य सम्पूर्ण विश्वप्रजा को उत्पन्न करता है। यह प्रवर्ग्यभाग "उच्छिष्ट" नाम से प्रसिद्ध है। यही सब का उपादान है। इसी आधार पर—"उच्छिष्टात् सकलं जगत्" यह कहा जाता है। ब्रह्मौदन एवं प्रवर्ग्य दोनों ही अन्नादयज्ञ के अन्तर्भूत होने के कारण यज्ञनाम से प्रसिद्ध हैं। सर्वव्यापक अव्ययाक्षरात्मक्षरब्रह्मगर्भित अत एव ईश्वररूप इस यज्ञपुरुष के ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य दो मस्तक हैं। सर्वशरीर में मस्तकभाग मुख्य माना जाता है। उधर यज्ञपुरुष के ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य भाग ही सर्वाधार होते हुए मुख्य है। अतः इन्हें इस का शिर कहना ही उचित होता है। इसी द्विशीर्ष यज्ञपुरुष का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

> चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे. सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ इति ॥

"चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक, सात हाथ वाला महादेव वृषभमूर्त्ति (गोमूर्त्ति) यज्ञपुरुष तीन स्थानों से बंधा हुआ मर्त्य प्रजा में प्रविष्ट होरहा है" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। हिरण्यगर्भमूला सृष्टि के अनुसार विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य को सब का संचालक माना जाता है। "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" (प्रश्न० उ०) के अनुसार सूर्य्य को ही सब का उपादान माना जाता है। पूर्वोक्त यज्ञप्रजापति सूर्यात्मक बन कर ही विश्व प्रजा का निर्म्माण करता है। कारण इस का यही है कि षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का सूर्य में ही विकास होता है। स्वयम्भू–परमेष्ठी दोनों सूर्य के ऊपर हैं। पृथिवी चन्द्रमा नीचे है। मध्य में सूर्य हैं। 'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः' (शत०ब्रा०) के अनुसार बृहत् नाम से प्रसिद्ध सूर्य विश्व भुवनों के मध्य में स्थित है। 'आयं गौः पृश्निरक्रमीत्' (यजुः सं०) के अनुसार पृश्नि (सप्तवर्णात्मक) सूर्य्य गौ नाम से प्रसिद्ध है। यह वृषभमूर्त्ति सूर्य्य साक्षात् यज्ञमूर्त्ति है। पारमेष्ठ्यसोम इस में निरन्तर आहुत होता रहता है। इसी आधारपर सूर्य के लिए 'सूर्यो ह

वा अग्निहोत्रम्' (शत० २।५।६।५) यह कहाजाता है। यह यज्ञात्मक सूर्य्य वृषभ ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य भागसे युक्त है। यही इसके दो मस्तक हैं। एक ही सौरतेज प्रातः–मध्याह्न–सायं भेद से तीन स्वरूप धारण करलेता है। प्रातःकाल का सौरतेज गायत्र है, मध्याह्न का सौर तेज सावित्र है, एवं सायंकालीन तेज सारस्वत है। यही तीनों याज्ञिक परिभाषा में प्रातः-सवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सवनभेद से त्रिधा विभक्त होकर यह त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित होरहा है। प्रतिष्ठास्वरूप यही तीन सवन उस वृषभ के तीन पैर हैं। खगोलविद्या के अनुसार सौरमण्डल— गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती इन सात छन्दों (अहोरात्रवृत्त–किंवा पूर्वापरवृत्त) पर प्रतिष्ठित है। क्रान्तिवृत्तस्वरूप एक पहिए वाले सुनहरी (हिरण्मय–आग्नेय) रथ का एक अश्व है। उसी के वृत्तभेद से सात नाम हैं। 'एको अश्वो वहति सप्त नामा' (ऋक् सं०) के अनुसार उपरोक्त छन्द ही सात अश्व हैं। यही छन्दोमूर्त्ति सात अश्व उस वृषभ के सात हाथ हैं। ऋग्–यजुः-साम–अथर्व–यह चारों वेद यज्ञ के आधार हैं।'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः'(शत०ब्रा १०कां.)'त्रयी वा एषा विद्या तपति' (शत० ब्रा० १० कां.) इत्यादि के अनुसार सूर्य त्रयी मूर्त्ति है। बिना वेद के यज्ञवितान असंभव है। वेद मौलिक तत्त्व है, यज्ञ यौगिक तत्त्व है। यज्ञपुरुष के मस्तक ब्रह्मौदन प्रवर्ग्य हैं। इन दोनों की भी प्रतिष्ठा वेदचतुष्टयी है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही वेदचतुष्टयी को उस के सींग मानें जासकते हैं। मन्त्र–कल्प–ब्राह्मण–इन तीन मर्य्यादाओं से वह यज्ञपुरुष बद्ध है। 'चित्रं देवानामुदगात्' (यजुः संहिता) के अनुसार सम्पूर्ण देवताओं का संचालक होता हुआ सूर्य महादेव है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुः संहिता) के अनुसार वही यज्ञमूर्त्ति वृषभ सबका आत्मा बना हुआ है। उपरोक्त मन्त्र अनुगम मन्त्र है। अतः इस के कई अर्थ होते हैं। विस्तार भय से प्रकृत में केवल एक ही अर्थ का दिग्दर्शन कराया गया है।

ब्रह्मौदन शब्द का 'ब्रह्म के खाने का भात' यही अर्थ है। स्वयम्भू के नीचे परमेष्ठी(भृग्वङ्गिरात्मक अथर्वाप्रजापति) है–जैसा कि 'सपर्यगात्०' इत्यादि मन्त्र निरूपण में स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि स्वयम्भू को भी यज्ञपुरुष के अन्तर्गत माना जाता है, परन्तु वस्तुतः वह

आपोमय अत एव असंग होता हुआ यज्ञमर्यादा से बाहर ही रहता है। यज्ञ का सोमाहुति से सम्बन्ध है। एवं—'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' (शत० ब्रा० ३ कां.) के अनुसार तृतीय द्युलोकस्थानीय परमेष्ठी सोममय है। ऐसी अवस्था में यज्ञ का उपक्रम स्थान परमेष्ठी को ही मानना पड़ता है। इसी आधारपर सोमवंशी—पारमेष्ठ्य गोसवात्मा विष्णु को 'यज्ञ' नाम से व्यवहृत किया जाता है। प्राणमय स्वयम्भू ब्रह्मा का प्रथम अत एव ज्येष्ठपुत्र पारमेष्ठ्य अथर्वा ही यज्ञ का प्रथम प्रवर्त्तक है। इसी के द्वारा यज्ञ वैतानिक सूर्य में प्रतिष्ठित होता है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर अथर्वश्रुति कहती है—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥
(अथर्व सं० २०।२।२५।५)

ब्रह्मौदन—क्षत्रौदन दोनों का प्रवर्त्तक अथर्वा है, ब्रह्माक्षरमय स्वयम्भू ब्रह्म है। इन्द्राक्षरमय सूर्य 'क्षत्र' है। क्षत्ररूप सूर्य, ब्रह्मरूप स्वयम्भू के मध्य में पारमेष्ठ्य अथर्वा प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म और क्षत्र त्रिवृत्रूप पारमेष्ठ्य अथर्वा के ओदन हैं। इसी अभिप्राय से उपनिषच्छ्रुति कहती है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ (कठोपनिषत्)

उपरोक्त ब्रह्मौदन याज्ञिक परिभाषानुसार 'चातुः प्राश्य' नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञमस्तक के उपरिभाग में ऋक्—साम—यजु—अथर्व—यह चार सींग प्रतिष्ठित हैं। इन चारों से क्रमशः हौत्र, औद्गात्र, आध्वर्यव, ब्रह्मत्व यह चार कर्म्म संपादित होते हैं। अग्निदेवता ऋग्वेद के द्वारा हौत्रकर्म्म पूरा करते हैं, वायुदेवता यजुर्वेद द्वारा आध्वर्यव कर्म्म संपन्न करते हैं, आदित्य देवता सामवेद द्वारा औद्गात्र कर्म्म का संचालन करते हैं, एवं चन्द्रमा अथर्व द्वारा ब्रह्मत्व के अधिष्ठाता बनते हैं। इन चार ऋत्विजों के कारण—यज्ञेश्वर में आहुत होने[1] वाला

---

१ इस विषयका विशद विवेचन कठके विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

ब्रह्मौदन चार भागों में विभक्त होजाता है। इसीलिए यह–'चातुःप्राश्य' नाम से व्यवहृत किया जाता है। एक एक प्राश लोक–देव–होत्र–होत्रका भेद से पुनः चतुर्द्धा विभक्त हो-जाता है। इस प्रकार षोडशप्राशात्मक चातुःप्राश्य ब्रह्मौदन से यज्ञमूर्त्ति अथर्वा का स्वरूप संपन्न होता है। यही ओदन यज्ञ का वास्तविक स्वरूप है। पूर्वोक्त मन्त्र इसी का निरूपण करता है। उपरोक्त सारा विषय नीचे लिखी तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है—

गूढोत्मा—षोडशी प्रजापतिः

आत्मा		प्रकृतिः		विभूतिः		विकृतिः				
विद्या	कर्म्म	अक्षरः	क्षरः	ब्रह्म	यज्ञः	भूतानि	महाभूतानि	अध्यात्मम्		
आनन्द	आनन्दः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	प्राणः	प्राणः	शब्दः	आकाशः	श्रोत्रम्	वाक्	प्राणः
विज्ञानम्	विज्ञानम्	विष्णुः	विष्णुः	आपः	आपः	स्पर्शः	वायुः	त्वक्	पाणी	अपानः
मनः	मनः	इन्द्रः	इन्द्रः	वाक्	वाक्	रूपम्	तेजः	चक्षुः	पादौ	समानः
प्राणः	प्राणः	अग्निः	अग्निः	अन्नादः	अन्नादः	गंधः	पृथिवी	घ्राणम्	पायुः	उदानः
वाक्	वाक्	सोमः	सोमः	अन्नम्	अन्नम्	रसः	जलम्	जिह्वा	उपस्थं	व्यानः
भातिब्रह्म	अस्तिब्रह्म	परमब्रह्म	अवरब्रह्म	विश्वसृड्-ब्रह्म	पञ्चजन-ब्रह्म	अणूनि	महान्ति	अ.सो.	अ.गो.	वायुः
रसप्रधानम्	बलप्रधानम्	रसप्रधानम्	बलप्रधानम्	रसप्रधानम्	बलप्रधानम्	रसप्रधानम्	बलप्रधानम्	ज्ञानम्	कर्म्म	वायुः
भावाः सृज्यन्ते भावसृष्टिः		गुणाः सृज्यन्ते गुणसृष्टिः		विकाराः सृज्यन्ते विकारसृष्टिः						

"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।
.... विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥"

चातुःप्राश्यं ब्रह्मौदनम्-(यज्ञस्वरूपं ब्रह्मौदनम्) यज्ञोच्छिष्टं प्रवर्ग्यः

यज्ञश्चतुष्पात्	प्रथमः प्राशः	द्वितीयः प्राशः	तृतीयः प्राशः	चतुर्थः प्राशः	यज्ञः
लोकाः	पादः १ पृथिवी ऋचामयनम्	२ अन्तरिक्षम् यजुपामायतनम्	३ द्यौः साम्नामायतनम्	४ आपः भग्वङ्गिरसामयनम्	वेदिः
देवाः	पादः १ अग्निः-होता	२ वायुः-अध्वर्युः	३ आदित्यः-उद्गाता	४ चन्द्रमाः ब्रह्मा	ऋत्विजः
होत्राः	पादः १ ऋक्	२ यजुः	३ साम	४ ब्रह्म	यज्ञसाधनम्
होत्रकाः	पादः १ हौत्रम्	२ आध्वर्यवम्	३ औद्गात्रम्	४ ब्रह्मत्वम्	इतिकर्त्तव्यता

अन्नाद में अन्न की आहुति होना ही यज्ञ है। अन्नाद अग्नि है अन्न सोम है। अग्नि में सोम का आहुत होना ही यज्ञ है। यह अन्न अन्नाद सम्बन्ध, सम्बन्धभेद से अनेक प्रकार का होजाता है। वे सम्बन्ध—स्वाहा, स्वधा, वौषट्, स्वगा, नमः. आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। देवान्न स्वाहा है, पित्र्यन्न स्वधा है, इन्द्रान्न वौषट् है, गौणदेवान्न स्वगा है, मनुष्यान्न नमः है। प्रकारान्तर से अन्न सम्बन्ध—अन्तर्याम, वहिर्याम, उपयाम, उद्याम, अप्तोर्याम, यातयाम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन सम्बन्धों में से प्रकृत में अन्तर्य्याम, वहिर्य्याम यह दो सम्बन्ध अभिप्रेत हैं। चितिसम्बन्ध, किं वा आत्मसम्बन्ध अन्तर्याम कहलाता है। एवं योगसम्बन्ध वहिर्य्याम कहलाता है। यही दोनों सम्बन्ध याज्ञिक परिभाषा में क्रमशः स्वधा–स्वाहा नाम से व्यवहृत होते हैं। पानी वह रहा है—क्यों ? अग्निसम्बन्ध से। "अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्" (वैशेषिक दर्शन) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार अग्नि सम्बन्ध से ही पानी घनावस्था (तुषारावस्था–वर्फ) में परिणत होता है। एवं तरलाग्नि वर्फ को पानी वना डालता है। पानी को तरल बनाने वाला अग्नि जिस सम्बन्ध से पानी में प्रविष्ट होरहा है; वही सम्बन्ध 'अन्तर्याम" सम्बन्ध कहलाता है। पानी में प्रविष्ट अग्नि ने अपना तापस्वरूपआत्मा पानी के अर्पण करदिया है। अग्नि का ताप पानी को तरल बनाने में आत्म समर्पण किए हुए है, दूसरे शब्दों में अग्नि पानी का आत्मा बना हुआ है। जिस दिन यह अग्नि उस से पृथक् हो जायगा, पानी का स्वरूप ही नष्ट होजायगा। अत एव इस अन्तर्याम को धर्म्माचार्यों ने "स्वरूपधर्म' नाम से व्यवहृत किया है। यही सम्बन्ध—"स्वं–आत्मानं–आत्मस्वरूपं धत्ते" इस व्युत्पत्ति से 'स्वधा' कहलाता है। हम अपने वैश्वानर अग्नि में अन्न की आहुति देते हैं। हुत अन्न—रसासृग्मांसादि रूप में परिणत होता हुआ अन्तर्यामसम्बन्ध से हमारा आत्मा (प्रज्ञानात्मा) वन जाता है। इस प्रकार जो पदार्थ अन्य में प्रविष्ट होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता छोड़ता हुआ, तद्रूप वन कर उस के स्वरूप को प्रतिष्ठित रखता है, ऐसा सम्बन्ध ही अन्तर्याम सम्बन्ध है। 'मघवा' नाम से प्रसिद्ध द्युलोकस्थ सौर इन्द्र इसी सम्बन्ध से हमारा आत्मा वनता है। इसी अभिप्राय से "अन्तर्यामे मघवन् मादयस्व" यह कहा जाता है। अन्तर्य्याम सम्बन्धावच्छिन्न स्वधा वह

अन्न है, जो देवता में जाकर उस की स्वरूपरक्षा करता हुआ उस का आत्मा बन जाता है। सौम्यप्राण पितर है। सोम स्नेह तत्त्व है। इस से युक्त होने वाला अन्न स्नेहधर्म्म के कारण इस के साथ ग्रन्थिबन्धन युक्त हो जाता है। अन्तः प्रविष्ट होजाता है। अत एव यह पित्र्यन्न 'स्वधा' कहलाता है।

पानी को आप गरम करते हैं। गरमी पानी में घुस पड़ती है। इस अग्नि और पानी का क्या सम्बन्ध ? इस प्रश्न का समाधान है, बहिर्यामसम्बन्ध। यह ऊष्मा आगन्तुक-धर्म्म है, स्वरूपधर्म्म नहीं। यह आगन्तुक अग्नि कभी पानी का आत्मा नहीं बन सकता। यदि आत्यन्तिक अग्निसंयोग किया जायगा तो वही आगन्तुक धर्म्मरूप अग्नि पानी को धूम (वाष्प) रूप में परिणत करता हुआ उस का स्वरूप ही नष्ट कर देगा। पानी को गरम किया, थोड़े समय पश्चात् फिर वह ठंढा है। यह ठीक है कि यह आगन्तुक अग्नि पानी के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हो जाता है, परन्तु विश्वासकीजिए यह केवल "**संशर**" (ढीला) बन्ध है, ग्रन्थि नहीं। यही कारण है कि थोडी देर बाद पानी फिर ठंढा हो जाता है। विज्ञानदृष्टि से तो थोडी देर बाद कहना भी अनुचित है। सर्वथा उष्ण पानी को एक हौज में भर दीजिए। ऊपर से फव्वारा लगा दीजिए। उस में से सहस्रधारा बन कर जो सीकर (जलकण) निकलेंगे उन्हें आप ठंढा पावेंगे। कारण यह उष्मा पानी का आगन्तुक धर्म्म है। यही कारण है कि इस के आगमन–निर्गमन से पानी की कोई विशेष क्षति नहीं होती। यही सम्बन्ध 'स्वाहा" है। आग्नेयप्राण देवता हैं। अग्नि तेजतत्व है। अग्नि विशकलन धर्म्मा है। स्नेह प्रधान सोमवत् आगन्तुक पदार्थ इस में संसक्त न होकर विशकलित होजाते हैं। अग्निप्राणप्रधान देवता में आहुत अन्न–अन्तःप्रविष्ट न होकर केवल बाहर ही बाहर व्याप्त रहता है, अतः "अह्नाति स्वं" इस व्युत्पत्ति से देवान्न को "स्वाहा" कहा जाता है। इसी विज्ञान के आधार पर निगम श्रुति कहती है—

---

१ इस विषय का विषद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के "अष्टविध देवता" प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। (देखो १ वर्ष १०–११–१२–अंक)

दशाक्षरयुक्त—मर्त्यामृतभावापन्न विराडग्निः					—आत्मा १
४—१—अग्निः,	वायुः,	आदित्यः,	चन्द्रमाः		—प्रजा २
४—२—वसवः,	रुद्राः,	आदित्याः,	विश्वेदेवाः		
४—३—पृथिवी,	अन्तरिक्षम्,	द्यौः,	आपः		
४—४—ऋग्वेदः,	यजुर्वेदः,	सामवेदः,	ब्रह्मवेदः		
४—५—वसन्तः,	ग्रीष्मः,	वर्षा,	शरत्		—पशुः ३
४—६—गायत्री,	त्रिष्टुप्,	जगती,	अनुष्टुप्		
४—७—प्राची,	प्रतीची,	उदीची,	दक्षिणा		
४—८—त्रिवृत्,	पञ्चदश,	सप्तदश,	एकविंशः		
४—९—वाक्,	प्राणः,	चक्षुः,	श्रोत्रम्—अन्तर्वित्तम्		—वित्तम् ४
४—१०—होता,	अध्वर्युः,	उद्गाता,	ब्रह्मा—बहिर्वित्तम्		
४०	स एष विराट् प्रजापतिः[१]				

१—इस विषय का विशद विवेचन शतपथ के विज्ञान भाष्य के विराड्यज्ञ निरूपण में देखना चाहिये।

उपरोक्त प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रवर्ग्यान्न दशाधा विभक्त होता हुआ, 'विराट्' है। इसी आधार पर विराट् को अन्न कहा जाता है, जैसा कि निम्नलिखित श्रुतियों से स्पष्ट हो जाता है—

१—'स वा एष दशधा चतुः संपद्यते। दश च ह वै चतुर्विराजोऽक्षराणि तद्गर्भा उपजीवन्ति। श्रीर्वै विराट्। यज्ञोऽन्नाद्यम्। श्रियमेव तद् विराजं यशस्यन्नाद्ये प्रतिष्ठापयति। प्रतितिष्ठन्तीरिदं सर्वमनुप्रतितिष्ठति-प्रजया पशुभिर्य एवं वेद" (गोपथ ब्रा० पू० ५।२०।) इति ॥

२—"अन्नं विराट्। तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति, स एव भूयिष्ठं लोके विराजति। तद् विराजो विराट्त्वम्" ॥ (ऐ० ब्रा० १।५।) इति ॥

३—"एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं यद्विराट्" ॥ (कौ० ब्रा० १४।२।) इति ॥

ब्रह्मौदन ईश्वर प्रजापति का शरीर है। प्रवर्ग्य उसका यश है। प्रजापति से उत्पन्न होने वाली प्रजा में प्रजापति की सत्ता नहीं है अपि तु प्रजा में प्रजापति के यश की सत्ता प्रतिष्ठित है। जो स्थिति देशाधिपति की है, वही स्थिति विश्वाधिपति की है, प्राजापत्यतन्त्र ही राजतन्त्र की प्रतिष्ठा है। प्रजा की सारी संपत्ति शास्ता राजा की मानी जाती है, परन्तु प्रवर्ग्य रूप से। राजकोष (खजाना) मात्र ही राजा का ब्रह्मौदन है। ग्राम नगरादि प्रवर्ग्य हैं। इनमें राजा की सत्ता व्याप्त है। राजा के द्वारा त्यक्त इसी प्रवर्ग्य का सारी प्रजा भोग करती है। बस-'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इसका यही संक्षिप्त उत्तर है। पूर्व प्रतिपादित प्रवर्ग्यविद्या के आधार पर ही इसका उत्तर प्रतिष्ठित था, अतः अप्राकृत होने पर भी उसका स्वरूप बतलाना पड़ा। अब पुनः प्रकृत का अनुसरण किया जाता है।
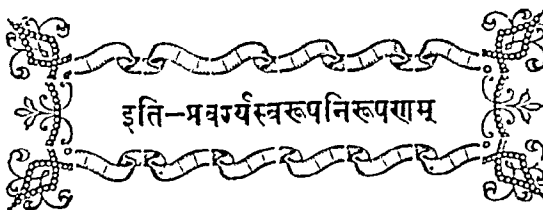
म्बसृष्टि से प्रारम्भ कर ब्रह्मसृष्टि पर्यन्त सांख्य परिभाषानुसार तमोविशाल, रजोविशाल, सत्वविशाल भेद से तीन प्रकृतियों में विभक्त स्तम्बोपलक्षित तमोविशाल धातु औषधि वनस्पतिवर्ग, कृमि-कीट पशु पक्षि मनुष्य भेद भिन्न रजोविशाल सृष्टि, पिशाच-राक्षस यक्ष गंधर्व पित्र्य-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म भेद भिन्न दिव्यसृष्टि, एवं विज्ञान परिभाषा के अनुसार असंज्ञा (धातुसृष्टि) ,अन्तः संज्ञा (मूलसृष्टि), संसज्ञा (जीवसृष्टि), भेद भिन्ना सारी सृष्टिएं विश्वेश्वरमूर्त्ति उस विश्वयज्ञ का प्रवर्ग्य है। हम (विश्वान्तर्गत चतुर्दशविधभूतसर्ग) जैसे उस ईश्वर प्रजापति के, दूसरे शब्दों में यज्ञ प्रजापति के प्रवर्ग्य हैं, तद्वत् वह विश्वेश्वर किसका प्रवर्ग्य? एवं विश्वेश्वरात्मा का शरीरस्थानीय विश्व किस का प्रवर्ग्य है ? यह प्रश्न उपस्थित होते हैं। निम्नप्रकरण में इन्हीं के समाधान की चेष्टा की जाती है—

थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लीजिए अभी—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी पांचों उत्पन्न नहीं हुए। इन पांचों से पहिले क्या था ? वही पूर्वप्रतिपादित षोडशी-पुरुष। परात्परविशिष्ट पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर समष्टि-रूप षोडशीपुरुष ही विश्व के पहिले विद्यमान था। उस पुरुष का स्वरूप अक्षर और आत्मक्षर के आधार पर ही प्रतिष्ठित था। कारण यही है कि हृदयभावप्रतिपादिका प्रकृति से शून्य पुरुष-सीमारूप (लेखारूप) पुरभाव से बहिर्भूत होकर असीम होता हुआ परात्पर ही बन जाता है। प्रकृति के समन्वय से ही परात्पर का एक प्रदेश सावच्छिन्न होता हुआ पुरुष पदभाक् हो जाता है। प्रकृति विशिष्ट अव्यय पुरुष ही—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीत ······)

के अनुसार ईश्वर है। यही विश्वेश्वर उस परात्पर का प्रवर्ग्य है। यह उस परमेश्वर से त्यक्त भाग है। ईश्वरपुरुष इसी से अपनी सत्ता प्रतिष्ठित रखता है। परात्पर का यह प्रवर्ग्य भाग (मायावच्छिन्नभाग) इस पुरुष का ब्रह्मौदन है। अक्षर और आत्मक्षर दोनो इस

पुरुष के स्वरूपधर्म्म हैं। स्वभाव है। स्वधात्मिका अन्तरंग प्रकृति है। परात्परद्वारा हृदय उत्पन्न होता है। इसी से परात्पर का कुछ प्रदेश अव्ययपुरुष का ब्रह्मौदन बनता है। ऐसी अवस्था में इस प्रकृति को 'ब्रह्मौदन' मानने के लिए तय्यार हैं। साथ ही में यह भी सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मौदनभूत अक्षरात्मक्षरपुरुष सृष्टि के उपादान नहीं बनते। इन का भोग एकमात्र पुरुष के ही आधीन है। यह सब कुछ होने पर भी उस नित्यकाम—सत्यसंकल्प की 'एकोऽहं बहु स्याम' यह इच्छा निर्वाध है। इसी नित्या कामना से उसके आत्मक्षररूप ब्रह्मौदन का भाग प्रवृक्त होता रहता है। दूध से शर (थर-मलाई) उत्पन्न होती है। यह उस दूध का विकार है। आत्यन्तिक अग्निसंयोग से थोड़े समय में सारा दूध शररूप में परिणत हो जाता है। लोहे से जंगरूप विकार निकलता रहता है। कालान्तर में सारा लोह जंगरूप में परिणित हो जाता है। इस प्रकार लौकिक कार्य्यकारणों में कारण कार्य रूप में परिणित होने के अनन्तर अपने कारणस्वरूप को खो बैठता है। परन्तु हमारे आत्मक्षर सम्बन्धी कार्यकारण में उपरोक्त नियम का अभाव है। आत्मक्षररूप कारण से अनन्त विकार निरन्तर निकलते रहते हैं, तथापि आत्मक्षर उसी अवस्था में बना रहता है जो कि अवस्था कार्योत्पत्ति के पहिले रहती है। इसी अविकृतपरिणामवादमूलक प्रवर्ग्य भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

> "एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो–(आत्मक्षरस्य)
> न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्" इति

'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' के अनुसार क्षरतत्व ही ब्रह्म कहलाता है। यह क्षरब्रह्म स्वयं विकृत नहीं होता। वह तो स्वस्वरूप से ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित रहता है। विकार उससे पृथक् निकलते रहते हैं। तभी तो—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' यह कहना उचित होता है। लौकिक कार्यकारण भावों में भी प्रजापति ने अपनी कारण नित्यता सूचित करने के लिए हमारे सामने एक उदाहरण रख दिया है। वह है—ऊर्णनाभि (मकड़ी)। मकड़ी जाले का उपादान है—यह सर्व-विदित है। साथ ही में यह भी सभी जानते एवं मानते हैं कि मकड़ी चाहे प्रतिदिन नया नया जाल उत्पन्न करती रहे—इस से कभी उसके स्वस्वरूप की विच्युति नहीं होती। जाल

मकड़ी के प्रवर्ग्य भाग का ही भोग करता है। हमारे शरीर का दग्ध रुधिर सांतपन नाम से प्रसिद्ध रुद्र वायु के आघात से रोमकूप (द्वारों) पर संघातभाव को प्राप्त होता हुआ केशलोम स्वरूप में परिणत होता रहता है। 'ईश्वरस्य गतिश्चिन्तनीया'। ऐसा होता है—क्यों होता है? यह अचिन्त्य भाव है। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' ही उपरोक्त क्यों का समाधान है। उपरोक्त कार्यकारणभाव के विविधभावों का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।[1]
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥
(मुण्डकोपनिषत्) इति।

स्वयं मकड़ी अक्षर है। उसका हृदय क्षर है, यही जाल का उपादान है। इसी प्रकार ऊर्णनाभिस्थानीय अक्षर हृत्स्थानीय क्षर से प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद यह पांच प्रवर्ग्य (विकार) उत्पन्न होते हैं। प्रवर्ग्यान्नस्वरूप-पञ्चकल विकारक्षर की स्वरूपसत्ता इसी प्रवर्ग्यान्न से है। षोडशीपुरुष के लिए जो विकार भाग प्रवर्ग्य है, वही प्रवर्ग्य इस विकार-संघ का ब्रह्मौदन है। पांचों कलाएं इसका स्वरूपधर्म हैं। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का तात्पर्य यही है कि षोडशी से प्रवृक्त भाग ही इसका भोग बनता है। प्रयत्नसहस्रों से भी वैकारिकविश्व 'तेन त्यक्त' से अतिरिक्त का भोग नहीं कर सकता।

विज्ञानपक्ष में—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इस वाक्य का 'षोडशीपुरुषात्मकेनेश्वरेण यत् परित्यक्तं—तेनैव ते ते समष्टिव्यष्ट्यात्मकाः पदार्थाः स्वस्वरूपं संपादयन्तो—ब्रह्मौदनरूपे प्रवर्ग्यात्मकं भुञ्जथे" यही तात्पर्यार्थ है। जैसी वस्तु स्थिति है—'भुञ्जीथा' पद उसी का अभिनय करता है। अध्यात्मभाषा के अनुसार 'भुञ्जीथा' को 'भुङ्क्ते' परक

---

[1] उपादानकारण से सम्बन्ध रखनेवाला कार्यकारणभाव १८ प्रकार का है। इन सम्बन्धों का विशदनिरूपण मुण्डकोपनिषत् के विज्ञानभाष्य में उपरोक्त मन्त्रव्याख्यान में द्रष्टव्य है।

मान लेने में कोई क्षति नहीं है। पूर्वकथनानुसार षोडशी प्रजापति का अव्यय भाग उस व्यापक परात्पर का प्रवर्ग्य है। रसबलात्मक परात्पर ही मायासम्बन्ध से एकप्रदेश से प्रवर्ग्य बनकर अव्यय बन गया है। यह अव्ययपुरुष प्रवर्ग्यभूत मायावच्छिन्न रसबल का ही भोग करने में समर्थ है। इसी के भोग से (योग से) उसमें आनन्द विज्ञानादि पांच चितिएं होतीं हैं। इन्हीं चितियों से वह अव्ययात्मा 'चिदात्मा' कहलाने लगता है। आगे जाकर अव्यय का उच्छिष्ट भाग अक्षर बनता हैं। 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' (गीता) के अनुसार ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध आत्मक्षर अक्षर के प्रवर्ग्य भाग से उत्पन्न हुआ है। पूर्व-पूर्व के लिए आगे का भाग प्रवर्ग्य है, एवं उत्तर उत्तर का भाग उत्तरोत्तर के लिए ब्रह्मौदन है। इस प्रकार यद्यपि केवल षोडशीपुरुष में भी अपेक्षया ब्रह्मौदन एवं प्रवर्ग्य दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, तथापि अक्षर और आत्मक्षर विकारक्षररूप वहिरंगप्रकृति की अपेक्षा से अति सन्निकट है। दूसरे शब्दों में अक्षरात्मक्षर अव्यय का स्वरूपधर्म्म है—स्वभाव है। क्यों कि अक्षर एवं क्षर रूप अन्तरंग प्रकृति के द्वारा ही अव्यय पुरुष पुरुषावस्था से युक्त रहता है। यदि अक्षर-क्षर को हटा दिया जाय तो अक्षरव्यापार से होने वाली आनन्द-विज्ञान-मनोमयी अन्तश्चिति, मन-प्राण-वाङ्मयी वहिश्चिति ही न रहे। ऐसी अवस्था में चिदात्मा कभी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। क्योंकि अक्षर और क्षर सम्बन्ध से ही चिदात्मा अपनी आत्मरक्षा करने में समर्थ होता है। अत एव वैज्ञानिकों ने अक्षर-क्षर को प्रवर्ग्य न मानकर ब्रह्मौदन ही माना है। अव्ययाक्षरात्मक्षर की समष्टि है। इसमें प्रवर्ग्य का सम्बन्ध नहीं है। इससे प्रवर्ग्य की उत्पत्ति आगे होने वाली है। यही आत्मरूप षोडशी ईश्वर किंवा 'ईश' है। प्रवर्ग्यसृष्टि का आरम्भक 'ईश' प्रजापति है, न कि अव्ययपुरुष। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'ईशावास्यमिदं सर्वम्—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इत्यादि रूप से षोडशीपुरुषपुरुषात्मक ईश से ही प्रवर्ग्य का अवतार बतलाया गया है।

इस ईश प्रजापति का प्रथम प्रवर्ग्य 'विकारक्षर' 'त्रि य द्' 'धाता' 'स्रष्टा' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध, प्राण-आप वाक् अन्न-अन्नाद भेद से पञ्चकल क्षर ही है। जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जा चुका है। आगे आनेवाली प्रवर्ग्यसृष्टियों का अवलम्बन,

किंवा प्रवर्त्तक यही पूर्वोक्त 'क्षरब्रह्म' है। इसी क्षरभाग के प्रवृक्तभाग को लेकर विश्वचक्र अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होता है। इसी सामान्य प्रवर्ग्यरहस्य को लक्ष्य में रखकर 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' यह कहा गया है। "ईश्वरस्य प्रवर्ग्यभूतेन पञ्चकला-त्मकविकारक्षरेणैव सर्वे भावाः, सर्वाः प्रजाः वा उपजीवन्ति, प्रवर्ग्यभूतं विकारक्षर-मेव वैकारिकं विश्वं भुङ्क्ते" 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का यही तात्पर्य है।

ईश से विकार, विकार से विश्व, विश्व से प्रजा, प्रजा से आगे की प्रजाएं, इस प्रकार संततनरूपा धारावाहिका इस प्रवर्ग्यसृष्टि के सम्बन्ध में इतना और स्मरण रखना चाहिए कि–'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' इस श्रौत सिध्दान्त के अनुसार पूर्वप्रपंच से उत्पन्न होने वाले आगे के प्रपंच में पूर्वप्रपंच अनुस्यूत रहता है। दूसरे शब्दों में आगे आगे की तत् सृष्टियों मे मूलभूता पूर्व पूर्व की सृष्टियों का समावेश रहता है। बात यथार्थ है। एक विद्वान् अपने काम तपश्रम से (इच्छा-क्रतु-कर्म्म से) पूर्ण श्रम से एक ग्रंथ बनाता है। विश्वास कीजिए इस विद्वान् से उत्पन्न होने वाली इस ग्रंथसृष्टि में उस विद्वान् का मनः प्राण-वाङ्मय आत्मा अनुस्यूत हो जाता है। उसके अन्तर्जगत् में वह ग्रंथ प्रतिष्ठित हो जाता है। निदर्शनमात्र है। तत्तत् सृष्टियों में तत्तत्सृष्टिकर्त्ताओं का आत्मा अभिव्याप्त रहता है। यही कारण है कि जहां श्रुति प्रवर्ग्य का स्वरूप बतलाते हुए 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' कहते हैं, वहीं उस आत्मसम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर उन्हें–'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यह भी कहना पड़ता है।

ईश की (षोडशी प्रजापति की) आत्मक्षरकला के प्रवर्ग्य भाग से विकारक्षर उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न होने वाले यह विकारक्षर सृष्टि के आधार हैं। दो किंवा अनेक पदार्थों की संसृष्टि (संसर्ग-सम्बन्ध-मेल) ही सृष्टि है। जबतक संसृष्टि नहीं तब तक सृष्टि नहीं। इस संसृष्टि-रूपा सृष्टि का मूलाधार है विकारक्षर। एवं–'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। ऐसी अवस्था में हमें यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी कि संसृष्टिरूपा सृष्टि के मूलभूत विकारक्षर की प्राणादि पांचों कलाएं स्वतन्त्र न रहकर परस्पर संश्लिष्ट ही

रहती हैं। पृथक् रह कर यह प्राणादि कथमपि सृष्टि करने में समर्थ नहीं हैं। यही प्राण-ज्येष्ठा, प्राणमुख्या क्षरकलाएं आगे जाकर सृष्टिकामना से सप्तपुरुषात्मकपुरुषस्वरूप में परिणत होतीं हैं। इसप्रकार समष्टयात्मक क्षर पुरुष ही विश्वसृष्टि का कारण बनता हैं।

इसप्रकार प्राणादि पांचों कलाएं उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरकाल में ही (उत्पन्न होते ही) एक दूसरी में आहुत होजातीं हैं। पांचों कलाओं का पांचों कलाओं में आहुत हो जाना ही 'सर्वहुत' यज्ञ है। जिसका कि संक्षिप्त स्वरूप 'विषय प्रवेश' में बतलाया जा चुका है। इस सर्वहुत यज्ञ से पञ्चीकृत प्राणादि का स्वरूप निष्पन्न होता है। ध्यान रहे दार्शनिकों की पञ्चीकरण प्रक्रिया वैदिक साहित्य में 'त्रिवृत्करण' प्रक्रिया है, जैसा कि पूर्वसन्दर्भों में बतलाया जाचुका है। इन पञ्चीकृत प्राण–आप–वागादि में (प्रत्येक में) प्राण–आप–वागादि पांचों क्षर प्रतिष्ठित रहते हैं, अत एव वैदिकी परिभाषा में क्षर 'पञ्चजन' नामसे व्यवहृत किए जातेहैं। "प्रजा स्यात् संततौ जने" के अनुसार 'जन' शब्द प्रजा वाचक है। इतर पंचीकृत क्षर सबसे पहिली प्रजा है। अतः इसे 'पंचजन' कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। जैसे सौम्यप्राण पितर है। वायव्यप्राण गन्धर्व है। वैश्वानर-प्राण पुरुष है। पुरीष्यप्राण पशु है, एवमेव आप्यप्राण को असुर कहा जाता है। यह आप्यप्राणरूप असुर 'पारमेष्ठ्य' है। पूर्वोक्त क्षरप्राण सबकी आधारभूमि बनता हुआ प्रथमज है। यह पञ्चीकृत क्षरात्मक प्राणदेवता पारमेष्ठ्य असुरों से पहिले उद्भूत होतेहैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"ये देवा असुरेभ्यः पूर्वं पञ्चजना आसन्" इत्यादि।

(जै० उ० ब्रा० १।४१।७)

इसप्रकार प्राणादि के पञ्चीकरण से निष्पन्न होनेवाले यह पञ्चजन यद्यपि कहने को विकारक्षर से दूसरी कोटि में प्रविष्ट है, परन्तु यथार्थ में यह विकारक्षर की ही दूसरी अवस्था है। दूसरे शब्दों में पञ्चजन विश्वसृट् ही है। तात्पर्य यह है कि पञ्चजन भाग

विकारक्षर का प्रवर्ग्य नहीं है, अपि तु विकारक्षर की सम्मिलित अवस्था ही पञ्चजन है। ऐसी अवस्था में पंचजन को हम स्वतन्त्र प्रवर्ग्य न मान कर विकारक्षर में ही इसका अन्तर्भाव मानने के लिए तय्यार हैं। निष्कर्ष यही हुआ कि पञ्चजन ईशप्रजापति का प्रथम प्रवर्ग्य है।

प्रथम प्रवर्ग्यरूप इन पांचों पञ्चजनों से क्रमशः पांच पुरंजन उत्पन्न होते हैं। पञ्चीकृत प्राण नाम के पंचजन से वेदतत्व उत्पन्न होता है। पञ्चीकृत आप नाम के पञ्चजन से लोकभाव उत्पन्न होता है। पञ्चीकृत वाक् नाम के पञ्चजन से देवतत्व प्रादुर्भूत होता है। पञ्चीकृत अन्न नाम के पञ्चजन से पशुभाव का विकास होता है, एवं पञ्चीकृत अन्नाद नाम के पञ्चजन से भूततत्व उद्भूत होता है।

ऋक्, यजुः, साम आदि चारों वेद; भूः, भुवः, स्वः, महः आदि सातों लोक; अग्नि, वायु, आदित्य आदि ३३ देवता; पुरुष, अश्व, गौ आदि पांचों पशु; पृथिवी, जल, तेज आदि पांचों भूत जिन मौलिकतत्वों से उत्पन्न होते हैं, वे ही मौलिकतत्व हमारे शास्त्र में "पञ्चजन" (पञ्चीकृत प्राण आप आदि) नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन पञ्चजनों से 'पुरंजन' तत्व का आविर्भाव होता है। उपरोक्त वेद, लोक, देव, पशु, भूत यह पांच तत्व ही पुरसृष्टि के निर्म्माता बनते हुए पुरञ्जन नाम से व्यवहृत हुए हैं। अग्निसोममय चारों वेद, प्रत्यक्षदृष्ट सप्तलोक, अग्न्यादि देवता, पुरुषादि पशु, पृथिवी आदि भूत यह पांचों प्रपञ्च सर्वानुभूत हैं, प्रत्यक्षदृष्ट हैं। इन प्रत्यक्षदृष्ट वेद—लोकादि से उपरोक्त वेद—लोक आदि पुरञ्जन सर्वथा भिन्न हैं। प्रत्यक्षदृष्ट लोकादि स्थूल हैं, पुररूप हैं, कार्यरूप हैं। पुरञ्जनरूप लोकादि सूक्ष्म हैं, कारणरूप हैं। यही सूक्ष्मावस्थापन्न वेदलोकादि पुरोत्पत्ति के कारण बनते हुए 'पुरञ्जन' नाम से व्यवहृत हुए हैं। पञ्चीकृत प्राण—आप—वागादिरूप पञ्चजनों से सर्वप्रथम उपरोक्त सूक्ष्मावस्थापन्न वेद—लोक—देवता आदि पांच पुरञ्जनों का विकास होता है। यही पुरञ्जन ईशप्रजापति का दूसरा प्रवर्ग्यावतार है।

पुरञ्जन ही पुरसृष्टि के अधिष्ठाता हैं, यह कहा जाचुका है। पुर शब्द ग्राम (थोक, राशि, स्तूप, कूट, ढेर) का वाचक है। वेद–लोक–देवादि पांचों पुरञ्जन सर्वहुतयज्ञ के कारण पुर-(ग्राम–सृष्टि) रूप में परिणत होते हुए ही पुरसृष्टि के प्रवर्त्तक बनते हैं। पञ्चीकृत अत एव पञ्चजन नाम से प्रसिद्ध प्राण से उत्पन्न होने वाले वेद नाम के पुरञ्जन में आप-वाक्–अन्न–अन्नाद इन चारों पञ्चजनों से क्रमशः उत्पन्न होने वाले लोक–देव–पशु–भूत इन चारों पुरञ्जनों की आहुति होती है। इसी प्रकार लोक में वेद–देव–पशु–भूत, देव में वेद-लोक–पशु–भूत, पशु में वेद–लोक–देव–भूत, भूत में वेद–लोक–देव–पशु, इन की आहुति होती है। यही सर्वहुतयज्ञ है। इसी यज्ञ के प्रभाव से पुरञ्जनों का पुरभाव विकसित होता है। पञ्चीकृत पुरञ्जन ही पुरसृष्टि के प्रवर्त्तक बनते हैं। कारण पुरभाव (ग्रामभाव) का विकास पांचों के समन्वय पर ही निर्भर है। अतः अपञ्चीकृत वेद–लोकादि को ही पुरञ्जन कहेंगे। अपञ्चीकृत पुरञ्जन में प्रत्येक में पञ्चीकृत प्राण–आप वागादि पांच पांच कलाएं रहतीं हैं, परन्तु पञ्चीकृत पुरञ्जन में प्रत्येक में २५ कलाओं का समावेश होजाता है। इन पञ्चीकृत वेद–लोकादि पांचों पुरञ्जनों में प्रत्येक में २५ कलाओं के रहते-हुए भी प्रधानता क्रमशः वेद–लोक–देव–पशु–भूत-इन कलाओं की ही रहती है, अतः "**वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**" इस पूर्व सिद्धान्त के अनुसार यह पञ्चीकृत पांचों पुरञ्जन क्रमशः वेद, लोक, देव, पशु, भूत इन नामों से व्यवहृत होते हैं।

उपरोक्त पांचों पुरंजनों की-समष्टि ही आगे की पुरसृष्टि की प्रवर्त्तिका है। इन-पांचों में सबसे पहिला एवं प्रधान पुरंजन 'वेदतत्व' है। सर्वप्रथम इस वेद पुरञ्जन से 'स्वयंभूपुर' का व्यक्तीभाव होता है। अनुपाख्यतमरूप अव्यक्त विश्व-का पहिला व्यक्तरूप यही वेदमय स्वयम्भू है। पाठकों को स्मरण होगा कि षोडशीपुरुष का निरूपण करते हुए हमनें अक्षर और आत्मक्षर को अव्यय पुरुष-का प्रवर्ग्य माना था। परन्तु अन्तमें यह भी बतलादियाथा कि अक्षर और आत्मक्षर अव्यय के स्वरूपधर्म (स्वभाव–अन्तरङ्गप्रकृति) कोटि में प्रविष्ट होते हुए अव्यय से पृथक् नहीं माने जासकते। फलतः क्षराक्षर को अव्यय का प्रवर्ग्य न

मान कर ब्रह्मौदन मानते हुए षोडशीपुरुष को प्रवर्ग्य का आरम्भक मानना उचित होता है। ठीक यही बात यहां समझिए। विकारत्तर विश्वसृट् नाम से व्यवहृत हुआ है। विश्वसृट् का पञ्चीकृत भाव ही पञ्चजन है। पञ्चजन का रूपान्तर ही पुरञ्जन है। ऐसी अवस्थामें विश्वसृट् पञ्चजन—पुरञ्जन-तीनों को हम एक वस्तु माननें के लिए तय्यार हैं। तीनों अविनाभूत हैं। तीनों की पृथक्रूपसे उपलब्धि नहीं होती। विश्वसृट् ही पञ्चजन बनता हुआ पुरञ्जनरूप मे परिणत होरहा है। अतः जहां पूर्वमें हमनें पुरञ्जन को ईशप्रजापति का (स्थूलदृष्टि को प्रधानता देते हुए) द्वितीय प्रवग्य कहाथा. वहां आज इस पुरंजन को हम प्रथम प्रवर्ग्य ही बतलाना उचित समझते हैं।

विश्वसृट्—पञ्चजन—क्रमसे पुरोत्पादक बनता हुआ पुरंजन ही आगे की पुरसृष्टि का प्रवर्त्तक है, यह कहा जाचुका है। ईश के प्रथम प्रवर्ग्यभूत इसी पुरंजन से असंख्य स्वयम्भू असंख्य सूर्य्य, असंख्य चन्द्रमा एवं असंख्य भूपिण्ड उत्पन्न होते हैं। परस्परमें सर्वथा विभिन्न उपरोक्त स्वयम्भू आदि पुर ईश के प्रवर्ग्यरूप इसी उक्त पुरञ्जन को ब्रह्मौदन बनाकर अपनी अपनी स्वरूप सत्ता प्रतिष्ठित रखनें में समर्थ होते हैं। पांचों पुरंजन ईश के पांच प्रवर्ग्य हैं। इन में वेद नाम के प्रथम प्रवर्ग्य का प्रथम प्रवर्ग्य स्वयम्भू है। स्वयम्भू प्रवर्ग्य की अपेक्षा (ईशापेक्षया प्रवर्ग्यरूप) वेदपुरञ्जन ब्रह्मौदन है। "**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**" इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार वेदपुरञ्जन से उत्पन्न होनेवाले स्वयम्भू मे वेदपुरञ्जन अन्तःप्रविष्ट रहता है। यही विश्व का प्रथमावतार है। यद्यपि पूर्व में पुरञ्जन को हम प्रथम प्रवर्ग्य बतला आए हैं, परन्तु विश्वापेक्षया पुरञ्जनानुप्रविष्ट स्वयम्भू को ही हम प्रथम प्रवर्ग्य कहेंगे। आगे होनेवाली सारी सृष्टियों का उक्थ—ब्रह्म—साम यही स्वयम्भू है। परमेष्ठी—सूर्य आदि सब स्वयम्भू के ही प्रवर्ग्य हैं। अत एव इस स्वयम्भू को ब्राह्मणश्रुतिनें—'**परमप्रजापति**' नाम से व्यवहृत किया है। परमेष्ठी आदि इसके प्रवर्ग्य हैं, अत एव इन्हें '**प्रतिमाप्रजापति**' नाम से व्यवहृत किया गया है (देखिए शत० ११ काण्ड प्र० १। ब्रा० ७। कं० १३—२०)।

स्वयम्भू ही प्रथमावतार है। यही आगे की सब सृष्टियों का विधाता है। इसी रहस्य को लक्ष्यमें रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ॥
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ १ ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ २ ॥

(मनुः १ अ. ६–७ श्लो.)

आत्मा-प्राण-पशु इन तीन कलाओं की समष्टि से 'प्रजापति' का स्वरूप निष्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में जहां उक्त तीन कलाओं का समन्वय होता है वहीं प्रजापतिसंस्था का उदय होजाता है। उक्थतत्त्व को आत्मा कहाजाता है। अर्क प्राण है, एवं अशिति पशु है। हृदयबिम्ब उक्थ है। बिम्ब से चारों ओर वितत होने वाली रश्मिएं अर्क हैं। रश्मियों में अनुगृहीत आत्मा का अन्न पशु है। भोग्यवस्तु को पशु-अन्न-अशिति आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जाता है। उक्थरूप हृदयस्थ आत्मा भोक्ता है। अर्करूप प्राण भोग साधन है। अशिति (अन्न) रूप पशु भोग्य वस्तु है। यही पशुभाग आत्मा की सम्पत्ति बनता हुआ 'आत्मवित्त' नाम से व्यवहृत हुआ है। आभ्यन्तर एवं बाह्य भेद से यह आत्मवित्त दो भागों में विभक्त है। इनमें अन्तर्वित्त 'ब्रह्मौदन' कहलाता है। यह आत्मा में नित्य प्रतिष्ठित रहता है। इसके उत्क्रान्ति होने से आत्मा उत्क्रान्त होजाता है। दूसरा बहिर्वित्त 'प्रवर्ग्य' नाम से प्रसिद्ध है। यह आदानविसर्गात्मक है। इतना ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि आदानकाल में बहिर्वित्त 'ब्रह्मौदन' कोटिमें प्रविष्ट रहता है। विसर्ग काल में, दूसरे शब्दों में आत्मा से परित्यक्त होने पर यही बहिर्वित्त 'प्रवर्ग्य' रूप में परिणत होजाता है।

उदाहरणार्थ अध्यात्मसंस्था को सामने रखिए। पुरुष का आत्मा उक्थ है। यह हृदयाकाशस्थ दहराकाश में प्रतिष्ठित रहता है। ज्ञान-कर्ममय पञ्चप्राण (वाक् प्राण-चक्षु-श्रोत्र-

मन नाम से प्रसिद्ध पांचों इन्द्रिएं) इस उक्थ आत्मा के अर्क हैं। शरीर अन्तर्वित्तरूप अशिति है। स्त्री–पुत्र–अनुचर–पशु–धान्य–धन–प्रासाद आदि वहिर्वित्तरूप अशिति है। **'यावद् वित्तं तावदात्मा'** इस तैत्तिरीय सिद्धान्त के अनुसार वित्तपर्य्यन्त उक्थ आत्मा रश्मिरूप से व्याप्त रहता है। इसी को दार्शनिक भाषा में ममत्व कहा जाता है। इसी ममत्व सम्बन्ध से वित्त की समृद्धि में आत्मा को (प्रज्ञानविज्ञानावच्छिन्न वैश्वानर-तेजस-प्राज्ञ-समष्टिरूप कर्मभोक्ता पार्थिव भूतात्मा को) हर्ष होता है, एवं वित्तहानि में शोक होता है। इसी हर्ष-शोकभाव को लक्ष्यमें रखकर उपनिषच्छ्रुतिनें सुख दुःख का–**"यो वै भूमा तत् सुखम्, यदल्पं तद् दुःखम्, नाल्पे सुखमस्ति"** यह लक्षण किया है। ज्यों ज्यों वित्त की वृद्धि होती है त्यों त्यों आत्ममहिमा का विकास होता है। वैसे वैसे ही आत्मानन्द (समृद्धानन्द) की वृद्धि होती है, एवं वित्त की अल्पता से दुःख का उद्रेक होता है। शरीर अन्तवित्त होने से ब्रह्मौदन है। विना इसके आत्मा प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। स्त्री पुत्रादि वहिर्वित्त भोगकाल में ब्रह्मौदन है, अन्य समय में प्रवर्ग्य हैं। इस प्रकार भोगरूप अन्तर्वित्त वहिर्वित्त, भोगसाधनस्थानीय इन्द्रियरूप पञ्चप्राण, भोक्ता हृदयस्थ आत्मा इन तीनों के समन्वय से एक प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्राणपरिगृहीत अन्तर्वित्त (शरीर), प्राणपरिगृहीत वहिर्वित्त (स्त्री पुत्रादि) प्रजा है। स्वयं प्राण शासनसूत्र है। आत्मा इस प्रजा का पति बनता हुआ 'प्रजापति' कहलाता है। प्रजापति शब्द का सम्बन्ध आत्मा-प्राण-पशु की समष्टि के साथ है, यही निष्कर्ष है।

प्रकरान्तर से विचार करिए। विज्ञानपरिभाषानुसार प्रजापतिसंस्था को 'पृष्ठ' शब्द से भी व्यवहृत किया गया है। प्रजापति की आत्मकला किंवा उक्थकला **'हृतपृष्ठ'** नाम से प्रसिद्ध है। अन्तवित्त युक्त प्राणकला किंवा अर्ककला को **'अन्तःपृष्ठ'** कहा जाता है, एवं वहिर्वित्त-युक्त पशुप्रधाना प्राणकला, दूसरे शब्दो में प्राणानुगृहीत वहिर्वित्तरूपा पशुकला किंवा अशिति-कला **'वहिःपृष्ठ'** नाम से व्यवहृत हुई है। इन्हीं तीनों पृष्ठों को कहीं कहीं ब्राह्मणग्रन्थों में **'आत्मा, पदम्, पुनःपदम्'** इन नामों से भी व्यवहृत किया गया है। तीनों को **आत्मा, शरीर, महिमा,** इन नामों से भी पुकार सकते हैं।

प्रजापतिः

आत्मा	प्राणः	पशुः
उक्थम्	अर्कः	अशितिः
हृत्पृष्ठम्	अन्तःपृष्ठम्	बहिःपृष्ठम्
आत्मा	पदम्	पुनःपदम्
आत्मा	शरीरम्	महिमा
भोक्ता	भोगसाधनम्	भोग्यवस्तु

उपरोक्त प्रजापतिशब्द का समन्वय सब से पहिले हमें षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध ईशप्रजापति के प्रथम प्रवर्ग्यरूप स्वयम्भू के साथ करना है। स्वयम्भू की प्रथम प्रवर्ग्यता का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें स्वयम्भू को विश्व का प्रथम अवतार कहा है। साथ ही में परमेष्ठी सूर्य्य आदि प्रतिमाप्रजापतियों के स्रष्टा होनें से इसे 'परमप्रजापति' कहा है। स्वयम्भूपिण्ड के गर्भ में वही सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) षोडशीपुरुष उक्थ रूप से प्रतिष्ठित है। यही नभ्यभाव (स्वयम्भू केन्द्रस्थ षोडशीपुरुष) इस परमप्रजापति की आत्मकला है। स्वयं स्वयम्भूपिण्ड (जिस स्वयम्भूपिण्ड की सत्ता परमेष्ठीपिण्ड से ऊपर मानी जाती है) पञ्चीकृत प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नादात्मक वेदानुगृहीत अन्तर्वित्तरूप शरीर है। यहां षोडशी आत्मा प्रपन्न है—प्रतिष्ठित है, अत एव इसे 'पद' कहा जाता है, एवं परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन चारों प्रतिमाप्रजापतियों को, एवं इन चारों प्रजापतिसंस्थाओं में रहनें वाले पितर-असुर, देवता, गन्धर्व, पशु, मनुष्यादि रूप बहिर्वित्त को अपने उदर में प्रतिष्ठित रखने वाला स्वयम्भू का महिमामण्डल इस परमप्रजापतिसंस्था का अशितिरूप पुनःपद है। वेदपुरञ्जनोहित जो स्वयम्भूपिण्ड ईशप्रजापति का प्रथम प्रवर्ग्य था, वही स्वयम्भू के हृद्य आत्मा का ब्रह्मौदन बना हुआ है। महिमाभाग प्रवर्ग्यरूप में

परिणत होरहा है । यही महिमाभाव ब्राह्मणग्रन्थों मे यशोवीर्य्य, श्री, विराट् आदि अनेक नामों से व्यवहृत हुआ है । इस प्रकार ह्य आत्मा, स्वयम्भूपिण्ड, स्वम्भूमहिमा इन तीन विभागों से प्रथमावताररूप इस स्वयम्भू नाम के परमप्रजापति का **'आत्मप्राणपशुसमष्टिः प्रजापतिः'** एतल्लक्षण प्रजापतित्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है ।

अब तक हम स्वयम्भू प्रजापति को ईश से पृथक् मानते आरहे थें । परन्तु अब ईशशब्द से स्वयम्भू का ही ग्रहण करेगे । दूसरे शब्दों में **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** इस मन्त्र में पठित ईश शब्द का सम्बन्ध परमप्रजापतिरूप स्वयम्भू के साथ ही मानेंगे । स्वयम्भू का विकास पञ्चीकृत **'वेद'** नाम के पुरञ्जन से हुआ है, यह कहा जाचुका है । पञ्चीकृत इस वेद के ऋक्, यजुः, साम यह तीन विवर्त्त हैं । इन तीनों में यजुर्वेद का यत् भाग प्राण है, जू भाग वाक् है । **'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्'** (शत० ६।१।१) के अनुसार यत्रूप प्राण के व्यापार से यह जूरूप वाक्भाग ही (वागग्नि ही) पानी के रूप में परिणत होता हुआ परमेष्ठीमण्डल की सृष्टि का कारण बनता है । स्वयम्भू प्रजापति सर्वप्रथम अपनी वेदवाक् से आपोमय परमेष्ठी का ही सर्जन करते हैं, जैसाकि **'अप एव ससर्जादौ'** (मनुः १ अ. ८ श्लो.) इत्यादि स्मार्त्त वचनों से भी स्पष्ट है । स्वयम्भू का प्रवर्ग्य वेदभाग परमेष्ठी का भोग (स्वरूपसम्पादक उपादानद्रव्य) बनता है । परमेष्ठी से अङ्गिरा द्वारा सूर्य्य की उत्पत्ति होती है । सूर्य्य के प्रवर्ग्य से भूपिण्ड का निर्म्माण होता है । भूपिण्ड के प्रवर्ग्यभागरूप अत्रि-तत्व से चन्द्रमा उत्पन्न होता है । चन्द्रमा पर लोकसृष्टि का अवसान होजाता है । अत एव चान्द्रलोक को **'नियत'** कहा जाता है । इन चारों का मूलप्रभव स्वयम्भू ही है । उस में पञ्ची-कृत प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पांचो की सत्ता रहती है । वेदमयी प्राणकला से स्वयं स्वयम्भू का विकास होता है । लोकमयी अप्कला से परमेष्ठी का जन्म होता है । देव-मयी वाक्कला से सूर्य्यसृष्टि होती है । पशुमयी अन्नकला से चन्द्रमा का निर्म्माण होता है, एवं भूतमयी अन्नादकला से भूपिण्ड निष्पन्न होता है । इस प्रकार ईश स्वयम्भू के परित्यक्त (प्रवर्ग्य) भाग से उक्त चारों प्रजापतिसंस्थाओं का जन्म होता है । आत्मा, शरीर, महिमा

यह तीनों भाव जीस प्रकार स्वयम्भू में हैं, उसी क्रम से परमेष्ठी आदि चारों संस्थाओं में उक्त तीनों भाग ज्यों के त्यों विकसित रहते हैं। संस्था की अपेक्षा से जैसा स्वरूप स्वयम्भू का है, वैसा ही स्वरूप तत्प्रवर्ग्यरूप इन चारों का है। हम कहसकते हैं कि परमेष्ठी आदि चारों मण्डल उस स्वयम्भू की प्रतिमा हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ब्राह्मणश्रुति नें परमेष्ठी आदि चारों को 'प्रतिमा प्रजापति' नाम से व्यवहृत किया है। (देखिए–शत० ११ कां.।१ अ.।६ब्रा.।१३ कं)

परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी यह चारों स्वयम्भू के प्रवर्ग्य अवश्य हैं, परन्तु इनमें परस्पर भी प्रवर्ग्य सम्बन्ध मानना पड़ता है। तात्पर्य्य यह है कि परमेष्ठी स्वयम्भू का प्रवर्ग्य है। सूर्य्य वाक्भागसे स्वयम्भू का प्रवर्ग्य बनता हुआ अङ्गिरा भाग से परमेष्ठी का भी प्रवर्ग्य है। सूर्य्य में स्व० पर० दोनों के प्रत्यंश विद्यमान हैं। इसी प्रकार पृथिवी में स्व० पर० सूर्य्य तीनों का प्रवर्ग्य है। चन्द्रमा में स्व० पर० सू० पृथिवी चारों के प्रवर्ग्यभागों का सम्बन्ध है। स्वयं स्वयम्भू विश्वकर्म्मा है। उसके नियत प्रवर्ग्यांश का ही परमेष्ठी आदि प्रजापति भोग करनें में समर्थ होते हैं। प्रसंगागत इतना और समझ लीजिए कि उक्त पाचों प्रजापतियों का परस्पर दहरोत्तर सम्बन्ध है। चन्द्रमा पृथिवी के महिमामण्डल में अन्तर्भुक्त है। स्वमण्डल में चन्द्रमा को प्रतिष्ठित किए हुए महिमायुक्त भूपिण्ड सूर्य्यप्रजापति के महिमामण्डल में निविष्ट है। सम-हिम सौरमण्डल परमेष्ठी प्रजापति के महिमामण्डल में विराजमान है। चन्द्रमा, पृथिवी, सूर्य्य इन तीनों प्रजापतियों को अपनें मण्डल में अन्तर्भुक्त रखनें वाला समहिम परमेष्ठीमण्डल स्वयम्भू प्रजापति की महिमा में प्रविष्ट है। स्वयम्भू के उदर में पर० सू० च० पृ० चारों हैं, तभी तो इसे परमप्रजापति कहना न्यायसंगत होता है। परमेष्ठी के उदर में सू० पृ० च० है। सूर्य के उदर में पृ० च० हैं। पृथिवी के उदर में चन्द्रमा है। उत्तर उत्तर की प्रजापतिसंस्था पूर्व पूर्व संस्था के महिमामण्डल में अन्तर्भुक्त है–इसी सम्बन्ध को 'दहरोत्तर' सम्बन्ध कहा जाता है। आगे के परिलेख से उक्त पांचों का यह अन्तरान्तरीभावरूप दहरोत्तर सम्बन्ध भली भांति स्पष्ट होजाता है।

स्वयम्भू ईश प्रजापति है। परमेष्ठी आदि चारों विवर्त्त इस में अन्तर्भुक्त हैं। ऐसी अवस्था में हम 'ईश' शब्द से स्व० पर० सू० च० पृ० इन पांचों पर्वों का ग्रहण कर सकते हैं। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता १५ अ.।७ श्लो.।)। इस स्मार्त्त-सिद्धान्त के अनुसार १४ भागों में विभक्त जीवसृष्टि, सांख्यदर्शन की परिभाषा के अनुसार चतुर्दशविध भूतसर्ग इसी उक्त पञ्चपर्वा ईश का प्रवर्ग्य है। स्वयम्भू के लिए ईश षोडशीपुरुष था। परमेष्ठी के लिए ईश स्वयम्भू था, सूर्य्य के लिए ईश परमेष्ठ्युपहित स्वयम्भू था, पृथिवी के लिए ईश सूर्य्यपरमेष्ठ्युपहित स्वयम्भू था, चन्द्रमा की अपेक्षा से ईश पृथिवी–सूर्य–परमेष्ठ्युपहित स्वयम्भू था, किन्तु जीव सृष्टि की अपेक्षा से ईश शब्द का "स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा रूप पञ्चपर्वा विश्वव्यापक प्रजापति" यही अर्थ मानना पड़ेगा। कारण जीवसृष्टि में उक्त पांचों पर्वों के प्रवर्ग्यों का आगमन होता है। और और जीवसर्गों को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, । केवल पुरुष (मनुष्य) नाम के जीवसर्ग का विचार करिए।

पञ्चपर्वा ईश किंवा ईश्वर प्रजापति के अंश रूप अत एव प्रजापतिसंज्ञक पुरुष (मनुष्य) में ईश की स्वयम्भूकला का जो प्रवर्ग्य भाग आता है–वह 'अव्यक्त' किंवा कठोपनिषत् के अनुसार 'शान्तात्मा' कहलाता है। (देखिए कठोपनिषत् १ अ.।३ वल्ली। १३ मं.।)। परमेष्ठी-कला का प्रवर्ग्यांश 'महानात्मा' नाम से, सूर्य्यकला का प्रवर्ग्यांश 'विज्ञानात्मा' किंवा 'बुद्धि' नाम से, चन्द्रकला का प्रवर्ग्यांश 'प्रज्ञानात्मा' नाम से, भूपिण्डकला का प्रवर्ग्यांश 'शरीर' नाम से, एवं त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) स्तोमावच्छिन्न, त्रैलोक्यत्रिलोकी नाम से प्रसिद्ध भूमण्डल विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ नाम की तीनों कलाओं का प्रवर्ग्यांश क्रमशः वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ नाम से व्यवहृत होता है। इन तीनों कलाओं की समष्टि ही 'भूतात्मा' 'कर्म्मात्मा' 'भोक्तात्मा' 'भो पुरुष' 'मम्मद' आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है, । इस प्रकार पञ्चपर्वा ईश्वर संस्था में जो कुछ है पुरुष में प्रवर्ग्यरूप से उस सब वस्तुतत्व की सत्ता सिद्ध होजाती है। पूर्व कथनानुसार परमेष्ठी में एक कला का, सूर्य्य

में दो कलाओं का, पृथिवीमें तीन कलाओं का, चन्द्रमा में चारकलाओं का विकास है। परन्तु मनुष्य में उक्त प्रकारानुसार स्वयम्भू आदि पांचों कलाओं की सत्ता है। यही कारण है कि— 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत०ब्रा.२कां।५अ.।१ब्रा.।१क।) के अनुसार पुरुष (मनुष्य) को ईश्वर प्रजापति के समीपतम माना जाता है। अपि च इसी पूर्णभाव को लक्ष्य में रखकर— " योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम् " इत्यादि रूप से ईश्वर और पुरुष को अभिन्न बतलाया जाता है।

ईशप्रजापतिः ←—‹‹‹ ओम् ›››—→ पुरुषप्रजापतिः

	ईश्वराव्ययः–षोडशी		जीवाव्ययः षोडशी	
	स्वयम्भूः	....	अव्यक्तात्मा	
	परमेष्ठी	....	महानात्मा	
	सूर्य्यः	....	विज्ञानात्मा	
	चन्द्रः	....	प्रज्ञानात्मा	
कर्म्माध्यक्षः	सर्वज्ञः	....	प्राज्ञः	कर्म्मात्मा
	हिरण्यगर्भः	....	तैजसः	
	विराट्	....	वैश्वानरः	
	भूपिण्डम्	....	शरीरम्	

हमारा स्वरूप, दूसरे शब्दों में अध्यात्मसंस्था का स्वरूप विश्वव्यापक ईशप्रजापति के प्रवर्ग्यभाग से संपन्न हुआ है। हम उसके ' उदक्त ' रूप हैं। पूर्णेश्वर की पूर्णसामग्री प्रवृक्त बनकर हमारे स्वरूप निर्म्माण का कारण बनी है। यही बात " **पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते** " इस मन्त्रभागसे स्पष्ट की गई है।

इस प्रवर्ग्यभाग का स्वरूप अवगत करते हुए पाठकों के ध्यान में यह बात आगई होगी कि जिस प्रकार परमेष्ठी आदि ईश्वरावयवों का भोग नियत है, उसे दूसरा पर्व नहीं बटा सकता। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू का जो प्रत्यंश परमेष्ठी के स्वरूप निर्माण में उपयुक्त हुआ है, वह उसका अपना नियत भागवेय है, सूर्य्य उस नियत ब्रह्मौदन को लेनें में असमर्थ है, ठीक यही अवस्था जीवसृष्टि में समझिए। प्रत्येक जीव का स्वरूपसंपादक ईश्वरीय प्रवर्ग्यांश तत्तज्जीवों के लिए सर्वथा विभक्त एवं नियत है। एक जीव दूसरे जीव के ब्रह्मौदन भूत प्रवर्ग्यांश को कथमपि अपने अधिकार में नहीं कर सकता। "**गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्**" यह न्याय सुप्रसिद्ध है। सब का भागवेय नियत है।

हां तो अब प्रकृत विषय पर आइए। पाठकों को स्मरण होगा कि प्रवर्ग्यविद्या का उपक्रम करते हुए हमनें यह कहाया कि 'सब कुछ ईश सत्ता से आक्रान्त है। अतः उस से प्रदत्त भाग का ही भोग करो ....। यह बतलाकर प्रश्न उठाया था कि— 'क्या संसार में ऐसा कोई पदार्थ है-जो ईश्वरसत्ता से पृथक् होजाय ....? (देखिए ईशो० पृ० सं० ५६)। इस प्रश्न के उत्तर में अबतक जिस प्रवर्ग्यविद्या का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया, उस से उन्हें विदित होगया कि ईशसत्ता से पृथग्-भूत पदार्थ ही हमारा भागवेय बनता है। हां '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' इस सिद्धान्त का विरोधपरिहार करना शेष रहजाता है। इस के लिए निम्न लिखित समाधान पर्य्याप्त होगा।

ईशसत्ता अन्तर्य्याम बहिर्य्याम सम्बन्ध से दो प्रकार से विश्वके पदार्थों में प्रतिष्ठित रहती है। ईश्वर का जो अंश प्रवर्ग्य बनकर जीवसंस्था का उपादान बनजाता है, वह ईश्वर सत्ता अन्तर्य्याम सत्ता कहलाती है, एवं व्यापक सत्ता का जो सम्बन्ध प्रवर्ग्यरूप जीवों के साथ होता है, वह सत्तासम्बन्ध 'बहिर्य्याम' नाम से व्यवहृत होता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मौदनरूप-से ईश्वर सत्ता से सारे जीव किंवा सारे पदार्थ आक्रान्त हैं। इस लिए तो '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' इस वाक्य का समन्वय होजाता है, एवं प्रवर्ग्यरूप से सब पदार्थ उसकी सत्ता से भिन्न हैं, अतः '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**' इसका विरोध नहीं होता।

उदाहरण के लिए जल से परिपूर्ण सहस्र (१०००) घटों को किसी ऐसे निराव-रण प्रान्त में रख दीजिए जहां सूर्य्यरश्मियों का अवरोध न होता हो। ऐसे निरावरण प्रान्त में रक्खे हुए सभी जलपूर्ण घटों में आप पृथक् पृथक् सूर्य्य के प्रतिबिम्ब देखेंगे। रश्मिभेद से एक ही सूर्य्य सहस्र घटों में प्रतिबिम्बित मिलेगा। प्रत्येक प्रतिबिम्ब स्वतन्त्र रश्मि से संपन्न हुआ है, एक प्रतिबिम्ब का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि एक घट छिन्न भिन्न होजाता है तब भी शेष ९९९ घटों के प्रतिबिम्बों पर इस एक प्रतिबिम्बनाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि प्रतिबिम्बरूप सभी सूर्य्य उस गगनविहारी महासूर्य्य के उदक्तरूप हैं। उस महासूर्य्य की संस्था भिन्न है; प्रतिबिम्बित सूर्य्यों की संस्था भिन्न है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि महासूर्य्य के प्रवर्ग्यभाग से अपनी सत्ता प्रतिष्ठित रखनें वाले इन प्रतिबिम्बों की सत्ता का उस महासय्य की सत्ता स कोई सम्बन्ध नहीं हैं। इन के नाश से उस महासत्ता का कुछ नहीं बिगड़ता। प्रत्येक प्रतिबिम्ब के लिए उसका प्रवर्ग्यांश (भोग) नियत है। कलकत्ते में प्रतिबिम्बित सूर्य्य के लिए वहीं की सौर रश्मि नियत है, वह एक मात्र उसी का भागधेय है। बम्बई का सूर्य्यप्रतिबिम्ब प्रयास करनें पर भी कल-कत्ते वाले प्रतिबिम्ब के भागधेय को नहीं लेसकता। इस प्रकार इन प्रतिबिम्बस्वरूप सूर्य्यों का नियत भागधेयत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। इस प्रवर्ग्यांश की पृथक् सत्ता को लक्ष्य में रखकर अवश्य ही—'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**' यह कहा जासकता है। यह सब कुछ होनें पर भी (प्रतिबिम्बों का महासूर्य्यसंस्था से सर्वथा पृथक् संस्था रखनें पर भी) "इन प्रतिबिम्बों में व्यापक सूर्य्यसत्ता नहीं है" यह नहीं माना जासकता। सौरमण्डल में अन्तःप्रविष्ट प्रतिबि-म्बित सूर्य्य प्रवर्ग्यरूप से पृथक् होते हुए भी उस की ब्रह्मौदनरूपा महासत्ता से कैसे पृथक् मानें जासकते हैं। वही महासत्ता तो इन क्षुद्रसत्ताओं का आधार है। यदि मेघ का आवरण आजाता है तो सब का संस्थाविभाग नष्ट हो जाता है। ऐसीअवस्था में मानना पड़ता है कि बहिर्व्योम सम्बन्ध से सभी सूर्य्य महासूर्य्य सत्ता से आक्रान्त हैं। अत एव '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' भी कहनें में कोई आपत्ति नहीं की जासकती।

उपर्युक्त उदाहरण का समन्वय जीवसृष्टि के साथ समझिए। सभी जीव उस ज्योतिर्घन सच्चिदानन्द के प्रवर्ग्यांश से सम्पन्न होनें वाले प्रतिविम्व हैं। इसी प्रतिविम्वभाव को लक्ष्य में रखकर जीव को **'चिदाभास'** (चित् का प्रतिविम्व) कहा जाता है। प्रवर्ग्यरूप से सब की सत्ता पृथक् है। ब्रह्मोदनरूप से वह सब पर आक्रान्त है। इसी व्याप्तिभाव को लक्ष्य में रखकर स्मृति नें—**" ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति "** (गीता १८ । ६१) **" अविभक्तं च भूतेषु विभक्त मिव च स्थितम् "** (गीता १३ । १६) कहा है।

उक्तप्रकरण से यह सिद्ध होजाता है कि प्रतिविम्बरूप सभी जीव ईशसत्ता से नित्य आक्रान्त हैं। सब उसके प्रत्यंशरूप हैं। ईश का एक-एक प्रत्यंश एक एक जीवके लिए नियत है। जो प्रत्यंश जिसके लिए नियत है, वह उसीका है। **'यदस्मदीयं नहि तत् परेषाम्'** यह वाक्य यहां सम्यक्रूपसे चरितार्थ होरहा है। आप अपना नियत प्रत्यंश ही भोग सकते हैं। कारण ईश्वर की ओर से आपके लिए वही निर्दिष्ट है। आपको ईश्वर आज्ञा देता है कि तुह्मारी सत्ता केवल इसी अंशपर है। अन्य प्रत्यंश हमने अन्य जीवों के लिए नियत किए हैं। उनके साथ तुह्मारा कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृतमन्त्र इसी नित्य सिद्ध अर्थ का स्पष्टीकरण करता है।

हम उसी का भोग कर रहे हैं जो हमारे लिए पहिले से नियत था। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जासकता है कि हम उसी का भोग करसकते हैं जो पहिले से हमारे लिए नियत रहता है। अनियत भाग का भोग कथमपि संभव नहीं है। प्रजापतिस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए हमने पूर्व में आत्म- प्राण- पशु समष्टि को प्रजापति कहा है। जीव प्रजापति की उक्त तीनों कलाएं ईश प्रजापति के प्रवर्ग्यरूप हैं। उस की प्रवर्ग्यरूपा आत्मकला से हमारी (जीव की) आत्मकला का, प्राणकला से प्राणकला का, एवं पशुकला से पशुकला का स्वरूप संपन्न हुआ है।

जीवात्मा की उक्त तीनों कलाओं में आत्मा भोक्ता है, प्राण भोगसाधन है, पशु आत्मा का वित्त है। इस की अन्तर्वित्त-बहिर्वित्त भेद से दो अवस्थाएं बतलाई गई हैं। प्राणानुगृहीत शरीर अन्तर्वित्त, है यह आत्मा का अन्तरतम भोग है। यद्यपि दार्शनिक विद्वान् शरीर को भोगायतन मानते हैं परन्तु आत्मा शरीर में रमण करता है, शारीरधातु आत्मा के पोषक बनते हैं,

अतः विज्ञानदृष्ट्या शरीर को भोग भी माना जासकता है। स्त्री-पुत्र-अन्न-गृह-अनुचर-वित्त आदि वहिरंग वित्त हैं। इन में भी अपेक्षाकृत अन्तरंग वहिरंग भाव का समावेश मानना पड़ता है। इन वहिर्वित्तों का भोग कर्म्म-ज्ञानेन्द्रियों से होता है। यही इन्द्रिएं प्राण हैं। जहां से इन इन्द्रियप्राणरूप रश्मियों का उद्गम होता है वह उक्थरूप हृदयस्थ तत्व आत्मा है। यह तीनों हीं कलाएं (आत्मा-प्राण-पशु) प्रत्येक जीव के लिए नियत हैं। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व के यच्चयावत् जीवों में तीनों कलाओं का स्वरूप सर्वथा विभिन्न देखा जाता है। इन के स्वरूपविभाग से हमें वाध्य होकर यह मान लेना पड़ता है कि सचमुच प्रत्येक जीव का प्रवर्ग्यांश सर्वथा नियत है। *'स्थूणारुन्धति' न्याय से पहिले पशुकला को होलीजीए।*

पशुः

अण्डज, उद्भिज्ज, पिण्डज, स्वेदज भेद से प्रत्येक की २१०००.०० अवस्थाओं से जीववर्ग की ८४००००० (चतुरशीतिलक्ष) योनिएं मानीं जातीं हैं। प्रत्येक योनि में अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव में अनन्त कीटाणु हैं। इस प्रकार—'सर्वं प्राणिभिरावृतम्' यह सिद्धान्त सर्वात्मना चरितार्थ होरहा है। आप को यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जीव की प्रकृति भिन्न है। प्रयास करने पर भी आप जीवों में परस्पर प्रकृतिसाम्य नहीं प्राप्त कर सकते। जब प्रकृति सब की भिन्न है तो सुतरां पशुरूप भोग का भिन्नत्व सिद्ध होजाता है। इसी जन्मसिद्ध, दूसरे शब्दों में स्वभावसिद्ध प्रकृतिभेद को लक्ष्य में रखकर ही चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का जन्म हुआ है।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः ॥
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ (गीता ४।१३)"

इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार प्रकृतिभेदमूलक चातुर्वर्ण्यविभाग जीवमात्र में व्यवस्थित है। जड़चेतनात्मक सभी पदार्थों में आपको उक्त वर्णव्यवस्था का समन्वय मिलेगा। इसी आधार पर रसेन्द्रसारकर्त्ता कहते हैं—

ब्रह्म—क्षत्रिय—विट्—शूद्रं स्वस्वकर्म्मफलप्रदम् ॥
न्यायोऽयं भैरवेणोक्तः पदार्थेष्वखिलेष्वपि ॥

प्रकृतिभेदानुसार वर्णभेद है। वर्णभेदानुसार पशुभाग (भोग) नियत है। उदाहरण के लिए सर्पयोनि को लीजिए। ब्राह्मणजाति के सर्प का भोग वायु है। क्षत्रियसर्प का भोग दर्दुर (मेंढक) है। वैश्य सर्प का भोग मिट्टी—अन्नादि है। शूद्र सर्प का भोग निकृष्ट कीटादि हैं। इसी प्रकार शूकर का भोग विष्ठादि है। पशुओं का भोग तृणादि है। मनुष्यों का भोग अन्नादि हैं। सभी प्रकार के अन्न सभी मनुष्यों के भोग हो यह भी नियत विषय नहीं है। प्रकृतिभेद से अन्न भी विभक्त है। सात्विकप्रकृति वाले मनुष्य का भोग शर्करा—दुग्ध—क्षीर—आदि सात्विक अन्न हैं। राजसप्रकृति के मनुष्य का अन्न राजस है। तामस का अन्न तामस है। इसमें भी सत्व, सत्व-रज, रज, रज-तम, तम आदि सूक्ष्म प्रकृतिभेदों से अन्नव्यवस्था में भेद होजाता है। एक वस्तु एक के लिए भोग है, अन्य के लिए वही विष है। इस प्रकार इस जन्मसिद्ध प्रकृति भेद से यह सिद्ध होजाता है कि अभिव्यक्तिरूपा जितनी भी व्यक्तिएं है, सब का भोग सर्वथा विभक्त एवं नियत है। मनुष्य को छोड़ कर इतर जीव अपने अपने नियत भोग का ही भोग करते हैं। ज्ञानमात्रा के विशेष विकास किंवा अज्ञानावृत्त ज्ञानरूप मोह से दुरुपयोग करता हुआ एकमात्र मनुष्य ही प्रज्ञापराध कर बैठता है। प्रज्ञापराधवश यह प्रकृतिविरुद्ध भोगों में अनुरक्त होकर दुःख पाया करता है। मनुष्य के इसी प्रज्ञापराध को लक्ष्य में रखकर कारुणिक वेदभगवान् इसे सावधान करते हैं कि तुह्मारे लिए तुह्मारी प्रकृति के अनुसार ईश प्रजापति ने जो भोग नियत किया है, तुम उसी से जीवनयात्रा का निर्वाह करो। अधिकार विरुद्ध, किंवा प्रकृतिविरुद्ध भोग की इच्छा मत करो। इसी में तुह्मारा कल्याण है। अधिक कहना व्यर्थ है। उक्त उद्धरणों से पाठकोंने मानलिया होगा कि वहिर्वितारूप पशुभाग प्रत्येक जीव के लिए प्रकृत्यनुसार नियत एवं विभक्त है।

शरीर

शरीर अन्तर्भोग है । इस की नियतता में तो कुछ सन्देह ही नहीं है । विजातीय जीवों की तो कथा ही दूर है, सजातीयों का शरीर भी एक दूसरे से समता नहीं रखता । मनुष्यजाति को ही लीजिए । एक मनुष्य की शरीराकृति अन्य की आकृति से सर्वथा भिन्न है । यही नहीं, स्वयं मनुष्यशरीर के अवयव भी एक दूसरे से भिन्न हैं । चक्षु, नासिका, श्रोत्र, मुख, हस्त, पाद, उदर, आदि प्रत्येक अवयव की आकृति सर्वथा भिन्न हैं । विद्वानों के लिए संकेत मात्र पर्य्यप्त है । संसार में जितनी भी व्यक्तिएं हैं, सब अप्रतिम (अद्वितीय—बेजोड़) हैं । एक व्यक्ति की शरीराकृति जैसी है समस्त विश्वमें वैसी आकृति अन्य की नहीं है । हो कैसे जब कि ईश प्रजापति कीओर से सब का भागधेय नियत है । इसी आधार पर हमारा 'जात्यायुर्भोगाः "यह दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है ।

प्राण (इन्द्रिएं)

प्रत्येक प्राणी मुख्यप्राण की समानता से समान होता हुआ भी इन्द्रियरूप गौण प्राणों के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् है । प्रत्येक प्राणी की इन्द्रिय शक्तिएं भिन्न भिन्न हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि ऐन्द्रिक विषयों का अनुभव किंवा प्रत्यक्षभेद इसी इन्द्रियभेद पर अवलम्बित है । सुतरां पशु, शरीररूप बहिर्वित्तवत् इन्द्रियरूप प्राणकला का भी नियतत्व एवं पृथक्त्व सिद्ध होजाता है ।

आत्मा

शेष रहती है आत्मकला । यद्यपि आत्मत्वेन आत्मा समान है, परन्तु शरीरोपाधिभेद से प्रत्येक आत्मा भिन्न है । किसी में भावना वासना संस्कार अधिक हैं, किसी में कम । भोगरूप पशु, शरीर, प्राण भेद से ही आत्मा का भेद सिद्ध है । भोगरूप अन्न पूर्वकथनानुसार प्रत्येक

जीवात्मा का भिन्न है, एवं—'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्' (छां० उ० ५ अ. । ५ खं.) इस औपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार तेज, अप, अन्न-लक्षण भोग से—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' (बृ० आ० ……… ………) एतल्लक्षण मनप्राणवाङ्मय आत्मा का स्वरूप निर्म्माण होता है, तो ऐसी अवस्था में विभिन्नभोग से निष्पन्न होनें वाला आत्मा क्यों कर समान होसकता है।

उपरोक्त कलास्वरूप भेद से यह मानलेने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहजाता कि जगन्नियन्ता की ओर से जीवमात्र के लिए आत्मा प्राण पशु तीनों कलाएं सर्वथा नियत हैं। स्वस्वकर्म्मानुसार सब का भागधेय नियत है । कर्म्मसिद्धान्त को मानने वाला आर्यावर्त्त इसी को 'भाग्यसिद्धान्त' कहता है। भाग्य में जो भोग्य है, जो योनि है, जितनी आयु है, वही प्राप्त होती है, अन्य नहीं। महात्मा तुलसीदास नें वड़े सुन्दर शब्दों में उक्त कर्म्ममूलक भाग्यवाद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा * जो जस कर सो तस फल चाखा ॥
सकल पदारथ हैं जग मांहीं * करमहीन नर पावत नाहीं ॥

(तु० रामायण)

इसी नियत भागधेय सिद्धान्त को सामनें रखते हुए उचित है कि हम ईश्वराज्ञा का पालन करते हुए दूसरे की वस्तु न लें। कारण उस पर हमारा कोई स्वत्व नहीं है । ऐसी अवस्था में उस पर बलात्कार करना आत्महत्या करना है । पूर्वप्रतिपादित धर्म्मनीतिपक्ष इसी विज्ञानसिद्धान्त पर अवलम्बित है।

जीवप्रजापति के लिए ईशप्रजापति का जो भाग आत्मा--प्राण–पशु वना है, यह भाग इसका ब्रह्मौदन है। यह भाग एकमात्र इसी के लिए नियत है। इसे अन्य जीव त्रिकाल में भी नहीं लेसकता। हां जीवप्रजापति का जो प्रवर्ग्य (परित्यक्त) भाग है वह अवश्य ही अन्य का भोग वन सकता है। इस सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त निश्चित है कि जो अन्य

जीव अन्य का प्रवर्ग्य लेता है वह उसी के निमित्त से पहिले से ही नियत रहता है । बिना नियत भोग के अन्य जीव अन्य जीव के प्रवर्ग्य को भी नहीं लेसकता । इसी आधार पर—**'जिसका जिसे लेना है वह अवश्य लेगा, जिस का जिसे नहीं लेना वह प्रयास करने पर भी नहीं लेसकता'** यह जनश्रुति प्रचलित है ।

पशुकला को हमनें वित्त कहा है । शरीर एवं स्त्री—पुत्र—गृह—अनुचर—वित्त—पशु भेद से इस के बहिर्वित्त अन्तर्वित्त भेद से दो विभाग बतलाए हैं । इन दोनों वित्तों की ब्रह्मौदन—प्रवर्ग्यभेद से दो दो अवस्थाएं हैं । इसी प्रकार प्राणकला और आत्मकला की ब्रह्मौदन एवं प्रवर्ग्य दो दो अवस्थाएं होजातीं हैं । पहिले आत्मकला को लीजिए । आत्मा मन—प्राण—वाङ्मय होता हुआ ज्ञान—क्रिया—अर्थमय है । आत्मा की यह तीनों शक्तिएं इन्द्रियों द्वारा निरन्तर खर्च होतीं रहतीं हैं । जो शक्तिभाग आत्मस्वरूपरक्षा के लिए आत्मा में अन्तर्निहित हैं वह ब्रह्मौदन है । इसे कोई नहीं लेसकता । जो शक्तिभाग ज्ञान—कर्म्म—अर्थ व्यापाररूप इच्छा—तप—श्रम से आत्मसंस्था से बाहर निकल गया है, वह आत्मा का प्रवर्ग्य भाग है । यही अन्य जीव का भोग बनता है । हमारे ज्ञान क्रिया अर्थ व्यापार से अन्य जीवों को लाभ पहुंचता है । दूसरे शब्दों में हमारा आत्मा प्रवर्ग्यरूप से अन्य जीवों का भोग बन जाता है । यही अवस्था प्राणकला की है । वाक्—प्राण—चक्षु—श्रोत्र—मन—यह पञ्चप्राण विषयभोग में उपयुक्त होते हैं । यह ऐन्द्रियक भाग भी खर्च होते रहते हैं । इन का स्वरूपसंपादक आवश्यक भाग ब्रह्मौदन है, परित्यक्त भाग प्रवर्ग्य है । हमारी इन्द्रियों का व्यापार अन्य जीवों का उपकारक बनता है, परन्तु प्रवर्ग्यभाग से । यही अवस्था पशुभाग की है । पहिले अन्तर्वित्तरूप शरीर को ही लीजिए । शरीरधातु रस—असृक्—मांस—मेदा—अस्थि—मज्जा—शुक्र—इन सात भागों में विभक्त है । सातों हीं धातु शुक्र द्वारा खर्च होते रहते हैं । ओज और मन भी इन के खर्च के द्वार हैं । कारण शुक्र आगे जाकर ओज रूप में परिणत होता है, एवं ओज विशुद्ध सोमावस्था में परिणत होता हुआ 'मन' बनता है । मन इन्द्रियों द्वारा सतत व्यर्थभाव से आक्रान्त रहता है । साथ ही प्रजोत्पत्ति में स्वयं शुक्र भी खर्च होता रहता है । इस में शरीरप्रतिष्ठोपयोगी जितना शुक्र अपे-

क्षित है वह तो कभी खर्च नहीं हो सकता, यह ब्रह्मौदन है। प्रजानिर्म्माण में जितना शुक्र उपयुक्त होगया वह प्रवर्ग्य है। इसी प्रकार सभी शारीरधातु प्राणरूप में परिणत होकर रोमकूपों द्वारा निरन्तर बाहर निकला करते हैं। उदाहरण के लिए असृक् (रुधिर) धातु को ही लीजिए। जो असृक्धातु रोमद्वारों से बाहर निकल जाता है, वही यमवायु के आक्रमण से घनावस्थामें परिणत होकर रोमद्वारोंपर ही प्रतिष्ठित होजाता है। यही केश–लोम हैं। शारीर-अग्नि से परित्यक्त–उच्छिष्ट–निवारित–रक्त ही केश-लोम हैं। निवारित होनें से ही इन्हें 'वार' कहा जाता है। वार ही वाल किंवा वाल हैं। यही अवस्था अन्यधातुओं की समझिए। जो शारीरधातु शरीरयष्टि की स्वरूपरक्षा के लिए नियतमात्रामें शरीर में ही शरीररूप से प्रतिष्ठित रहते हैं–वह भाग ब्रह्मौदन है। व्ययीभूत धातु प्रवर्ग्य हैं। यही अन्य-जीव के उपकारक बनते हैं। शारीरधातु अहरहः क्षीण होते रहते हैं, तभी तो सायंप्रातः अन्नयज्ञ की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार स्त्री–पुत्र–अनुचर, वित्तादिरूप वहिर्वित्त जब तक हमारी आत्ममहिमा में प्रविष्ट रहते हैं, तब तक ब्रह्मौदन हैं। आत्मसंस्था से पृथक् होकर अन्य के उपयोग में आते हुए यही प्रवर्ग्यरूप में परिणत होजाते हैं।

प्रकृति का निरीक्षण कीजिए। 'श्यैत' नाम से प्रसिद्ध (तां० ब्रा० ७।१०।८) पृथिवी का प्रवर्ग्य भाग निरन्तर सौराग्नि में आहुत होकर सूर्य्य का अन्न बन रहा है। एवमेव '**नौधस**' नाम से प्रसिद्ध (ता० ब्रा० ७।१०।८) सौर प्रवर्ग्यभाग निरन्तर पार्थिव अग्नि में आहुत होता हुआ पृथिवी का अन्न बन रहा है। दोनों का जीवन परस्पर में होनें वाले प्रवर्ग्यान्न पर निर्भर है। पृथिवी और सूर्य्य पदार्थमात्र के उपलक्षण हैं। हम सब प्राणियों के पदार्थ सब में आहुत होते रहते हैं। ऐसा एक भी क्षण नहीं जाता जिसमें हमारे प्रवर्ग्यभाग को अन्य प्राणी न लेते हों, एवं अन्यप्राणियों का प्रवर्ग्य भाग हम न लेते हों। इसी नित्यभाव को लक्ष्य में रखकर प्रवर्ग्याहुतिरूप इस यज्ञ को ब्राह्मणश्रुतियोंनें '**अहरहर्यज्ञ**' (दैनिकयज्ञ) नाम से व्यवहृत किया है। सच पूछो तो प्रवर्ग्यरूप पशुभाग द्वारा होनें वाले

परस्पर के भोक्तृ-भोग्यलक्षणयज्ञ के आधार पर ही हम सब प्राणियों की जीवन रक्षा होरही है। जो भाग प्रवर्ग्यरूप से हमारी संस्था में से बाहर निकल जाता है, अन्य प्राणी के प्रवर्ग्यांश को लेकर हम अपनी वह कमी पूरी कर लेते हैं। अन्य जीव हमारे प्रवर्ग्य भाग से अपनी कमी पूरी करलेता है। कमी होनें से जो हीनाङ्गलक्षण रोग का उदय होता है, वह आदानविसर्ग लक्षण इस अहरहर्यज्ञलक्षण प्रवर्ग्ययज्ञ किंवा उच्छिष्टयज्ञ से शान्त होजाता है, अत एव उक्त यज्ञ को '**भैषज्ययज्ञ**' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। हमें अपनी जीवन रक्षा के लिए जो सामग्रिएं मिलतीं हैं सब प्रवर्ग्य हैं। कारण ब्रह्मौदन को लेना तो शक्ति एवं अधिकार के बाहर है। सुतरां यह सिद्ध होजाता है कि प्राणी मात्र का जीवन केवल उच्छिष्ट लक्षण प्रवर्ग्य यज्ञ पर ही निर्भर है। इसी विज्ञान के आधार पर अथर्ववेद का निम्नलिखित सिद्धान्त वाक्य प्रतिष्ठित है।

उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वम्"

(अथर्व संहिता)

हम प्राणियों में प्रवर्ग्य यज्ञ होरहा है। हमारा विकास जिस सूर्य्य से हुआ है उसके साथ भी हमारा प्रवर्ग्ययज्ञ सम्बन्ध चल रहा है। **"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" "प्राणः प्रजानामुदयेत्येष सूर्य्यः"** इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार सूर्य्य हमारा प्रभवस्थान है। हम उसी के प्रवर्ग्यांश कोलेकर धरातल पर अवतीर्ण हुए हैं। हम उसी के अंश से उत्पन्न हैं-इसका सूर्य्य किञ्चित् भी अनुरोध न करता हुआ हमारे प्रवर्ग्य को निरन्तर खाता रहता है। साथ ही में अपनी कमी पूरी करनें के लिए प्रवर्ग्यान्न भोक्ता उसे (उसके प्रवर्ग्य को) हम भी निःसंकोच खाते रहते हैं। इस प्रकार सर्वत्र यह आदानविसर्गरूप भैषज्ययज्ञ व्याप्त होरहा है। सब एक दूसरे के भोक्ता (खानें वाले) हैं, सब एक दूसरे के भोग्य (अन्न) हैं। '**जीवो जीवस्य भक्षकः**' यह सिद्धान्त सर्वविदित है। इसी सर्वानुस्यूत प्रवर्ग्ययज्ञ का निरूपण करते हुए वेद पुरुष कहता है—

अभिशाप है। ऐसा राक्षसीभोग आत्मा के प्रत्यवाय का कारण है । इसी प्रत्यवाय को लक्ष्य में रखकर "तेन त्यक्तेन" इत्यादिरूप से नित्यसिद्ध विज्ञानस्थिति का निरूपण कर अन्त में श्रुति को-"मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" यह कहना पड़ा है, जैसा कि पूर्वप्रतिपादित धर्मनीतिपक्ष में स्पष्ट किया जाचुका है।

विज्ञाननीतिपक्ष के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जासकता है। "नित्यसिद्ध प्राकृतिक नियमों का ही नाम विज्ञान है। जब विज्ञानदृष्टि से प्रवर्ग्यातिरिक्त का भोग हो ही नहीं सकता फिर इस पक्ष में "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" इस आदेश का क्या महत्व रह जाता है?" यह है प्रश्न का स्वरूप। यद्यपि प्रज्ञापराध का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में इस प्रश्न का समाधान किया जा चुका है, तथापि यहां उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। इसी प्रश्न का समाधान करते हुए ब्राह्मणग्रन्थों का एक आख्यान हमारे सामनें आता है। "ईशप्रजापतिनें सृष्टि कामना से इच्छापूर्वक तप-श्रम व्यापार से देवता, पितर, असुर, मनुष्य, पशु यह पांच प्रकार की प्रजा उत्पन्न की। उत्पन्न प्रजा में सर्वप्रथम देवता पिताप्रजापति के सामनें यज्ञोपवीती बनकर दक्षिण पैर को ऊंचा कर बैठगए, और विनीतभाव से प्रार्थना करनें लगे कि हे प्रजापते! हमारे लिए ऐसा उपाय करिए जिससे हम जीवित रह सकें। प्रजापति नें उत्तर दिया कि यज्ञ तुह्मारा अन्न होगा। अमृतरस (सोमरस) तुह्मारा बलप्रदरस होगा। सूर्य्य तुह्मारा प्रकाश होगा। इस प्रकार जीवनोपयोगी अन्न प्रकाशादि सामग्री लेकर देवता लौट गए। अनन्तर प्राचीनावीती बनकर वाम पैर को ऊंचाकर पितर उपस्थित हुए। इन्हों नें भी "वि नो धेहि यथा जीवामः" यह प्रार्थना की। इन के लिए प्रजापतिनें आज्ञा दी कि मास मास में (प्रति अमावास्या को) तुह्मारा तृप्तिसाधक अन्न स्वधा होगा, मन तुह्मारा बल होगा, चन्द्रमा तुह्मारा प्रकाश होगा। पितर लौट आए। अनन्तर प्रावृत होकर उपस्थ भाव से (पालथी मार कर) मनुष्य उपस्थि हुए। इन्हों नें भी वही प्रार्थना की। उत्तर में प्रजापति नें कहा कि प्रातः सायं तुह्मारा भोजन समय होगा, प्रजा (सन्तति) तुह्मारा बल

होगा। मृत्युभय सदा तुह्मारे साथ रहैगा, अग्नि तुह्मारी ज्योति होगी। मनुष्य लौट गए। पशु उपस्थित हुए। इनको प्रजापति नें "तुह्में जब कभी–जहां–कहीं–जो भी कुछ मिलेगा–उसी समय–उसी स्थान में–वही पदार्थ तुह्मारी तृप्ति का कारण बनजायगा" इस प्रकार इन को अन्न सम्बन्ध में प्रजापति नें स्वतन्त्र करदिया। उपरोक्त चारों प्रजाओं के साथ (प्रत्येक के साथ) असुर भी पहुंचते थे। इन्हें असन्तोषी समझ कर प्रजापति 'अभी ठहरो तुम पिछे आना' यह कह कर लौटा देते थे। जब देवता–पितर–मनुष्य–पशु चारों की व्यवस्था हो चुकी तो असुर फिर आए। उनकी धृष्टता को लक्ष्य में रखते हुए प्रजापति नें कहा कि अन्धकार तुह्मारा अन्न है। माया (छल–धूर्त्तता–असत्यभाषण–परद्रव्यापहरण–पिशुनता–आदि) तुह्मारा प्रकाश है। "इस प्रकार प्रजासम्बन्धिनी अन्न व्यवस्था का निरूपण कर आगे जाकर श्रुति कहती है कि" प्रजापति नें आरम्भ काल में जिस प्रजा के लिए जो प्राकृतिक नियम बनाए थे– आज तक देवता–असुर–पशु–पितर यह चार प्रजा तो उन्ही नियमों पर आरूढ हैं, परन्तु—"**मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति**"। मनुष्यप्रजा उन नियमों का अतिक्रमण कर रही है। मनुष्य प्रजा में जो मनुष्य आवश्यकता से अधिक स्थूल होगया है, उदरभार से जो सुखपूर्वक चल नहीं सकता, ऐसे अतिपुष्ट मनुष्य के लिए आगे जाकर श्रुति कहती है कि "यह पुष्ट मनुष्य अशुभकर्म्म (मिथ्या–जालसाजी–अन्याय से द्रव्योपार्जन आदि) रूप पापकर्म्म से ही पुष्ट हुआ है। ऐसा मनुष्य कभी उत्तमलोकों का अधिकारी नहीं बनसकताता"

(देखिए शतपथ ब्रा० २ कां० ४ अ० २ ब्रा०)।

उक्त आख्यान से प्रकृतमें हमें केवल यही कहना है कि ईशद्वारा संचालित प्राकृत नियमों का कोई भी प्राणी उल्लंघन नही करता। एक वृषभ (बलीवर्द-बैल) तृणादि नियत अन्न को छोड़ कर कभी मोहनभोग के लिए लालायित नहीं होता। मैथुनक्रिया में भी पशु पक्षियों में कभी साङ्कर्य अथवा ऋतुचर्य्या का उल्लंघन नहीं देखा जाता। यदि अप्राकृतभाव का आश्रय लेता है तो एकमात्र मनुष्य, ज्ञान की चरमसीमा पर पहुचने का गर्व रखने वाली सभ्यनाम से विभूषित मानवजाति। मनुष्य के इसी अव्यवस्थित भाव को लक्ष्यमें रख कर

श्रुतिने इसके लिए "अनृतसंहिता वै मनुष्याः" (शत० १।१।१) यह उपाधि प्रदान की है।

मनुष्य अपने प्रज्ञापराध से प्राकृतिक (वैज्ञानिक) नियमों का उल्लंघन करडालता है। अतः शास्त्रोपदेश एकमात्र मानवजाति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इतर प्रजा के लिए तो '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**' यही वाक्य पर्य्याप्त था। इन नियमों के प्रतिसिद्ध होने पर भी प्रज्ञापराधधर्म्मा मनुष्य की उत्पथभावनाओं को लक्ष्य में रख कर श्रुति को '**मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**' यह अक्षर कहने की आवश्यकता हुई।

यह है '**ईशावास्यमिदं सर्वम्०**' इत्यादि मंत्र का तीसर वैज्ञानिक अर्थ। अर्थत्रयप्रतिपादक उक्त प्रथम मंत्र मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययपुरुष के 'मन' भाग का ही निरूपण करता है। भोग जीवन का साधन है। विना अन्नभोग के कोई भी प्राणी प्राण धारण नहीं कर सकता। इस भोग का प्रधान आलम्बन आत्मा की मन कला है, यह पूर्व में दतलाया जाचुका है। यही कारण है कि ज्ञानकर्म्ममय भोगजनित भावना–वासनासंस्कार मन पर ही प्रतिष्ठित होते हैं। आगतविषय संस्काररूप से मनोधरातल पर संचित होते रहते हैं। इन्हीं भोगसंस्कारों के बल से स्मृति का उदय होता है। यही स्मृति योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार मन को पुनः पुनः तत्तद्विषयों की कामना में प्रवृत्त कराती रहती है। श्रुति कहती है कि विश्वव्यापक ईशप्रजापति अपने मन भाग से विश्वके यच्च यावत् पदार्थों का भोग करता हुआ सर्वत्र व्याप्त होरहा है। परन्तु बड़ा आश्चर्य ! अहोरात्र भोगों में लिप्त रहता हुआ भी ईश भोगबंधन से, दूसरे शब्दों में संसारबंधन से बद्ध नहीं होता। कारण समझते हो ? नहीं तो '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**' वाक्य पर दृष्टिडालो, समाधान होजायगा। विषयभोग कभी बंधन का कारण नहीं है, बंधन का कारण है विषयासक्ति। ईश प्रजापति अनासक्त बन कर भोग भोग रहा है। सब कुछ ईश से युक्त है, परन्तु युक्त ईश वियुक्त रह कर ही-अनासक्त बन कर ही भोग करता है। आसक्ति से भावना-वासनासंस्कार का उदय होता

है। यह संस्कार ही बंधन का कारण है। भोग इस बंधन का कारण नहीं हैं। आसक्ति-लिप्सा संस्कार का कारण है, एवं संस्कार बंधन का कारण है। यदि तुम भी ईशवत् निरन्तर भोग भोगते हुए भी बंधन से वियुक्त रहना चाहते हो तो "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" का अनुगमन करो। इस पक्ष में तेन का "आसक्तिरहितेन भोगेन" यह अर्थ करना पड़ैगा। तुह्मारे में आसक्ति है। तुम अपने भागधेय पर आसक्ति रखते हो। तुम भी एक ईश हो,सारी संपत्ति तुह्मारा भोग्य है। तुम उससे वियुक्त होकर भोग नहीं करते, युक्त होकर भोग करते हो, यही तुह्मारे बन्धन का कारण है।

यही नहीं इसी आसक्ति के परवश होकर अन्य धन में लिप्सा रखते हुए अपने आसक्तिसंस्कार को और भी अधिक दृढ करलेते हो। यही तुह्मारे पतन का मुख्य कारण है। जो भोग तुह्मारे लिए प्राप्त है, तुह्में जितना मिलता है, उसी का संतोषवृत्ति से भोग करो। अप्राप्त की लिप्सा मत करो। प्राप्त में आसक्ति न रखते हुए रमण करो। इसी से तुह्मारा अहरहर्यज्ञ संपन्न होजायगा। अहरहर्यज्ञ ईश के नियन्त्रण से अपने आप सञ्चालित होरहा है। इसकी स्वरूपरक्षा के लिए तुह्मारे लिए जितना भोग अपेक्षित है, वह ईश की ओर से नियत है। उसे कोई नहीं छीन सकता। यही नियत भोग आत्मार्थ किंवा यज्ञार्थ कहलाता है। यह अनासक्तिद्वारा प्राप्त है। अत एव यह यज्ञार्थकर्म्म बन्धन का कारण नहीं बनता। यज्ञार्थकर्म्म से अतिरिक्त भोगसाधक कर्म्म आसक्तिप्रधान बनते हुए अवश्य ही बन्धन के कारण बनजाते हैं। इसी श्रौती उपनिषत् का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ॥

(गीता ३। ९)

विश्वातीत अव्ययमन का कहां साक्षात्कार करें? उत्तर है भोग में। संसार में जो भोग होरहा है वह उसी के द्वारा होरहा है। भोक्ता जीवप्रजापति यदि ईशप्रजापति के भोगमय मन का वास्तविक स्वरूप समझ लेता है तो वह आसक्ति का परित्याग करता हुआ, अत एव

भोगबन्धन से पृथक् होता हुआ, ईश का समकक्ष बनता हुआ अमृततत्व को प्राप्त होजाता है। यदि मनुष्य इस आदेश की अवज्ञा करता हुआ उभयमार्ग का आश्रय लेकर आसक्तिपूर्वक सांसारिक विषयों में लिप्त रहता है तो उसका कारण शरीररूप मनोमय भोक्तृलक्षण आकाशात्मा मलिन होजाता है। मन प्रधान कारणशरीर पवित्र रहे, वह संस्कारदोष से वियुक्त रहता हुआ अमृततत्व का भागी बनें, उक्त विज्ञानीतिपक्ष कारणशरीररूप इसी मनोभाव के अभ्युदय का रहस्य प्रकट करता है।

१—उस समय तक दूसरे की वस्तु मत लो जबतक कि उसका स्वत्व उस वस्तु पर से न हटजाय।	समाजपक्ष
२—पदार्थस्वामी की इच्छा के विना कभी उस पदार्थ को मत लो।	धर्म्मपक्ष
३—ईश्वर नें तुम्हें जन्म से ही जो कुछ दे रक्खा है, दूसरे शब्दों में तुम्हारे लिए जो भोग नियत है उसी पर सन्तोष करो। दूसरे के भागधेय पर कभी नियत मत डिगाओ।	विज्ञानपक्ष
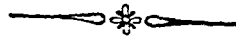
इति मनोमयाव्ययनिरूपणात्मकं

॥ भोगतन्त्रम् ॥

विद्या-कर्म्ममय अमृतात्मा

गूढोत्मा

अथ

सूक्ष्मशरीरपरकं प्राणप्रकरणं कर्तृतन्त्रनिरूपणम्

'प्राणः'
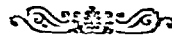
कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥

(ईशावास्योपनिषत् २ मन्त्र)

श्रीः

तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥ १ ॥
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं "तन्न सिद्धये" ॥ २ ॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥ ३ ॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥ ४ ॥

(योगशिखोपनिषत्

योगस्थः "कुरु कर्माणि" सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं 'योग' उच्यते ॥ १ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ २ ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ३ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरन् ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ ४ ॥
"कर्म्मणैव" हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

(गीतोपनिषत्)

मन-प्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय पुरुष के ज्ञानमय मन का भोग रूप से पूर्व मन्त्र में निरूपण किया जा चुका है । अब **'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि'** इत्यादि द्वितीय मन्त्र क्रमप्राप्त अव्यय के क्रियाप्रधान, दूसरे शब्दों में कर्म्मप्रधान प्राण का निरूपण करता है । जैसा कि उप-

---

* यह औपनिषद् वचन स्पष्ट शब्दों में कर्म्म की अवश्यकर्तव्यता का आदेश देते हैं । योगशिखोपनिषत् कहती है कि तृष्णादि दोषों के दूर होने पर निष्कैवल्य भाव की प्राप्ति होती है । इस मुक्तिभाव की प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ साथ योग (निष्कामकर्म्म–आसक्तिविरहित कर्म्म) का भी आश्रय लेना परम आवश्यक है । योग (कर्म्म) हीन विशुद्धज्ञान आत्मज्ञानलक्षण मुक्ति का कारण कथमपि नहीं बन सकता । श्रौतीउपनिषत् के इसी आदेश का "योगस्थः कुरु कर्म्माणि" इत्यादि स्मार्त्ती–उपनिषत् स्पष्टीकरण किया है । प्रकृत प्रकरण ("कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि" इत्यादि मन्त्रप्रकरण) कर्म्म की इसी नित्यकर्त्तव्यता का रहस्योद्घाटन करता है ।

क्रम में बतलाया जा चुका है, मन-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव के कारण आरम्भ के तीनों मन्त्रों के तीन तीन अर्थ होते हैं, प्रकृत मन्त्र का भी उन्हीं तीनों भावों से सम्बन्ध है। यहां भी प्रधानता तीनों पक्षों में 'विज्ञानपक्ष' की है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

> "इस संसार में (इह) आयु के सौ वर्ष (शतं समाः) कर्म्म करते हुए ही (कुर्वन्नेव कर्म्माणि) जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए (जिजीविषेत्)। (अर्थात् जन्म से मृत्युपर्य्यन्त निरन्तर कर्म्म करते रहना चाहिए)। इस प्रकार यावज्जीवन कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होने वाले (एवं) तुझ (मनुष्य में) (त्वयि नरे) कर्म्मलेप की सम्भावना नहीं है (न कर्म्म लिप्यते)" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

यदि पाठक सूक्ष्मदृष्टि से विचार करेंगे तो उन्हें विदित होगा कि उक्त मन्त्र में **'कर्म्म'** शब्द बिना किसी विशेषण के स्वतन्त्ररूप से प्रयुक्त हुआ है। इसी लिए मन्त्रोपात्त स्वतन्त्रभावापन्न 'कर्म्माणि' से हम कर्म्मसामान्य का, दूसरे शब्दों में कर्म्ममात्र का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं समझते। जब हम कर्म्मशब्द की मीमांसा करने लगते हैं तो हमें यह कर्म्मप्रपञ्च तीन ही विभागों में विभक्त मिलता है। पहिला कर्म्मविभाग **'अधिकृतकर्म्म'** है। दूसरा विभाग **'धार्मिककर्म्म'** है, एवं तीसरा विभाग **'आत्मीयकर्म्म'** है। विश्व के समस्त कर्म्मों का उक्त तीन विभागों में अन्तर्भाव होजाता है। अधिकृतकर्म्म प्रथमश्रेणि के कर्म्म हैं। धार्मिक कर्म्म मध्यमश्रेणि के, एवं आत्मीयकर्म्म उत्तमश्रेणि के कर्म्म हैं। अधिकृतकर्म्म **'राजनीति'** के सञ्चालक हैं, धार्मिककर्म्म **'धर्म्मनीति'** के मूलाधार हैं, एवं आत्मीयकर्म्म **'विज्ञाननीति'** के प्रवर्त्तक हैं। अधिकृतकर्म्म वाङ्मय होते हुए **'स्थूलशरीर'** से सम्बन्ध रखते हैं। इन की आधारभूमि **'भूतग्राम'** है। धार्मिककर्म्म प्राणमय होते हुए **'सूक्ष्मशरीर'** से सम्बन्ध रखते हैं। इनकी प्रतिष्ठा **'देवग्राम'** है। आत्मीयकर्म्म मनोमय होते हुए **'कारणशरीर'** से सम्बन्ध रखते हैं। इनकी प्रतिष्ठाभूमि **'आत्मग्राम'** है। सामान्यरूप से उपात्त मन्त्रगत 'कर्म्माणि' पद अविशेषतया उक्त तीनों कर्म्मसंस्थाओं के रहस्यार्थ का प्रतिपादन करता है। तीनों में से सर्वप्रथम 'सूचीकटाहन्याय' को लक्ष्य में रखते हुए राजनीति सम्बन्धी स्थूलशरीरप्रधान- भूतग्राममय वाग्रूप अधिकृतकर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ का ही संक्षिप्त स्वरूप विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

राजनीतिपत्त

१

भूतग्राममय-वाक्प्रधान-स्थूलशरीर-सम्बन्धी

अधिकृतकर्म

—:०*०:—

भूतनयी सृष्टि के आरम्भकाल में संभवतः मनुष्य प्राणी एकान्तप्रिय रहा हो, परन्तु पौराणिक विकासवाद के अनुसार क्रमशः इस की सभ्यता का विकास होनें लगा। सभ्यता के विकास के साथ साथ इस की आवश्यकताएं भी बढ़नें लगीं। आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए इसे एक संगठित समाज की आवश्यकता प्रतीत हुई। वही संगठित समाज वैदिक सभ्यता के पूर्वयुग में "मणिजा*" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस जातिनें प्राकृतिक वैज्ञानिक तत्वों के आधार पर किस प्रकार मानवजाति का अभ्युत्थान किया? इन सब बातों के निरूपण का प्रकृत में अवसर नहीं है। यहां उक्त जाति के सम्बन्ध में यही जान लेना बस होगा कि मणिजा-जाति नें समाज को सुव्यवस्थित रखनें के लिए तत्कालीन अपने समाज को साध्य, महाराजिक, आभास्वर, तुषित, इन चार भागों में विभक्त किया। जो संगठन आज वैदिक सभ्यता में वर्णव्यवस्था नाम से प्रसिद्ध है, मणिजाजाति का उक्त जातिविभाग प्रायः इसी व्यवस्था से मिलता जुलता था। ज्ञान-विज्ञानतत्वों का परीक्षण कर विविध आविष्कार कर इनके द्वारा

---

* मणिजाजाति से सम्बन्ध रखनें वाले विकासयुग का पूर्ण विवरण 'पुराणरहस्य' नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। लेखक ···· ···।

तत्कालीन मानवसमाज में ज्ञानप्रसार करना साध्यजाति का कार्य था। यह जाति यज्ञविद्या में पूर्ण निष्णात थी, जैसा कि निम्नलिखित यजुर्मन्त्र से स्पष्ट है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ॥
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे **साध्याः** सन्ति देवाः ॥
(यजुः सं० ३१ । १६) ।

दस्यु–वर्वर–आदि जंगली असभ्य जातियों के उत्पात से समाज की रक्षा करनें वाली जाति उस समय "**महाराजिक**" नाम से प्रसिद्ध थी। समाज की आर्थिक चिन्ता दूर करनें वाली, दूसरे शब्दों में व्यापारव्यवस्था का संचालन करनें वाली जाति '**आभास्वर**' नाम से प्रसिद्ध थी, एवं प्रतिरूप–अनुरूप भेद से उभयविध शिल्प का परिज्ञान रखनें वाली, सेवा-धर्म्म को अङ्गीकार करनें वाली जाति "तुषित" कहलाती थी। इस युग में प्रजातन्त्र की ही प्रधानता थी। कहना नहीं होगा कि सामाजिक दृष्टि से तत्कालीन मानव समाज किसी विषय में पिछड़ा हुआ न था। परन्तु एक ऐसी कमी थी जिसके कारण उक्त व्यवस्था अधिक समय तक न टिक सकी। विज्ञान–वाणिज्य–शिल्प–आदि सांसारिक कर्म्मों की चरम सीमा पर पहुंची हुई यह जाति "ईश्वर–सत्ता" नहीं मानती थी। "प्रकृति से ही सब कुछ संञ्चालित है। यदि हम चाहें तो नया सूर्य्य, नया चन्द्रमा, नई पृथिवी आदि का निर्म्माण कर सकते हैं" उन का यह विश्वास था। इसी अनीश्वरवाद के प्रभाव से साध्यजाति में सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न १० मत प्रचलित थे। वे ही मत किंवा वाद ऋग्वेद में व्योमवाद, अम्भोवाद, सदसद्वाद, अहोरात्रवाद, आवरणवाद, रजोवाद, अपरवाद, संशयवाद आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। आगे जाकर ईश्वरीय प्रेरणा से तुषितजाति में ईश्वरांशभूत ब्रह्मा का अवतार हुआ। इसी महापुरुष नें तत्कालीन मानव समाज में व्याप्त नास्तिकवाद का समूल विनाश करते हुए ब्रह्मसत्ता प्रतिष्ठित कर प्रकृति के साम्राज्य का निरीक्षण कर तदनुरूप ही सृष्टि की व्यवस्था की। ब्रह्मा द्वारा विहित वही सृष्टिविभाग महाभारतादि में वेदसृष्टि, लोकसृष्टि, प्रजासृष्टि, धर्म-

सृष्टि इन नामों से प्रसिद्ध हुई । ब्रह्मा नें जाति और संस्कार का समन्वय कर वर्ण और अवर्ण भेद से प्रजासृष्टि को व्यवस्थित किया । उपरोक्त दोनों सृष्टिएं चतुर्द्धा चतुर्द्धा विभक्त हुईं । वर्णसृष्टि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र इन नामों से, एवं अवर्णसृष्टि अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यु-म्लेच्छ इन नामों से प्रसिद्ध हुई । शासनव्यवस्था के लिए नीतितन्त्र और राजतन्त्र को प्रधानता दी गई । अनीश्वरमूलक प्रजातन्त्र का समूल विनाश किया गया । देवव्यवस्था में नीतितन्त्र प्रधान रहा, मनुष्यव्यवस्था में राजतन्त्र की प्रधानता रही । इस प्रकार समाज को व्यवस्थित रखनें के लिए जात्यनुसार अधिकार निरीक्षण पूर्वक तत्तद्वर्णों के लिए तत्तत् कर्म्मों की व्यवस्था की गई ।

राजनीतिमूलक यही कर्म्म 'अधिकृतकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुए । विचारशील विद्वान् मुकुलित नयन बनकर यह देख रहे हैं कि ज्यों ज्यों अधिकृतकर्म्मव्यवस्था शिथिल होती जा रही है, दूसरे शब्दों में ज्यों ज्यों '**हम सभी कर्म्म करने के अधिकारी हैं**' इस उद्दाम वासना मूलक '**सब सब कर्म्म करें**' यह सिद्धान्त जोर पकड़ता जारहा है, त्यों त्यों मानव-समाज का शान्त वातावरण विनाश की ओर अग्रेसर होता जारहा है । यदि कुछ दिन समाज की यही उच्छृंखल प्रवृत्ति रही, यदि उसने वर्णव्यवस्थामूलक अधिकृतकर्म का महत्व न समझा तो निःसन्देह भारतवर्ष अपना सञ्चित गौरव खो बैठेगा । समाज की कौटुम्बिक (Joint Family) व्यवस्था नष्ट होजायगी । देश का शिल्प-वाणिज्य-साहित्य सब कुछ स्मृति-गर्भ में विलीन होजायगा, जिसका कि आभास होना आरम्भ होगया है ।

अस्तु, इन युगधर्म्मों की चर्चा में हम आपका अधिक समय नष्ट नहीं करना चाहते । उपरोक्त सामाजिक व्यवस्था के दिग्दर्शन से बतलाना हमें यही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, एवं इस समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए कर्म्म विभाग एवं कर्म्म व्यवस्था अधिकार योग्यता भेद से नितान्त आवश्यक है । भारतीय समाजशास्त्रियों नें समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए ही **राजकर्म्म, अमात्यकर्म्म, भृत्यकर्म्म, सभाकर्म्म, वणिक्कर्म्म, ब्राह्मणकर्म्म**,

क्षत्रियकर्म्म, शूद्रकर्म्म, सेनाकर्म्म, गृहस्थकर्म्म, आदि आदि भेद से कर्मकलाप को अनेक भागों में विभक्त किया है। उपरोक्त अवान्तर कर्म्म एक एक पृथक्संस्था है। संस्थास्वरूपसंपादक कर्म्म संस्थाभेद से किंवा अधिकारी भेद से परस्पर में सर्वथा विभिन्न हैं। विभिन्न स्वरूपयुक्त अतएव स्वतन्त्रसंस्थ इन यच्च यावत् अविकृतकर्म्मों का संचालक एक महाकर्म्म है। वही महाकर्म्म समाजशास्त्र में 'राजनीति' 'राजतन्त्र' 'राष्ट्रनीति' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। राजा जिन उचित नियमों के द्वारा तत्तत् कर्म्मों को संचालित करता है, वही शासनसूत्र किंवा नियमसंघ 'राजनीति' कहलाती है। जहां राजनीति राष्ट्रीय प्रजा को स्वाधिकारसिद्ध अविकृत कर्म्मों में बद्ध रखती है, वहां स्वयं राजा को भी इसी नीति का अनुशासन मानना पड़ता है।

प्रकारान्तर से यों समझिए। "अमुक कर्म्म अमुक मनुष्य करें" "अमुक संस्था का नेतृत्व अमुक व्यक्ति ग्रहण करें" "अमुक समय पर अमुक कर्म्म हो" इन सब व्यवस्थाओं का मूलसूत्र राजा के हाथ में रहता है। इसी नीतिसूत्रद्वारा राजा प्रजा को स्व-स्व-अधिकार में अविकृत रखता हुआ, परिस्थिति के अनुसार साम—दाम—दण्ड—भेद का उपयोग करता हुआ राज्य का सञ्चालन करता है। अत एव राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्म 'अविकृतकर्म्म' कहे जाते हैं। राजा इन सब का महा अधिकारी है। इसके अधिकार में पृथक् पृथक् कर्म्मसंस्थाओं के सञ्चालक अनन्त अधिकारी हैं। जहां इन अधिकारियों का संचालन राजा करता है, वहां राजा का संचालन स्वयं राजनीति करती है। राजनीति के विरुद्ध राजा नहीं जासकता, राजनीति से युक्त राजा के विरुद्ध प्रजा नहीं जासकती। इस प्रकार इस सूत्रबद्ध व्यवस्था से राज्य का एवं प्रजा का यथावत् संचालन होता रहता है। ऐसे राज्य में पूर्णशांति रहती है। यदि प्रजा अपराध करती है, स्वाधिकारसिद्ध कर्म्म से विमुख होती है तो राजा उसे दण्ड देता है। यदि स्वयं राजा उत्पथमार्ग का अनुगमन करता है तो राजनीति के मूलप्रवर्त्तक राष्ट्र के निःस्वार्थसेवी विद्वान् तपोनिष्ठ ब्राह्मण ऐसे राजा के लिए दण्ड विधान करते हैं। राजा फिर भी अनीति का ही अवलम्बन किए रहता है तो वह पदच्युत करदिया जाता है। राजा वेन, रावण,

शिशुपाल, कंस आदि अत्याचारी राजा इस के निदर्शन हैं। कहना यह है कि राजनीति का मौलिक सिद्धान्त–"परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" इस वाक्य पर अवलम्बित है। जो राजा मदोन्मत्त बन कर अपनी प्रजा के हित का जरा भी विचार न कर केवल स्वार्थसिद्धि में लगा रहता है, जहां की प्रजा राजा के अत्याचार से त्राहि त्राहि करती रहती है, विश्वास कीजिए ऐसी राजसत्ता शीघ्र ही नष्ट होजाती है।

सामाजिक अथवा राजनैतिक जितनें भी कर्म्म हैं, प्रत्येक में '**स्वामी–सेवक**' इन दो भावों का सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक कर्म्मसंस्था में आपको एक स्वामी मिलेगा, एवं एक अथवा अनेक (सुविधानुसार अथवा कार्य की योग्यतानुसार) कार्यकर्त्ता मिलगे। स्वामी की जैसी आज्ञा होती है, इन्हें तदनुकूल ही कर्म्म करना पड़ता है। इस प्रकार भारतवर्ष के सभी कर्म्मकलापों में राजतन्त्र अन्तःप्रविष्ट होरहा है। गृहपति स्वामी है, घरके स्त्री-पुरुष–भृत्यवर्ग सब सेवक हैं। सभापति संचालक है, सभ्यगण सञ्चालित हैं। गद्दी पर प्रतिष्ठित श्रेष्ठी (साहू-साहूकार-सेठ) स्वामी है, मुनीम-रोकड़िया आदि अन्य भृत्य सेवक हैं। सेनापति संचालक है, सेना सञ्चालित है। डाक्टर स्वामी है, कम्पाउन्डर, ड्रेसर, नर्स आदि भृत्यवग है। न्यायाधीश स्वामी है, अहलकार, चपरासी आदि भृत्यवर्ग है। गुरू संचालक है, शिष्यवर्ग सेवक है। इञ्जिनीयर स्वामी है, ओवरसीयर, मजदूर आदि सब सेवक हैं। शिल्पी स्वामी है, पत्थर ढोहनें वाले भृत्य हैं। जाने दीजिए मानव समाज को। अन्यप्राणियों में भी आपको उक्त व्यवस्था का प्रत्यक्ष होगा। मधुमक्षिका समाज में एक मक्षिका सबसे बड़ी होती है। उपनिषदो न उसे "**मधुकरराजा**" नाम से व्यवहृत किया है। यह स्वामी है, अन्य मधुमक्षिकाएं भृत्यवर्ग है। यदि मधुच्छत्र (मोह के छत्ता) पर से आप मधुकर राजा को पृथक् करदेंगे तो उस के पलायित होते ही सब मक्षिकाएं पलायित हो जांयगीं। दीपप्रकाश एवं विद्युत्प्रकाश में अनेक कीट उत्पन्न होजाते हैं। यदि आप अवधान पूर्वक देखेंगे तो उस कीटसमुदाय में भी आप को एक कीट आकार में सब से बड़ा प्रतीत होगा, एवं वह इतर क्षुद्र कीटों पर शासन करता हुआ मिलेगा। सिंह वन का एवं वन्यजीवों का स्वतःसिद्ध अधिपति है। निदर्शन मात्र है। समाज से किंवा राज्य से

सम्बन्ध रखनें वाला एक भी कर्म ऐसा नहीं है, जिस में स्वामी—सेवक विभाग न हो। साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि स्वामी एक ही होगा, सेवक अनेक होंगे। यदि एक ही कर्म-संस्था में अनेक स्वामी होजाते हैं, अथवा बनादिए जाते हैं तो— "नश्यन्ति बहुनायकाः" इस सिद्धान्त के अनुसार वह कर्मसंस्था अव्यवस्थित होती हुई नष्ट भ्रष्ट होजाती है। इसी उपरोक्त राजतन्त्र को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति कहती है—

"जिस कर्म में तुम अधिकृत हो (वह कर्म्म सामाजिक हो अथवा राजनैतिक), दीक्षित हो, यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो यावज्जीवन, अपने अधिकृतकर्म्म पर मनसा वाचा कर्म्मणा आरूढ रहो।" बात यथार्थ है। जो सेवक यावज्जीवन बड़ी तत्परता से अपना अधिकारसिद्ध कर्म्म करता रहता है, वह कभी अपनें स्वामी के दण्ड का भागी नहीं बनता। अपनें कर्त्तव्य पर आरूढ रहनें वाला व्यक्ति कभी किसी भी प्रकार की हानि नहीं उठासकता। ऐसा कर्म्मप्रवण व्यक्ति अपनें स्वामी का विश्वासपात्र बनजाता है, लोक में उसकी कीर्त्ति होती है। अपने अधिकृतकर्म्म पर आरूढ होकर अधिकारी की आज्ञा से यदि तुम किसी का वध भी कर डालोगे तब भी तुम्हें कोई बुरा न कहैगा। कारण तुमनें तुम्हारा कर्त्तव्य पालन किया है। ऐसे कर्म्म से लाञ्छन लगना तो दूर रहा, किन्तु तुम्हारी प्रशंसा होगी। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए-इसी अधिकृत कर्म्म का अक्षरशः पालन करनें वाले स्वनामधन्य राजर्षि हरिश्चन्द्र स्वामी चाण्डाल की आज्ञानुसार अपनी पत्नी से पुत्र रोहित के शवसंस्कार के लिए श्मशानकर मांगते हुए सदा के लिए अपना यश अमर कर गए हैं। इस लिए आवश्यक है कि बिना किसी आनाकानी के तुम्हें चुपचाप स्वामी की आज्ञा का पालन करते रहना चाहिए।

हम देखते हैं कि यदि कोई मनुष्य किसी को मार डालता है तो संसार में, समाज में उस की निन्दा होती है। ऐसा व्यक्ति राजदण्ड एवं जातिबहिष्कारादि सामाजिक दण्ड से द-ण्डित होता है। परन्तु यह भी देखा जाता है कि वधकर्म्म (फांसीकर्म्म) में नियत एक व-धिक (जल्लाद) के हाथों से हजारों के मारे जाने पर भी न तो उसकी लोक में निन्दा ही

होती, एवं न राजदण्ड और समाजदण्ड से वह दण्डित किया जाता। राजनीतिरहस्यवेत्ता प्रजा-प्रिय राजा का कर्त्तव्य है-. दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों की रक्षा करना। यदि राजा अपनी इस दण्डलक्षण निग्रह-(क्षमालक्षण) अनुग्रह नीति का यथावत् पालन करता है तो सर्वत्र उस का यशोगान होनें लगता है। यदि सत्तानद से मत्त बना हुआ राजा अपनें उक्त अधिकृत कर्म्म की उपेक्षा करता हुआ यथेच्छाचार करनें लगता है, दूसरे शब्दों में दुष्टोंपर अ ग्रह, साधुओं का निग्रह करनें लगता है तो ऐसे राजा के राज्य में शीघ्र ही प्रजाविप्लव हो जाता है। कुछ ही समय में फलस्वरूप राजा वेन के समान वह पदच्युत कर दिया जाता है। इन कुछ एक निदर्शनों से हमें मान लेना पड़ेगा कि समाजशान्ति के लिए, राष्ट्र के कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक वर्ण को, प्रत्येक समाज को यावज्जीवन अपने अधिकृत कर्म्म में ही नियुक्त रहना चाहिए। इसी शान्तिमूलक स्व-स्व-अधिकारसिद्ध कर्त्तव्य पालन का उपदेश देती हुई, साथ ही में उसे शान्ति का कारण अत एव सर्वथा उपादेय वतलाती हुई श्रुति कहती है—

> "कर्म्म में अधिकृत मनुष्यों को चाहिए कि वे समाज की मंगलकामना के लिए स्वामी से अधिकृत अपनें अपनें नियत कर्म्मों को करते हुए ही जीवित रहनें की इच्छा करें। यदि अपनें नियतकर्म्म में तुम इसी प्रकार यावज्जीवन प्रवृत्त रहे तो ऐसे कर्म्मो से (चाहे वे सदोष ही क्यों न हों) कभी तुह्मारा अन्यथा (अनिष्ट-अपकीर्त्ति-राजदण्ड-समाजदण्डादि) नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति पर कभी उस अधिकृत कर्म्म का धब्बा नहीं लगसकता"।

इसी श्रौत आदेश का बड़े सुन्दर शब्दों में स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥
सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्॥

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥

(गीता १८ अ०)।

प्रत्येक अधिकृत कर्म्म स्वस्वरूप से बड़े महत्व की वस्तु है। जो महत्व समाज की आवश्यकता की दृष्टि से एक ब्राह्मणकर्म्म का है, शूद्रकर्म्म किसी भी दृष्टि से कम महत्व नहीं रखता। यही नहीं '**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**' इत्यादि रूपसे सेवाधर्म्मरूप शूद्रधर्म्म को शास्त्रकारों ने बड़ा महत्व दिया है। इन्ही अवान्तर कर्म्मो के भेद से प्रत्येक वर्ण में अनेक जाति उपजातियों का विकास होगया है। वर्णमूलिका जातिव्यवस्था को केवल कल्पना मानने वाले कल्पनारसिकों को यजुर्वेद का ३० वां अध्याय अवश्य देखना चाहिये। जातिभेद से सब का कर्म्म नियत है। समाज को आवश्यकतानुसार सभी कर्म्म अपेक्षित हैं। साथ ही में '**सब मनुष्य सभी कर्म्मों के अधिकारी हों**, यह सिद्धान्त प्रकृति एवं योग्यता दोनों से परे है। सभी व्यक्ति पूर्णशिक्षित होजांय, सभी शास्त्रों के पारंगत होकर उपदेश देनेंलगे यह असंभव है। सभी शस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त कर क्षात्रधर्म्म किं वा क्षात्रकर्म्म के अधिकारी बनें, यह असंभव है। सभी अर्थसंचय में निपुण हों, यह असंभव। इन सब के लिए आप को अवश्य अवश्य अधिकारव्यवस्था माननी ही पड़ेगी। धनुर्द्धर द्रोणाचार्य, परशुराम, ब्रह्मवादिनी गार्गी, मैत्रेयी, भक्तराज रैदास, तुकाराम, धर्म्मव्याध-आदि कुछ एक अपवादों को समस्त मानव समाज पर सामान्य रूप से घटा नें का साहस करना क्या विवेक से शून्य नहीं है? फिर उन लोगों नें आवश्यकतानुसार किंवा अनेक जन्मों के पवित्रतम संस्कारों के बल से भक्तिनिष्ठा प्राप्त करते हुए क्या वर्णाश्रममर्य्यादा का विरोध किया था? सर्वथा नहीं। ब्रह्मनिष्ठ रैदास नें यावज्जीवन अपना अधिकार सिद्ध चर्म्म कर्म्म न छोड़ा। प्रातः स्मरणीय सन्त तुकाबा के भक्तिभाव से प्रभावित होकर जिस समय सर्वश्री शिवाबा नें उन से सन्यास दीक्षा की इच्छा प्रकट की उस समय अधिकृत कर्म्म का महत्व एवं आवश्यकत्व अनुभव करते हुए तुकाबा नें क्या उत्तर किया था? यह उन्हीं के वाक्यों से विदित होता होगा।

मूगलसाम्राज्यसूर्य्य सोलह कलाओं से उदीयमान था। साम्राज्यगर्व से मदोन्मत्त बने हुए मूगल अधिकारी अत्याचार का ताण्डव नृत्य कर रहे थे। आर्यसभ्यता, आर्यसंस्कृति पर विपत्ति के बादल मंडरा रहे थे। सर्वत्र त्राहि त्राहि की पुकार सुनाई पड़ती थी। ऐसे ही भीषण युग में माता जीजा बाई, दादाजी कौण्डदेव, समर्थ रामदास स्वामी, आदि के क्षत्रियोचित उपदेशों से शिक्षित दीक्षित होकर भवानी के अनन्य उपासक महाराष्ट्र केसरी हिन्दूधर्म्म रक्षक श्रीशिवाजी महाराज अपनें बालसहचारी मोरोजी पन्त, एसाजी, तानाजी आदि कतिपय वीर पुरुषों को साथ लेकर मूगलसाम्राज्य को छिन्न भिन्न करनें के लिए राष्ट्रप्राङ्गण में अवतीर्ण हुए। परिणाम क्या हुआ यह सर्वविदित है। इधर शिवाजी अत्याचारियों का दमन कर रहे थे, उधर समर्थ रामदास एवं सन्ततुकाराम भक्ति प्रचार से राष्ट्र में नवीन जीवन डाल रहेथे। युगपरिवर्त्तन हो रहाथा। संयोगवश एक समय शिवाबा तुकाराम के आश्रम की ओर जा निकले। शिवाजी नें मोरोपन्त पर तुकाराम के दर्शनों की इच्छा प्रकट की। मोरोपन्त तुकाराम की जीर्ण शीर्ण पर्ण कुटी पर पहुंचे। स्वयं शिवाजी कुटी के बाहर ओट में खड़े होकर भीतर का वृत्त सुननें लगे। वहां दोनों में (संत तुकाराम एवं मोरोपन्त में) क्या बात चीत हुई ? सुनिए:—

मोरोपंत- शिवाजी महाराजाना आपल्या दर्शनाची फार इच्छा आहे। आपल्याला नेण्यासाठीं पालखी हि आणली आहे।

तुकाराम- आम्ही असें उन्हातान्हांत भटकणारे, रस्त्यावरच्या धुरळयानं अंग मलीन झालेल असलं, हे हाडामांसाचं चालतं बोलतं भूत, त्या राजविंड्यापुढं उभं करून तुम्हां कायमिळणार आहे आणि त्याला तरी आमच्या या अमंगल दर्शनानं कसला लाभ होणार आहे ?

मोरोपंत – शिवाजी महाराज को आपके दर्शनों की बड़ी उत्कट इच्छा है। आप को साथ लेजाने के लिए पालकी आई हुई है।

तुकाराम – (अरे !) हम इधर उधर भटकनें वाले हैं। मार्ग की धूल से हमारा शरीर मलिन होरहा है। यह अस्थिमांस का चलता फिरता (एक (पञ्च) भूत का पिण्ड है। ऐसे (भूतपिण्ड को उन समर्थराजाओं के सामने लेजानें से तुम्हारा कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा, एवं ऐसे हमारे अमङ्गल दर्शनों से उन्हें क्या लाभ होगा ? ......।

मोरोपंत - शिवाजी महाराज सारखे थोर राजे । आपल्याला इतक्या आदरानं बोलावताहेत आणि आपण येत नाहीं खरोखरच आश्चर्य आहे ।

तुकाराम - शिवाजी सारखा राजा आणि कुणाच्याही पायांखालीं चिरडली जाणारी यःकश्चित् मुंगी दोन्ही आम्हाला सारखींच । तो थोर आहे, उदार आहे, पण मला त्याच्याजवळ आहे तरी काय ? ते व्हां तिथपर्यन्त चालण्याचेश्रम घेऊन तेवढं तरी आयुष्य व्यर्थ कां दवडा ? आतां आम्हांला कांही द्यायची अगदीं त्याची इच्छा च असेल तर म्हणावं एवढंच करा.......... ।

आम्हीं तेणे सुखी, म्हणा विठ्ठल विठ्ठल मुखीं ।
तुमचें येर वित्त धन, ते मज मृत्तिके समान ।
कंठी मिरवा तुळसी, व्रत करा एकादशी ।
म्हणतां हरिचे दास, तुका म्हणे मज ए आस ।

मोरोपन्त एवं श्रीतुकाराम के इस संवाद से प्रभावित होनें वाले शिवाजी से अब बाहर न खड़ा रहा गया । फलतः शिवाजी कुटी पर पहुंच जाते हैं, और सन्त के चरणों में पड़कर प्रार्थना करते हैं—

मोरोपंत – शिवाजी महाराज जैसे (आज के युग में) थोड़े ही राजा हैं । वे आप का बड़े सम्मान के साथ बुलावें, और आप चलें नहीं; यह वास्तव में बड़े आश्चर्य को बात है।

तुकाराम – हमारी दृष्टि में शिवाजी जैसे (समर्थ) राजा, एवं एक साधारण (असमर्थ) व्यक्ति दोनों समान हैं (हम राव रङ्क दोनों को आत्मदृष्टि से एक समझते हैं) । सचमुच शिवाजी जैसे राजा बहुत कम हैं । साथ ही मे शिवाजी उदार भी है, परन्तु मुझे उन से क्या मांगना है, साथ ही में उनके पास मुझे देने जैसी क्या वस्तु है ? फिर मैं वहां जाकर व्यर्थ अपनी (आयु का अमूल्य) समय नष्ट क्यों करूं ? अगर वह मुझे कुछ देनां ही चाहते हैं तो उन्हें हमारी ओर से निम्नलिखित संदेश देना—

"हम अपने मुख से निरन्तर विठ्ठल विठ्ठल (कृष्ण कृष्ण) बोलते रहें, इसी से हम परम सुखी हैं । तुह्मारा वित्त धन (रूप भौतिक संपत्ति) हमारे लिए मिट्टी के समान है । गले में तुलसी की माला, एकादशीव्रत का अनुष्ठान, हरिभक्तों की नित्य सेवा, बस तुका का यही एक अभिलाषा है " ।

शिवाजी- महाराज ! आज पासून मी आपला शिष्य आणि हरीचा दास झालों आपण माझ्या डोळ्यांत वैराग्याचं अंजन घातलं. नरजन्माच्या सार्थक्याचा मार्ग दाखविलात । मोरोपंत ! तुम्ही परत जा. मी येत नाहीं ।

मोरोपंत- म्हणजे ? मग राज्याची काय वाट ? मातोश्रींना मी काय सांगू ?

शिवाजी- राज्य तुम्ही संभाळा, आणि मातोश्रींना सांगा म्हणावं तुमच्या शिवबाला आत्मज्ञान झालं. दगडा मातीच्या किल्ल्यांत दडून बसलेल्या शत्रूला जिंकण्या ऐवजीं मोहादि खऱ्या शत्रूंचा नाश करण्यांत शिवबा गुंतला आहे ।

मोरोपंत- छे. छे. महाराज हें काय ?

शिवाजी- तुम्हीं आतां कांहीं एक बोलूं नका. जा आतां तुम्ही............ । महाराज ! मला आपला शिष्य समजून उपदेशावा ।

तुकाराम- शिवबा ! तूं फार लांबून आला आहेस, संध्याकाळपर्य्यन्त विश्रांति घे. मलाहि तुला थोडं सांगावयाचं आहे ।............... ।

शिवाजी – महाराज ? आज से मैं आप का शिष्य एवं हरि का भक्त बनगया । आपने मेरे नेत्रों में वैराग्य का अञ्जन (कज्जल) लगा दिया है। मनुष्यजन्म को सार्थक करने वाला मार्ग बतलादिया है । मोरोपंत तुम चले जाओ । अब मैं तुम्हारे साथ नहीं चलसकता ।

मोरोपंत – परन्तु महाराज ? राज्य की क्या व्यवस्था होगी, एवं मातुश्री (जीजा बाई) को लौटकर मैं क्या जवाब दूंगा ।

शिवाजी – राज्यभार तुम संभालना, और मातुश्री को हमारी ओर से यह निवेदन करना कि तुम्हारे बालक शिवा को आत्मबोध होगया है । पत्थर मिट्टी के बने हुए दुर्ग (किला) में रहने वाले शत्रुओं के एवज में शिवाने आज से अपने वास्तविक शत्रु मोहादि के नाश करने का निश्चय कर लिया है।

मोरोपंत – हरे ! हरे !! महाराज यह आपको क्या होगया ?

शिवाजी – बस इस से आगे तुम कुछ न कहो। यहां से एक दम चले जाओ ।

तुकाराम – शिवबा ! तू बहुत लम्बी यात्रा करता हुआ आरहा है। इसलिए सायंकालपर्य्यन्त विश्राम कर । बाद में मुझे तुझ से कुछ कहना है।

विश्रामानन्तर संत तुकाराम कीर्त्तन आरम्भ करते हुए कीर्त्तनव्याज से शिवाजी को निम्न लिखित उपदेश देते हैं—

तुकाराम- "कुळधर्मे ज्ञान, कुळधर्मे साधन, कुळधर्मे निशान हाथी चढे। कुळधर्मे महत्त्व, कुळधर्मे मान, कुळधर्मे पावन परलोकींचे। तुका म्हणे कुळधर्म दावि तेंचि देव, यथाविध भाव जरी होय" (अभङ्ग)।

तेव्हां आपापले कुळधर्म्म पालणें हे प्रत्येक मनुष्याचं कर्त्तव्य आहे. एवढंच नव्हे, तर त्याची तपश्चर्या, त्याचा मोक्ष, त्याचं परमात्मपद त्यांतच आहे। शिवबा! तुम्ही क्षत्रिय, क्षात्रधर्मानुसार शत्रूंशी लढून तुम्हीं देशाचं आणि धर्माचं रक्षण केलं पाहिजे, तो तुमचा राजधर्म आहे, तो तुम्ही पाळलात तर जनक अम्बरीषप्रमाणें इहलोकीं कीर्त्ति आणि परलोकीं मोक्ष मिळवाल।

शिवाजी- पण महाराज! क्षात्रधर्माच्या मोहाचं जाळं इतकं मोठं, आणि इतकं गुंतागुंतीचं आहे. कीं त्यांत एकदां अडकलेला मनुष्यप्राणी परमेश्वरप्राप्ति करून घेण्यासाठीं कधींच मोकळा होणार नाहीं।

तुकाराम – "कुलधर्म ही सच्चा ज्ञान है, कुल धर्म ही सच्ची साधना है, कुलधर्म ही महत्व की वस्तु है, कुलधर्म्म ही प्रतिष्ठा है, कुलधर्म (इस लोक के साथ साथ ही) परलोक में भी पावन करने वाला है। तुका की दृष्टि से कुलधर्म साक्षात् आराध्य देव है-परन्तु श्रद्धा भावना हो तब" (अभङ्ग)। प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कुलधर्म का पालन करे, यह उसका आवश्यक कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं अपि तु मनुष्य की तपश्चर्या, उस की मोक्ष, उस को परमपद प्राप्ति सब कुछ कुलधर्म पर ही अवलम्बित है। तुम क्षत्रिय हो। क्षात्रधर्मानुसार शत्रु के साथ युद्ध कर तुम्हें देश एवं धर्म की रक्षा करनी चाहिए। यही तुम्हारा सच्चा राजधर्म है। यदि तुमने यथाविधि राजधर्म का पालन किया तो राजर्षि जनक एवं अम्बरीष के समान इस लोक में तुम्हारी कीर्त्ति होगी, एवं परलोक में मोक्षपद प्राप्त होगा.................)।

शिवाजी – परन्तु महाराज? क्षात्रधर्म के मोह का जाल इतना जटिल है, इतना संकटाकीर्ण है, उसमें फँसे बाद मनुष्य जैसा निर्बल प्राणी परमेश्वर प्राप्ति में सफल होजाय यह असंभवसा है।

तुकाराम- तसं नाहीं राजे, वर्णाश्रमधर्माप्रमाणं प्राप्त झालेलीं कर्त्तव्यें तुच्छ लेखून, ईश्वरप्राप्ती साठीं संसाराचा त्याग करण्याची किंवा दुसरा कोणताही खटाटोप करण्याची आवश्यकता नाहीं. राजा असो, सिपाई असो, किंवा तुमचा एखादा सामान्य प्रपंची प्रजाजन असो, धर्मानं नेमून दिलेली कर्त्तव्यें करीत करीत परमेश्वराला आपलासा करून घेण्याचा अगदीं साधा मार्ग म्हणजे:—

शिवाजी- आहाहा ! खरं आहे, परतं मला, महाराज ! अज्ञानानं माझ्या हातून मोठी चूक होत होती, परण आपल्या उपदेशानं मला माझ्या खऱ्या कर्त्तव्याची जाणीव झाली …………… ।

तुकाराम – राजन् ? भूलते हो। वर्णाश्रमधर्मानुसार प्राप्त होनें वाले कर्त्तव्यकर्मों को तुच्छ समझकर ईश्वरप्राप्ति की लालसा से संसार को छोड़देनें को, अथवा और किसी मार्ग के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं है। राजा हो अथवा एक मामूली सिपाही, अथवा तुह्मारे राष्ट्र में रहनें वाला कोई सांसारिक-प्रजाजन हो- सबका उद्धार एक मात्र वर्णाश्रमधर्मानुकूल कर्त्तव्यकर्म करनें से ही होसकता है।

शिवाजी – धन्य ! धन्य !! महाराज !!! आप का उपदेश यथार्थ है। आज मेरे नेत्र खुलगए। मैं अज्ञानवश बड़ी भारी भूल कर रहा था, परन्तु आपके उपदेश से मुझे आज अपनें वास्तविक कर्त्तव्य का परिज्ञान होगया है……………… ।

भगवान् राम नें शबरी के झूंठे बेर खाए थे, इस लिए हम भी शास्त्रसिद्ध स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था की उपेक्षा कर कर अन्त्यज अत्यावसाइयों की थाली में बैठ कर भोजन करनें लगें, क्या यह न्याय संगत होगा ? अवतार पुरुषों के असामान्य कर्म्मों की नकल करना क्या हितप्रद मार्ग है ? यदि हां तो शंकरवत् विषपान करिए ! अग्निवत् सर्वभक्षी बनिए ! भगवान् कृष्ण की तरह ६ मास की अवस्था में पूतना का वध करिए ! जिस दिन आप मानवगुणोत्तर अवतार गुणों से विभूषित होजायंगे उसी दिन आप विधि-निषेध की सीमा का उल्लंघन करनें के अधिकारी बनेंगे। आज कितनें एक अर्द्धशिक्षित अत एव अर्द्धदग्ध महानुभाव उपरोक्त कुछ एक अपवादों को भोली जनता के सामनें रखते हुए स्वयं पथभ्रष्ट बनते हुए, स्वयं स्वाधिकारसिद्ध कर्म्मों से च्युत होते हुए उसे स्वकर्म्म से च्युत करनें में ही राष्ट्र का कल्याण समझ रहे हैं। शास्त्रमर्म्मानभिज्ञ उन्नति के स्वप्नद्रष्टा इन्ही महानुभावों के उत्पथ चरित्र का स्पष्टी करण करते हुए वेद भगवान् कहते हैं —

> अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ॥
> दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
> (कठोपनिषत्)।

शास्त्रादेशों के मर्म्म को न समझते हुए देश के कर्णधारों की ओर से आज शास्त्राज्ञाओं की अमानुषिकता घोषित की जारही है। अहिंसा-सत्य आदि की यथेच्छ व्याख्या करते हुए कल्याण के कल्पित मार्ग बनाए जारहे हैं। सावधान ! यदि यही व्यवस्था कुछ समय तक और रही तो थोड़े ही समय में भारतीय संस्कृति-सभ्यता-आदर्श-उत्कर्ष सब कुछ स्मृतिगर्भ में विलीन होजायंगे। इसलिए समाज एवं राष्ट्र को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखनें के लिए समाज के नेताओं का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे तत्तज्जातिविभाग को तत्तत् कर्म्मों की ओर ही प्रवृत्त करें। एक भंगी का कर्म्म क्या निन्दनीय है ? कभी नहीं। जो निन्दा करता है वह निन्दनीय है। "तुह्मारा कर्म्म निन्दनीय है, तुह्मारे साथ शास्त्रकारों ने अत्याचार किए हैं" इस प्रकार का विषाक्त वातावरण फैला कर चिरकाल से अधिकृत कर्म्म पर आरूढ रहनें वाली

जातियों को लक्ष्यच्युत बनाना भी एक मात्र समाज के कर्णधारों की ही कृपा का फल है। आशा है वे अपने इस कुकाण्ड का परित्याग कर शान्तचित्त से अधिकृतकर्म्म का रहस्य समझने की चेष्टा कर तदनुकूल चलने, एवं समाज को चलानें का प्रयत्न कर प्रवलवेग से रसातल पहुंचती हुई आर्यसंस्कृति को सुरक्षित रखने का अव्यर्थ प्रयास करेंगे।

अधिकृत कर्म्मों की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति को दण्ड मिलता है। किसे ? वाक्प्रधान स्थूलशरीर को। वाङ्मय सामाजिक-एवं राजनैतिक भावापन्न अधिकृतकर्म्मों की अधिष्ठान-भूमि स्थूलशरीर ही है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में में ही कहा जाचुका है। मन्त्र में **'कर्म्माणि'**, **'अन्यथा'**, **'लिप्यते'** यह तीन पद अवधेय हैं। तीनों पक्षों में उक्त तीनों शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। राजनीति पक्ष में **'कर्म्माणि'** का अर्थ है **"स्वामिना अधिकृतानि कर्म्माणि'** (स्वामी से नियत किए गए अधिकृत कर्म्म)। **'अन्यथा'** शब्द का अर्थ है -**"अनिष्टं, दण्डप्राप्तिः"** (आजीविका में वाधा एवं शारीरक और आर्थिकदण्ड)। **'लिप्यते'** का अर्थ है कलंक, दाग, धब्बा, अपकीर्ति। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले अधिकृतकर्म्म का केवल सांसारिक उन्नति से सम्बन्ध है। प्रथमार्थ समाप्त हुआ, अब प्राणप्रधान धर्म्मनीतिपक्ष की ओर आप का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

१

धर्म्मनीतिपक्ष

१

देवग्राममय-प्राणप्रधान-सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी धार्म्मिक-कर्म्म
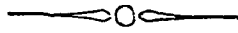
जिस प्रकार 'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' 'स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इत्यादि वचन अविकृतकर्म्म का निरूपण करते हैं, इसी प्रकार 'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि' यह वचन धार्मिककर्म्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यों तो कर्म्म कलाप बड़ा विस्तृत एवं दुरूह है। फिर भी कर्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में भगवान् ने समस्त कर्म्मप्रश्न को तीन भागों में विभक्त कर कर्ममात्र का संग्रह कर लिया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

> कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्म्मणः ॥
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ (गीतोपनिषत्)।

सचमुच कर्म्म- विकर्म्म-अकर्म्म में कर्म्ममात्र अन्तर्भूत हैं। सत्कर्म्म कर्म है, शास्त्रविरुद्ध कर्म्म विकर्म है, निरर्थक कर्म्म अकर्म है। सत्कर्म्मों के तीनविभाग हैं। पहिला विभाग 'विद्यासापेक्षनिवृतिकर्म्म है'। इन कर्मों की समष्टि ही गीताशास्त्र में अनासक्तकर्म्म नाम से प्रसिद्ध हुई है। इन कर्म्मों का सम्बन्ध आत्मग्राममय मनप्रधान कारणशरीर के साथ है। यही तीसरा विज्ञानपक्ष है। इस का निरूपण आगे के प्रकरण में विस्तार से किया जाने वाला है। अत एव प्रकृत में मुक्तिसाधक इन निष्काम लक्षण सत्कर्म्मों को छोड़ते हैं। दूसरा विभाग है 'विद्यासापेक्षप्रवृत्तिकर्म्म'। यह सत्कर्म्म यज्ञ-तप दान-भेद से ती तीन भागों में विभक्त हैं। इन का देवग्राममय प्राणप्रधान सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध है। स्वर्गादिफल इन कर्म्मों पर ही

अवलम्बित है। यही सत्कर्म्म विभाग प्रकृत प्रकरण का मुख्य विषय है। तीसरा विभाग 'विद्या-निरपेक्षप्रवृत्तिकर्म्म' है। यह इष्ट-आपूर्त्त-दत्त भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। इन से ऐहलौकिक सुख मिलता है, एवं परलोकविद्या के अनुसार यही कर्म्म पितृस्वर्गप्राप्ति के कारण हैं। सत्कर्म्म विभाग का पूर्वप्रतिपादित सामाजिक कर्म्म में ही अन्तर्भाव है। इस प्रकार 'कर्म्म' शब्द से व्यवहृत सत्कर्म्म तीन भागों में विभक्त है। सुरापान, परद्रव्यापहरण, हिंसा, स्तेय, मिथ्या-भाषण, अगम्यागमन, अनधिकृतकर्म्म आदि शास्त्रविरुद्ध, दूसरे शब्दों में शास्त्रनिषिद्ध कर्म्म 'विकर्म्म' (विरुद्ध कर्म्म) नाम से प्रसिद्ध हैं। वृथा जलताड़न, कराघात, भूमिविलेखन, तृणच्छेदन, पादभ्रमण आदि शास्त्रप्रतिषिद्धाविहितकर्म्म 'अकर्म्म' (निरर्थक कर्म्म) नाम से व्यवहृत हुए हैं। ऐसे निरर्थक कर्म्मों की न तो शास्त्र में आज्ञा है, न निषेध है। कितने हीं मनुष्यों का स्वभाव है कि वे बैठे बैठे अपना पैर हिलाया करते हैं। तृणच्छेद किया करते हैं। ऐसे कर्म्म आरम्भदशा में यद्यपि प्रत्यवाय एवं अभ्युदय दोनों से ही सम्बन्ध नहीं रखते। परन्तु यही निरर्थक कर्म्म चिर-काल के अनन्तर व्यर्थ के संस्कारों के जनक बनते हुए, अत एव प्रत्यवाय के जनक बनते हुए विकर्म्म कोटि में हीं प्रविष्ट होजाते हैं। इस प्रकार कर्म्मप्रपञ्च स्थूल दृष्टि से तीन भागों में, एवं सूक्ष्मदृष्टि से पांच भागों में विभक्त देखाजाता है।

	१– विद्यासमुच्चितनिष्कामकर्म्म — मुक्तिसाधक			
१	२– विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्म — देवस्वर्गसाधक		सत्कर्म्म	१
	३– विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म — पितृस्वर्गसाधक			
२	४– शास्त्रविरुद्ध कर्म्म................... प्रत्यवायजनक		विकर्म्म	२
३	५– अविहिताप्रतिषिद्धकर्म्म .... निरर्थक		अकर्म्म	३

† धर्म्मसूत्र, कल्पसूत्र, महाभारत पुराण आदि से उपबृंहित वेदविद्या हीं प्रकृति में विद्याशब्द से अपेक्षित है।

‡ सामाजिककर्म्मों (अधिकृत कर्म्मों) का इसी विभाग में अन्तर्भाव है। ऐसे कर्म्म ऐहलौकिकसुख साधनभूत होते हुए केवल पितृस्वर्गप्राप्ति के कारण बनते हैं।

उपर्युक्त कर्म्म स्वरूपों से यह सिद्ध होजाता है कि सत्कर्म्म ग्राह्य है, एवं विकर्म्म, अकर्म्म त्याज्य हैं। निरन्तर सुख की कामना रखते हुए, इस कामना से सतत प्रयत्नशील बनते हुए भी मनुष्य प्रायः अधिकसंख्या में दुःखी ही देखे जाते हैं। इस का एकमात्र कारण है शास्त्रसिद्ध सत्कर्म्म का परित्याग, एवं विरुद्धकर्म्म का ग्रहण। शास्त्रविरुद्धकर्म्म तमोमय हैं। तम आत्मा का विरोधी पदार्थ है। ऐसे तमोमय कर्म्मों से ज्योतिर्म्मय आत्मा मलिन होता हुआ, स्वप्रकाश से आवृत होता हुआ दुःख पाया करता है। स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ भी सूर्य्य मेघावरणरूप अन्धकार को दूर करनें में जैसे असमर्थ है, एवमेव रहता हुआ भी आत्मप्रकाश तमोभाव की अधिकता के कारण दुःख मूलक अविद्यादि दोषों को दूर करनें में असमर्थ रहता हुआ इस औपाधिक दुःख से दुःख पाया करता है। दुःखनिवृत्ति के लिए अविद्यात्मक आवरणभंग अपेक्षित है। इस आवरणभंग का एक मात्र उपाय है धर्म्मशास्त्रोक्त स्व–स्व–वर्णानुकूल स्व-स्व-कर्म्मों का अनुष्ठान। राजनीति के महाचक्र में अन्तर्भूत पूर्वप्रतिपादित कर्म्म समाज के सर्वश्रेष्ठ मुखिया (राजा) से एवं समाज संचालकों से संचालित हैं। इन के प्रवर्त्तक समाज के कर्णधार हैं, अत एव पूर्वप्रकरण में हमनें इन्हें 'सामाजिक' कर्म्म कहा है। पन्तु धार्म्मिक कर्म्म नित्यसिद्ध धर्मतत्व के आधार पर महामहर्षियों द्वारा प्रकट हुए हैं, अत एव इन्हें **'धार्म्मिककर्म्म'** कहा जाता है। जिस प्रकार सामाजिक कर्म्मों को हमनें अधिकृतकर्म्म कहा है, एवमेव उक्त धार्म्मिक कर्म्म भी एक प्रकार से अधिकृतकर्म्म ही हैं। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि सामजिक कर्म्मों के प्रवर्त्तक समाजशास्त्री हैं, एवं धार्म्मिककर्म्मों की मूलभित्ति नित्यसिद्ध प्राकृतिक धर्म्मतत्व है। समाजनीति किंवा राजनीति समय समय पर सुविधानुसार परिवर्त्तित होती रहती है, परन्तु धर्म्मतत्व सर्वथा अपरिवर्त्तनीय है। इतना और ध्यान में रखिए कि भारतीय राजाओं से, दूसरे शब्दों में आर्य्यावर्त्त के (आर्य्यधर्म्म में दीक्षित) धार्म्मिक राजाओं से जिस राजनीति का संचालन हुआ है, आर्यसन्तान नें स्वसमाज के संचालन के लिए जिन सामाजिक कर्म्मों का विधान किया है, उन सब में धर्म्मनीति को ही प्रधानता दी गई है। राजनैतिक हो अथवा सामाजिक उभयविध कर्म्मों में धर्म्मनीति को अग्रणी माना है। वही सामाजिक

एवं राजनैतिक कर्म्म प्रशस्त एवं उपादेय माने गए हैं, जिन का धर्म्मनीति से विरोध न होता हो। यदि किसी समय राजनीति एवं धर्म्मनीति में परस्पर संघर्ष उपस्थित होजाता है तो वहां धर्म्मनीति का आदर किया जाता है, एवं राजनीति की उपेक्षा की जाती है। हमारा समस्त इतिवृत्त इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। सामाजिक किंवा राजनैतिक वही कर्म्म समाज एवं राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं, जिन का चरममूल धर्म्म है। केवल अपनी कल्पना से कल्पित निर्मूल सामाजिक कर्म्म कभी उत्थान के कारण नहीं बन सकते। यही कारण है कि भारतवर्ष के समाजशास्त्रियों नें सामाजिक एवं राजनैतिक कर्म्मों की व्यवस्था करते हुए पद पद पर धर्म्मनीति को प्रधानता दी है। इन सामाजिकों की यह धर्म्मभावना इतनी बढ़ी हुई है कि आगे जाकर सामाजिक एवं राजनैतिक दोनों कर्म्म एक प्रकार से धार्म्मिक कर्म्मों के रूपान्तर मान लिए गए हैं। इन्हीं सब कारणों से हमें निःसंकोच होकर कहना पड़ेगा कि वर्त्तमान युग में राष्ट्र के कल्याणेच्छु कुछ एक महानुभावों नें—**"सामाजिक अथवा राजनैतिक कर्म्मों का धर्म्म से क्या सम्बन्ध"** यह कल्पित सिद्धान्तबनाकर भारतीयधर्म्म का जो समाज एवं राजनीतिमार्ग से पृथक्करण किया है, वे बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आर्यसभ्यता का प्रत्येक कर्म्म, यहां तक कि भोजन, वस्त्र, गमन, हसन, रुदन आदि सामान्य कर्म्म भी धर्म्मनीति को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाए हुए हैं। धर्म्मनीति के इसी प्रमुखभाव को लक्ष्य में रख कर —**'तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति'** यह सिद्धान्त प्रचलित हुआ है।

धर्म्म उस सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) ईश्वर की राजनीति है। विश्वरूप राष्ट्र का सञ्चालन करनें के लिए ईशप्रजापति नें अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव, पूषा आदि चारों वर्णों की सृष्टि की। आगे जाकर इन चारों के संचालन के लिए धर्म्मतत्व आविर्भूत हुआ। धर्म्मरूप से प्रत्येक पदार्थ के हृदय में प्रतिष्ठित होकर तत्पदार्थों का संचालन करता हुआ वही धर्म्ममूर्ति ईश ब्राह्मणग्रन्थों में **"अन्तर्य्यामी"** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। (देखिए शतपथ ७।१४ का. ६।७)। यद्यपि अन्तर्य्यामी ईश एकरूप है, तथापि पूर्वोक्त अग्नि–इन्द्र–आदि देवता भेद से, दूसरे शब्दों में उपाधि भेद से वह विविध रूप में परिणत होजाता है। पानी वा अन्तर्य्यामी

जहां पानी को निम्नग (नीचे की ओर बहने वाला) बनाता है, वहां अग्नि का अन्तर्य्यामी अग्नि को ऊर्ध्वग (ऊंचा जाने वाला) बनाता है। वायुस्थ अन्तर्य्यामी वायु को तिर्य्यग्गामी बनाता है। सूर्य्य में प्रकाशरूप से, अग्नि में तापरूप से, पानी में शैत्यरूप से, पृथिवी में धृतिरूप से, चन्द्रमा में तापविरविरहित प्रकाशरूप से अन्तर्य्यामी प्रतिष्ठित होरहा है। इसी अन्तर्य्यामी के शासनदण्ड से शासित होकर सूर्य्य—चन्द्रमा—अग्नि—वायु—पृथिवी—मृत्यु आदि विश्व के यचयावत् पदार्थ स्व-स्व-कर्म्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसी ब्रह्मदण्ड का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ॥
> महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥
> भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ॥
> भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ १ ॥

(कठोपनिषत् ६ वल्ली। २—३ मं०)।

विश्व में रहने वाली प्रजा अपने अपने नियत कर्म्म में आरूढ है। इस नियत भाव का प्रवर्त्तक वही अन्तर्य्यामी है। इसी को (नियतभाव का प्रवर्त्तक होने से) "**नियतिब्रह्म**" किंवा "**नियतिचरब्रह्म**" नाम से व्यवहृत किया गया है। सभी पदार्थ नियतिचर ब्रह्म की नियतचर्य्या से आक्रान्त हैं। यही नियतिचर आज हमें "नेचर" (……… ………) नाम से सुनाई पड़रहा है। इसी नियति (प्रकृति) ने सब को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। जो पदार्थ अपनी नियति को छोड़ देता है, वह नष्ट हो जाता है। ताप अग्नि की नियति है। क्या ताप का परित्याग कर अग्नि जीवित रह सकता है? औष्ण्य और प्रकाशरूप नियतिदण्ड का तिरस्कार कर क्या सूर्य्य सूर्य्य कहला सकता है? धृति का परित्याग कर क्या पृथिवी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सकती है? कभी नहीं। इसी आधार पर "**धर्म्मिणा धृतः सन् धर्म्मिणं स्वस्वरूपे धारयति**" धर्म्मी-(पदार्थ) से धारण किया हुआ धर्म्म धर्म्मी

को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखता है" इस व्युत्पत्ति से उक्त अन्तर्यामी किंवा नियतिब्रह्म को ऋषियों ने "धर्म" शब्द से व्यवहृत किया है। जब तक धर्म है, तभी तक धर्मी है। स्वधर्म का परित्याग करता हुआ धर्मी अपने स्वरूप को खो बैठता है। "**धर्म एव हतो-हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः**" यह सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। "**जो पत राखे धर्म की तेहिं राखे करतार**" आर्यजाति के इस मौलिक सिद्धान्त का कौन प्रतिवाद कर सकता है।

धर्म ईशप्रजापति का कानून है। वर्णसृष्टि के सञ्चालन के लिए प्रजापति ने धर्म-सृष्टि की है। दूसरे शब्दों में वही धर्मरूप में (अन्तर्यामीरूप में) परिणत होकर सब का यथाविधि, यथास्वरूप संचालन कर रहा है। इसी नित्य धर्म का प्रतिपादन करती हुई ब्राह्मण श्रुति कहती है—

> "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-एकमेव। तदेकं सन्नव्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपम-त्यसृजत—क्षत्रम्, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि—इन्द्रो, वरुणः, सोमो, रुद्रः, पर्जन्यो, यमो, मृत्यु, रीशान—इति। तस्माद् क्षत्रात् परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियम-धस्तादुपास्ते राजसूये। स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत, यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते- वसवो, रुद्रा, आदित्या, विश्वेदेवा, मरुत—इति। स नैव व्यभ-वत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। स नैव व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत—"धर्मम्"। तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्माद्धर्मात् परं नास्ति। अथो ऽब-लीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण—यथा राज्ञा, एवम्। यो वै स धर्मः सत्यं वै। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। एतद्ध्येवै-तदुभयं भवति। तदेतद् ब्रह्म—क्षत्रं—विट्—शूद्रः। तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्, ब्राह्मणो मनुष्येषु। क्षत्रियेण क्षत्रियः। वैश्येन वैश्यः। शूद्रेण शूद्रः। तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येषु॥"

(शत० ब्रा० १४ कां। ४ अ०। २ ब्रा०। २३-२७ इति)।

उक्त श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि विश्वव्यापक ईशब्रह्म सर्वप्रथम इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्जन्य-यम-मृत्यु- ईशान इन प्राणदेवताओं की समष्टिरूप क्षत्रवीर्य्य उत्पन्न करता है। जब क्षत्र से भी कार्य निर्वाह होता प्रतीत नहीं होता तो आगे जाकर गणदेवतात्मक विट्वीर्य्य उत्पन्न करता है। सर्वान्त में पार्थिवपूषप्राणात्मक शूद्रवीर्य्य उत्पन्न करता है। वीर्य्यलक्षण इन चारों प्राकृतिक (आधिदैविक) वर्णों के संचालन के लिए वही ब्रह्म अन्तर्य्यामी लक्षण नियतिसत्यात्मक धर्म्मरूप से सब के अन्तःप्रविष्ट होता हुआ सब का संचालन करता है। धर्म्म सब से महत्व की वस्तु है। उक्त चारों प्राकृतिक वर्णों से क्रमशः विश्व के जड़चेतनात्मक समस्त पदार्थों में चातुर्वर्ण्य का विकास होता है। जिस के अन्तरात्मा में (जन्मकाल से ही) जिस वीर्य्य की, दूसरे शब्दों में जिस वर्णदेवता की प्रधानता होती है, वह पदार्थ उसी वर्ण का कहलाता है। इसी सामान्य परिभाषा के अनुसार मनुष्य संप्रदाय में भी चारों वर्णों का विकास होता है। इन का संचालक स्वस्ववर्णस्वरूपरक्षक वही नियतिसत्यात्मक धर्म्मतत्व है। धर्म्म सर्वश्रेष्ठ है, इसी लिए यदि कोई सबल मनुष्य अधर्म्मपथ का आश्रय लेता है तो एक निर्मल मनुष्य भी धर्म्मनीति को उपन्यस्त करता हुआ अपनें से कहीं बलवान उस अधर्म्मी के ऊपर शासन करनें लगजाता है। कानून के सामनें सब दण्डय हैं। ऋषियों नें अपनी दिव्यदृष्टि से वर्णस्वरूप को पहिचाना, वर्णसंचालक धर्म्म के दर्शन किए। तदनुसार वर्णव्यवस्था को व्यवस्थित करते हुए उन्होंने मन्वादि स्मृतियों द्वारा वर्णानुकूल धार्म्मिक कर्म्म व्यवस्थित किए। वही कर्म्मादेश समष्टि आर्यावर्त्त में **'धर्म्मशास्त्र'** नाम से प्रसिद्ध हुई।

प्रकृतिसिद्ध नित्यवर्णव्यवस्था पर प्रतिष्ठित उपर्युक्त 'धर्म्म' के निर्वचन से विज्ञ पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि भारतीय धर्म्म केवल धर्म्मशब्द से व्यवहृत न होकर **'वर्णधर्म्म'** शब्द से व्यवहार में आने योग्य है। सुतरां धर्म्म नीति का 'वर्णधर्म्मनीति' यह अर्थ सिद्ध होजाता है। स्वस्ववर्णधर्म्म का अनुपालन करने वाले प्राकृतिक अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेवादि देवता ही हमारे उपादान बनते हैं। इसी आधार पर **"जायमानो वै जायते सर्वा-**

भ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" यह निगम वचन प्रतिष्ठित है। हम कह आए हैं कि मन्वादि शास्त्र धर्मशास्त्र हैं। इस धर्मशास्त्र का मूल वेदशास्त्र है।

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः' यह किंवदन्ती सुप्रसिद्ध है। धर्मशब्द के वास्तविक स्वरूप परिचय के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न कह कर केवल एक दो आवश्यक विषयों का निरूपण कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है। धर्मशास्त्र की प्रतिष्ठा वेदशास्त्र है, यह अनुपद में ही कहा जा चुका है। इस वाक्य का अर्थ 'धर्मतत्त्व की प्रतिष्ठा वेदतत्त्व है' यह है। धर्म के प्रतिष्ठाभूत वेदतत्त्व का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान 'उपनिषद्भाष्यभूमिका' के 'क्या उपनिषत्वेद हैं ?' इस प्रकरण में विस्तार से किया जाचुका है। वहां बतलाया गया है कि वेदतत्त्व के प्रथम प्रवर्त्तक ऋषि हैं। असत् प्राण का ही नाम ऋषि है। 'विद्वांस इदपश्यन्त इद्गम्भीरवेपसः' (ऋक्सं.१०मं.।६२सू.।५मं.), 'अनन्ता वै वेदाः' (तैब्रा.३।१०।११।३) इत्यादि वचनों के अनुसार यद्यपि असत्प्राणरूप ऋषियों* का आनन्त्य सिद्ध होता है, तथापि भौतिकसृष्टिधारा से सम्बन्ध रखने वाले वेदप्रवर्त्तक १० ऋषि प्राण ही मुख्य माने गए हैं। दसों ऋषिप्राण अपनी भिन्न भिन्न शक्तियों से विश्वपदार्थों को उत्पन्न कर शक्तिभेद के कारण बनते हैं। उदाहरण के लिए आध्यात्मिक प्राणों को लीजिए। आध्यात्मिक अंगिराप्राण एवं भार्गवप्राण से कर्म्मप्रवणता का उदय होता है। तपोलक्षण कर्म्म के प्रवर्त्तक अंगिरा और भृगु ही हैं। इसी आधार पर 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' यह कहा जाता है। वसिष्ठप्राण ओजस्विता का अधिष्ठाता है। अत्रिप्राण अनुसूया भाव का प्रवर्त्तक है। यही शक्ति अत्रिप्राण की पत्नी मानी जाती है। अत्रिप्राण की इसी अभिन्न शक्ति का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं —

> न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ॥
> न हसेच्चान्यदोषांश्च सानुसूया प्रकीर्त्तिता ॥

* इस विषय का विशद विवेचन 'ऋषिरहस्य' नाम के ग्रन्थ में देखना चाहिए।

आसुर पुलस्त्यप्राण से घातकवृत्ति का उदय होता है। क्रतुप्राण से अध्यवसाय (कर्म्मनिर्भरता) उत्पन्न होता है। दक्षप्राण से व्यवसायशक्ति प्रादुर्भूत होती है। कश्यप-प्राण से पुरंध्रिता (प्रजावात्सल्य एवं प्रजनन सामर्थ्य) उत्पन्न होती है। अगस्त्यप्राण से परो-पकारशीलता का जन्म होता है। भृगुप्राण से विद्याप्रवणता आती है। विश्वामित्रप्राण से दाढ्य एवं आयुसूत्र की प्रतिष्टा होती है। मरीचिप्राण अध्यात्म में जहां स्वेदोत्पत्ति का कारण वनता है, वहां प्रकृति (द्युमण्डल) में यही मरीचि नाम के रोदसी त्रिलोकी के पानी का उपादान वनता है। इसी प्रकार उत्तर दिशा में प्रतिष्टित नाक्षत्रिक वसिष्ठप्राण पानी में घनता उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दों में पानी को मिट्टी के रूप में परिणत करता है। इसी वसिष्ठप्राण की कृपा से वायु की सहायता से उत्तरदिशा का जलभाग स्थलभाग में परिणत होरहा है। अत एव उत्तर दिशा में क्रमशः भूभाग की वृद्धि होरही है। ठीक इस के विपरीत दक्षिण दिशा में रहनें वाला नाक्षत्रिक अगस्त्यप्राण पानी की घनता तोड़कर उसे वाष्परूप में परिणत करता रहता है। गुरुत्वविनाश से वाष्परूप में परिणत होता हुआ पानी द्युलोक में उत्क्रान्त होता रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर पुराण में अगस्त्य ऋषि (अगस्त्यप्राण) को स-मुद्रशोषक वतलाया जाता है। मध्याकाशस्थ मत्स्यप्राण पानी को स्वस्वरूप में प्रतिष्टित रखता है। निदर्शनमात्र है। सम्पूर्णविश्व समष्टि एवं व्यष्टिरूप से उक्त प्राणरूप ऋषियों की तत्तच्छ-क्तियों से नित्य आक्रान्त है। वेदावच्छिन्न यही ऋषिप्राण धर्म्म पदार्थ है। धर्म्मप्रवर्त्तक ऋषि-प्राणों की पत्नीरूपा शक्तिएं हीं धर्म्मतत्व का प्रचार करतीं हैं। यद्यपि पूर्वकथनानुसार ऋषि प्राण अनन्त हैं, तथापि प्रधानता १० प्राणों को ही दीजाती हैं। १.—भृगु—२—अंगिरा, १—अत्रि—२—मरीचि, १.—वसिष्ठ—२—अगस्त्य, १.—पुलस्त्य—२—पुलह, १—क्रतु-—२—दक्ष, १.—विश्वामित्र, १.—नारद इन १२ ऋषिप्राणों में पुलस्त्य और पुलह आसुरी-सृष्टि के मूलाधार हैं। अत एव जिस प्रकार दिव्यप्राण के उपासक महर्षियों नें ऋषिगणना में आसुरभावात्मक किलात आकुली आदि प्राणों को छोड़दिया है, तथैव पुलस्त्य पुलह की भी

उपेक्षा की गई है। फलतः प्रधानता १० प्राणों की ही रहजाती है। इसी दशर्षि विज्ञान के आधार पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध है—

"दश ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः"

जिस दिव्यद्रष्टा मनुष्य ऋषि नें सर्वप्रथम जिस प्राण की परीक्षा कर उसे संसार के सामनें रक्खा वह मनुष्य ऋषि, एवं तद्वंशधर उसी ऋषिप्राण के नाम से प्रसिद्ध हुए। वसिष्ठ–अगस्त्य–विश्वामित्र–आदि जितनें नाम सुननें में आते हैं, यह सब इन महर्षियों के यशो-नाम हैं।

इन ऋषिप्राणों के दिग्दर्शन से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि धर्म्मप्रवर्त्तक इस दशर्षिप्राण से सर्वप्रथम वेदसृष्टि ही होती है। ऋषिप्राणघन वेदतत्त्व स्वयम्भू संस्था का संपादक बनता हुआ नियतिःसत्यरूप से सर्वप्रथम आपोमय परमेष्ठी मण्डल में ही प्रतिष्ठित होता है। ऋषिमूर्त्ति नियतिःसत्यात्मक इसी वेद सत्य का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

> तद्यत् तत् सत्यं—आप एव तत्। अप एव तस्य सर्वस्याग्रमकुर्वत्।
> तस्माद् यदैवापो यन्ति, अथेदं सर्वं जायते यदिदं किञ्च" ॥
> (शत० ब्रा० ७।४।१।६)।

अन्तर्गर्भित ऋषिसमष्टिरूप यही वेदतत्त्व नियतिरूप में परिणत होता हुआ धर्म्म नाम से व्यवहृत होने लगता है। दूसरे शब्दों में—**"सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्"** (शत०६कां०।१प्र०।१ब्रा०।१०कं०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार धर्म्ममूर्त्ति यही वेदतत्त्व अब्-गर्भ में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण विश्व का उपादान बनता है। सत्यमूर्त्ति किंवा धर्म्ममूर्त्ति अप् की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैः—

> अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते, लोकास्त्वप्सु प्रतिष्ठिताः।
> आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥ (म. भा.)

निष्कर्ष यह हुआ कि ऋषिरूप वेद से विकसित होनें वाला नियतिःसत्यरूप धर्म्म सर्वप्रथम स्वयम्भू से आपोमय परमेष्ठी में प्रतिष्ठित होता है। इसी आधारपर-"अप एव ससर्जादौ" (मनुः) यह कहा गया है। परमेष्ठी द्वारा यह सत्यलक्षण धर्मतत्व सूर्य्य में प्रतिष्ठित होता है। इसी सत्यावतार को लक्ष्य में रखकर सूर्य्य के लिए-" तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः " (शत० ६।७।१।२) यह कहा जाता है। सूर्य्य द्वारा यही सत्य चन्द्रमा में अवतीर्ण होता है। इसी आधार पर-" एतद्व देवसत्यं यच्चन्द्रमाः " (कौ० ब्रा० ३।१) यह प्रसिद्ध है। पार्थिव प्रजा का प्रभव सूर्य्य है। परन्तु विना चान्द्रप्राण का सहारा लिए सौर पदार्थ कथमपि पार्थिव प्रजा के उपादान नहीं बनसकते। हमारे अध्यात्म में स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-सभी पदार्थो का आगमन होता है, परन्तु इन सब का द्वार चन्द्रमा ही है। इसी लिए महर्षि कौषीतकि नें पार्थिवप्रजा की उत्पत्ति में चन्द्रमा को ही प्रधान माना है। (देखिए कौ० उप० १।२)। इस से यह भी स्वतः सिद्ध होजाता है कि क्रमशः परमेष्ठी सूर्य्य में अवतीर्ण होता हुआ धर्म्मतत्व भी चन्द्रमा के द्वारा ही अध्यात्म जगत् की प्रतिष्ठा बनता है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर जिस नियत कक्षावृत्त पर परिक्रमा लगाया करता है वह कक्षा वृत्त " दक्षवृत्त " नाम से प्रसिद्ध है।

प्रजोत्पादनोपयोगी स्वायम्भुव पारमेष्ठ्य सौर सव पदार्थों का संचय पहिले इसी दक्षवृत्तावच्छिन्न चान्द्रमण्डल में होता है। दक्षवृत्तावच्छिन्न यही चान्द्रमण्डल सव पदार्थों को लेकर ओषधिरूप में परिणत होता हुआ पार्थिवप्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। इसी आधार पर दक्ष को 'दक्षप्रजापति' कहा जाता है। इस वृत्त में प्रधानता चान्द्रसोम की ही रहती है। जिस प्रकार अग्नितत्व पुरुषसंस्था का अधिष्ठाता बनता है, तथैव सोम स्त्रीभाव का प्रवर्त्तक बनता है। प्रश्नोपनिषत् परिभाषा के अनुसार पुरुषस्वरूप समर्पक आग्नेय प्राण वृषा है, स्त्रीस्वरूप समर्पक सौम्य प्राण योषा है। दक्षवृत्त नें स्त्रीप्राणप्रधान इसी उक्त चान्द्र सोम की प्रधानता है। इस का संरक्षक दक्षवृत्त किंवा दक्षप्रजापति ही है। अत एव पुराण नें इस सोमभाव को दक्षप्रजापति

की कन्या बतलाया है। एक ही कन्या नहीं है अपितु ६० कन्याएं हैं। १३ कन्याओं का विवाह कश्यप से होता है। २७ चन्द्रमा को दी जाती हैं। १० का विवाह धर्म्म के साथ होता है। ४ कन्याएं अरिष्टनेमि के साथ व्याही जाती हैं। ४ का सम्बन्ध महादेव के साथ होता है। दो कन्याओं का विवाह कृशाश्व के साथ होता है। इस प्रकार ६० कन्याएं भिन्न भिन्न देवताओं में विभक्त होजाती हैं।

मलिम्लुच (लौंद का महिना) मास के सम्बन्ध से सौर संवत्सर के १३ मास भी माने गए हैं। इसी आधार पर **"त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य"**(शत.३।६।४।२४)यह प्रसिद्ध है। सौर सम्वत्सर ही अदिति से सम्बन्ध रखता हुआ कूर्म्मरूप में परिणत होकर कश्यपप्रजापति कहलाता है। इस कश्यपात्मक सूर्य्य के सम्बन्ध से पूर्वप्रदर्शित दक्षवृत्त के १३ विभाग होजाते हैं। वे १३ विभाग कश्यप के सम्बन्ध से सर्पप्राण-देवप्राण-दैत्यप्राण आदि भिन्न भिन्न प्राणों के जनक बनते हैं। यही १३ विभाग पुराण में कद्रू-विनता-दिति-अदिति-काला- दनु- संज्ञा- आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। दक्ष के इन १३ हों विभागों के साथ मिथुनभाव को प्राप्त होते हुए कश्यपप्रजापति (सूर्यप्रजापति) प्रजोत्पादक बनने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार सप्तविंशति (२७) नक्षत्रावच्छिन्न चन्द्रमा के सम्बन्ध से उक्त दक्षवृत्त के २७ विभाग हो जाते हैं। यही २७ चन्द्रपत्निएं कहलाती हैं। वेदमूर्त्ति दशधा विभक्त ऋषिप्राण के विकास स्वरूप धर्म्मतत्व के सम्बन्ध से उसी दक्षकला को दशभागों में विभक्त होना पड़ता है। इसी आधार पर **'ददौ च दश धर्म्माय'** यह कहा जाता है। तात्पर्य कहने का यही है कि चान्द्रकला द्वारा ही उस नित्य धर्म्मतत्व का भूपिण्ड स्थित प्रजावर्ग में आगमन होता है। इस धर्म्मतत्व की प्रतिष्ठा वेदतत्व है। वेद से धर्म्म का विकास हुआ है। धर्म्म से संसार उत्पन्न हुआ है। **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व को उत्पन्न कर वेदावच्छिन्न धर्म्मतत्व नियति रूप से सब पदार्थों के हृदय में प्रतिष्ठित होकर उनका संचालन कर रहा है। धर्म्म शब्द की यही संक्षिप्त व्याख्या है।

स्मरण रहे—वेद विद्यापुस्तक है, न कि धर्म्मपुस्तक। "वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ" "वेदोऽखिलो धर्म्ममूलम्" इत्यादि मानवसिद्धान्तों के अनुसार वेदशास्त्र धर्म्मशास्त्रों का मूल है—न कि धर्म्म की इतिकर्त्तव्यतायें बतलानें वाली धर्म्मपुस्तक।

* १—"धर्म्मप्रवर्तनावाक्यसंग्रहो "धर्म्मपुस्तकम्"

२—"धर्म्मस्य धर्म्मत्वं येन शक्यमुपपादयितुं, तादृशवाक्यसंग्रहो "विद्यापुस्तकम्"

१—"श्रेयोऽर्थिधर्म्मविचारग्रन्था "विद्यापुस्तकम्"

२—"तद्विचारसिद्धधर्म्मप्रचारग्रन्था "धर्म्मपुस्तकम्"

इत्यादि लक्षणों से विद्यापुस्तक एवं धर्म्मपुस्तक का पार्थक्य भलीभांति स्पष्ट होजाता है। श्रुति वेदशास्त्र है, विज्ञानशास्त्र है। स्मृति धर्म्मशास्त्र है, अनुशासनशास्त्र है। स्मृतिरूप धर्म्मशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा श्रुतिरूप वेदशास्त्र है। इसी भेद का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१॥ (मनुः १२।१०२)

---

* १—'अहरहः संन्ध्यामुपासीत' 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि आज्ञारूप वाक्यों का संग्रहात्मकशास्त्र धर्म्मपुस्तक है।

२—प्रतिदिन क्यों संन्ध्या करनी चाहिए? हिंसाभाव का निषेध क्यों किया गया? इस प्रकार 'क्यों?' की जिज्ञासा पूरी करनें वाले, दूसरे शब्दों में धर्म्माज्ञाओं की उपपत्ति बतलानें वाले वाक्यसंग्रहात्मक ग्रन्थ का नाम 'विद्यापुस्तक' है।

१—कल्याणसाधक धर्म्मतत्त्व का मौलिक विचार करनें वाला ग्रन्थ 'विद्यापुस्तक है।

२—मौलिकविचार से सिद्ध धर्म्माज्ञाओं का प्रचारकग्रन्थ 'धर्म्मपुस्तक' है। दूसरे शब्दों में ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा मत करो, इस प्रकार के विधि-निषेधात्मक वाक्यों का संग्रह धर्म्मपुस्तक है, एवं इन वाक्यों का वैज्ञानिक रहस्य बतलानें वाला ग्रन्थ विद्यापुस्तक है।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥२॥
(मनु. २ अ । १० श्लो० ।)।

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः॥
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥३॥
(मनु. २ । ७ ।)

वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ४ ॥
(मनु. २ । ६ ।)

यदि आप धर्म्मपुस्तक (स्मृतिशास्त्र) के समीप "हम ऐसा क्यों करें" ? इस प्रकार की जिज्ञासा लेकर जांयगे तो वहां आपको "**नास्तिको वेदनिन्दकः**" '**वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्**' यह उत्तर मिलेगा। स्मृति कह देगी कि हमसे मौलिक उपपत्ति (विज्ञानरहस्य) पूंछना अनधिकार चेष्टा है। इसके लिए तो तुम्हें वेदशास्त्र की ही शरण में जाना चाहिए। इस प्रकार—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
* 'धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु. २ । १३ ।)

इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में धर्मशास्त्र नें वेदशास्त्ररूप विद्यापुस्तक का भेद प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त श्रुति-(विद्यापुस्तक)-प्रतिपादित वर्णानुगामी नियत कर्म्म अभ्युदय के जनक हैं। अशास्त्रीयकर्म्म प्रत्यवाय के जनक हैं। शास्त्रीयकर्म्मों का यथाविधि अनुपालन करता हुआ मनुष्य उसी प्रकार से इन से लिप्त नहीं होता, जैसे कि राजा से अधिकृत, राजधर्म्म से

* धर्म्म के मौलिक रहस्य की जिज्ञासा रखनें वालों को श्रुति का ही आश्रय लेना चाहिए।

दीक्षित वधिक हिंसाकर्म्म का अध्यक्ष बनता हुआ भी दण्ड का भागी नहीं बनता। कर्म्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता। बन्धन का कारण है-उत्पाप्याकांक्षा मूलक आसक्तिभाव। इच्छा ही बन्धन का, दूसरे शब्दों में कर्मलेप का कारण है। कामना ही भावना—वासना संस्कार की जननी है। शास्त्रविहित कर्म्म उस जगन्नियन्ता की इच्छा से सम्बन्ध रखते हैं। हमारी इच्छा से शास्त्रीय कर्म्मों का कोई सम्बन्ध नहीं। अत एव शास्त्रीय कर्म्म हमारे इच्छासूत्र से बहिर्भूत होते हुए कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। ऐसी अवस्था में—

"स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्" (गीता १८। ४७।)

इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य इन धार्म्मिक कर्म्मों का अनुष्ठान करता हुआ कभी बन्धन में नहीं पड़ता। अभ्युदय का एक मात्र उपाय है शास्त्रविहित स्वस्वकर्म्मों का अनुष्ठान, एवं शास्त्रनिषिद्ध प्रत्यवाय जनक विकर्म्मों का एकान्ततः परित्याग। जो मूढ़धी अपनें बुद्धिवाद के गर्व से शास्त्रीय कर्म्मों का निरादर कर उत्पथ मार्ग का अनुसरण करते हैं, उनको न इस लोक में सुख मिल सकता, न परलोकगति में वे अभ्युदय प्राप्त कर सकते। ऐहलौकिक एवं पारलौकिक उभयविध सुख का एक मात्र निश्चितमार्ग शास्त्रसिद्ध कर्म्मानुष्ठान ही है। "हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए" इस पहेली को सुलझानें के लिए शास्त्र की ही शरण में जाना चाहिए। इसी कल्याणप्रद मार्गानुसरण का आदेश करते हुए कर्मयोगी भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥" (गी० १६।२३-२४)

धर्म्मनीति पक्ष से सम्बन्ध रखनें वाला "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि" यह उपनिषत् मन्त्र इसी उक्तार्थ का स्पष्टीकरण करता है। मन्त्र में "शतं समाः" कहा गया है। क्या

मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप से आयुस्वरूप बतला देना भी अप्रासंगिक न होगा।

"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुः सं० १२।४६) के अनुसार पार्थिवप्राणियों की आत्मसंस्था के अधिष्ठाता भगवान् अंशुमाली हैं। "बृहद्धतस्थौ भुवनेष्वन्तः" (ऋक् सं. ६।७।६१) "सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति" "नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता" (छां. उ. ३।११।१) "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्" (श. ८।१०।४०) इत्यादि श्रौतसिद्धान्तों के अनुसार सूर्य्यप्रजापति पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में बृहतीछन्द नाम से प्रसिद्ध त्रिपुव किंवा विष्वद्वृत्त पर (इक्वेटर लाइन) स्थिर रूप से तप रहे हैं। विज्ञानशास्त्र के अनुसार सूर्य्य में ज्योति, गौ, आयु, इन तीन मनोता देवताओं की सत्ता मानी जाती है। यह तीनों मनोता क्रमशः देवसृष्टि, भूतसृष्टि, आत्मसृष्टि के संचालक बनते हैं। ज्योतिर्भाग से ३३ प्रकार के देवों का विकास होता है। यही देवयज्ञराशि "ज्योतिष्टोम" नाम से प्रसिद्ध है। पञ्चविधभूतों का जनक गौतत्व है। यही "गोष्टोम" यज्ञ का अधिष्ठाता है। ३६००० भेद भिन्न बृहतीप्राणावच्छिन्न आयुभाग आत्मसृष्टि का कारण बनता हुआ "आयुष्टोम" यज्ञ का स्वरूप समर्पक बनता है। सूर्य्य में १२ प्राणों की सत्ता मानी जाती है। वही १२ प्राण "द्वादश आदित्य" नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि पृथक्-पृथक् नाम-रूप-कर्म्मयुक्त द्वादशप्राणसमष्टि को ही सूर्य्य कहते हैं। इन १२ प्राणों में सब में श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ अधिष्ठाता प्राण "इन्द्र" कहलाता है। "मघवा" नाम से प्रसिद्ध यही सर्वश्रेष्ठ सौर इन्द्रप्राण आयुरूप में परिणत होकर आत्मा की प्रतिष्ठाभूमि बनता है। इसी आधार पर इन्द्र-प्रतर्दन संवाद में इन्द्र के लिए— "तं मामायुरमृतमित्युपास्व" (कौ० उ० ३।२) यह कहा गया है। आयुस्वरूपसमर्पक यह इन्द्रप्राण उसी बृहतीछन्द (विष्वद्वृत्त) पर प्रतिष्ठित है, अत एव महर्षि महीदास ने इस इन्द्रप्राण को "बृहतीप्राण" नाम से व्यवहृत किया है। (देखिए ऐत० २ आ० । ३ अ०)। इस

प्राण की वर्त्तनी (पात्र) मन और वाक् है। प्राण के इस ओर मन है, उस ओर वाक् है, मध्य में प्राण प्रतिष्ठित है। सौर इन्द्रप्राण मनोमय है—वाङ्मय है। बिना मन—वाक् के वह एक क्षण भी नहीं रह सकता। मन के सम्बन्ध से सौर प्राण ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ पार्थिव प्रजा में ज्ञान का प्रसार करता है। इस अभिप्राय से इन्द्रप्राणघन सूर्य्य के लिए **" धियो यो नः प्रचोदयात् "** (यजुः २२।९) **" आदित्य उद्गीथः "** (छां.उ.२प्र.।२०खं.) **"यत्मनः स इन्द्रः"** (गो.उ.४।१२) इत्यादि कहा जाता है। प्राणमय होने से सौर इन्द्र क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ पार्थिव प्रजा में क्रियाशक्ति का प्रसार करता है। इसी आधारपर — **" प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः "** (प्रश्नोपनिषत् १।८) यह कहा जाता है, एवं वाङ्मय होने से सौर इन्द्र अर्थशक्ति का अधिष्ठाता बनता हुआ अर्थशक्ति का संचालक बनता है। इसी वाक्कला को लक्ष्य में रखकर **" वाग्वा इन्द्रः "** (कौ० २।७), **"वाक् पतङ्गाय धीयते"** (यजुः ३।८) इत्यादि कहा जाता है। इस प्रकार आयुरूप आत्मस्वरूपसमर्पक सौर इन्द्र का मन—प्राण—वाङ्मयत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। मन—प्राण—वाङ्मय आयु से आत्म-सृष्टि होती है। अत एव आत्मा का— **" स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः "** (बृहदारण्यक उपनिषत्) यह लक्षण किया जाता है।

पूर्व में बतलाया गया है कि बृहतीछन्द के सम्बन्ध से मनोवाङ्मय आयुप्रदाता सौर इन्द्रप्राण बृहती नाम से प्रसिद्ध होता है। छन्दोविज्ञान के अनुसार बृहतीछन्द नवाक्षर माना जाता है। प्रत्येक चरण ९ अक्षर का है। संभूय पूरे बृहती छन्द के ३६ अक्षर हो-जाते हैं। प्रत्येक वृत्त में ३६० अंश होते हैं, यह ज्यौतिषशास्त्र का एक माना हुआ सिद्धान्त है। सुतरां ज्यौतिष्चक्र नाम से प्रसिद्ध खगोल के मध्य में पूर्वापर (पूर्व पश्चिम) रूप से प्रति-ष्ठित होने वाले इस बृहतीवृत्त में भी ३६० अंशों की सत्ता सिद्ध होजाती है। साथ ही में यह भी माना हुआ सिद्धान्त है कि प्रत्येक वृत्त चतुर्भुज होता है। $\frac{१}{९०}—\frac{२}{९०}—\frac{३}{९०}—\frac{४}{९०}$।

इस क्रम से वृत्त में चार भुजाएं होती हैं। इन्हीं चारों के समन्वय से निम्नलिखित रूप से स्वस्ति चिह्न स्वस्तिक (लोकभाषा में साथिया नाम से प्रसिद्ध) का स्वरूप बनता है।
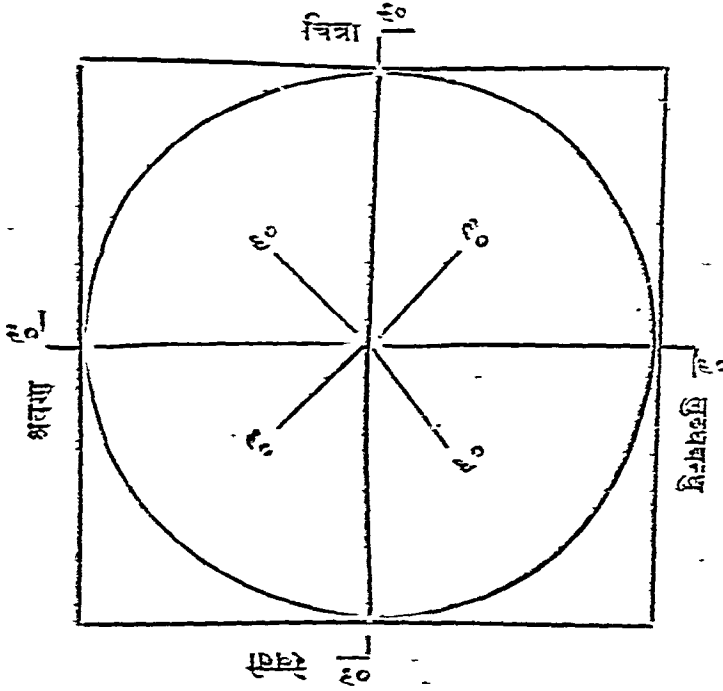
इसी स्वस्वस्तिक का निरूपण करते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

" स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(यजुः सं० २५ । १९) ।

इन्द्रोपलक्षित चित्रानक्षत्र से पूषोपलक्षित रेवतीनक्षत्र ठीक षड्भान्तर (१८० अंश) पर स्थित है। तार्क्ष्योपलक्षित श्रवणनक्षत्र से बृहस्पति से उपलक्षित लुब्धकबन्धु नाम का नक्षत्र १८० अंश पर है यही खगोल के चार स्वस्तिक हैं, जैसा कि पूर्वप्रदर्शित परिलेख से स्पष्ट होजाता है। उपर्युक्त चतुर्भुज बृहतीछन्द की प्रत्येक भुजा में ६०-६० अंश हैं। साथ ही में प्रत्येक भुजा में बृहतीछन्द के नवाक्षरात्मक एक एक चरण का भोग हो रहा है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक ६० में ६-६-अक्षर विभक्त होरहे हैं। यदि ६० को ६ अक्षर के बृहती चरण में विभक्त किया जाता है तो प्रत्येक अक्षर के साथ १०-१० अंशों का भोग मानना पड़ता है। दशाक्षर छन्द को विराट् कहते हैं। ऐसी अवस्था में १० अंश का भोक्ता बृहतीछन्द का प्रत्येक अक्षर विराट्संपत्ति से युक्त होजाता है। इस प्रकार ३६० अंशों का भोक्ता ३६ अक्षरात्मक बृहती ३६ विराट् बनजाता है। इस प्रत्येक विराट् के साथ सौर साहस्री का सम्बन्ध होता है। सहस्रांशु सूर्य्य का सहस्रभाव प्रतिफलन प्रक्रिया से ३६ स्थानों में विभक्त होजाता है। इसी साहस्री की कृपा से मनप्राणवाङ्मूर्त्ति चिद्रारूप आयुतत्त्व ३६००० भागों में विभक्त होजाता है। यही हमारी आयु के ३६००० सूत्र हैं। प्रति दिन मनप्राणवाङ्मय एक एक सूत्र हमारा अन्न बनता है। ३६००० दिन में यह क्रम समाप्त होजाता है। ३६००० दिनों के संकलन से सौ वर्ष होजाते हैं। इसी आयुविज्ञान को लक्ष्य में रखकर **'शतं समाः'** यह कहा गया है। महर्षि विश्वामित्र आयुस्वरूप समर्पक इस बृहतीसहस्रात्मक इन्द्रप्राण के प्रथम द्रष्टा माने गए हैं। (देखिए- ऐत० आर० २। ३)।

औपनिषत् पुरुष हमें आज्ञा देता है कि तुह्मारे आत्मा में प्रजापति नें बृहतीसहस्र प्राण प्रदान किया है, कर्म्म करनें के लिए सौ वर्ष प्रदान किए हैं। यदि तुम अपनें इस आयुप्राण को इस लोक में एवं परलोक में अभ्युदय का भोक्ता बनाना चाहते हो तो शास्त्रविहित कर्म्म करते हुए ही आयु के सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करो। शास्त्रविहित कर्म्ममार्ग के अनुसरण से कभी लेप मूलक अन्यथाभाव (पतन) की आशंका नहीं है। प्रकृत धर्म्मनीति पक्ष में

'कर्म्माणि' का "धर्म्मशास्त्रोक्तानि, अत एव धर्म्मपदवाच्यानि धर्म्याणि विद्यासापेक्ष-प्रवृत्तिसतत्कर्म्माणि" यह अर्थ समझना चाहिए। अन्यथा का अर्थ है आत्मपतन। लेप का अर्थ है अविद्यावरण। यदि इस कर्म्म की उपेक्षा की जाती है, दूसरे शब्दों में शास्त्रीय कर्म्मों की अवहेलना कर उत्पथ कर्म्म का अनुगमन किया जाता है तो ऐसे पुरुष का अन्तः-करण मलिन होजाता है, सूक्ष्मशरीर दूषित होजाता है, विचार दूषित होजाते हैं। सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध रखनें वाली धर्म्मनीति से सम्बन्ध रखनें वाले प्रकृत मन्त्र का यही दूसरा संक्षिप्त अर्थ है। अब तीसरे प्रधान अर्थ की ओर उपनिषत् प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

विज्ञाननीतिपत्त

३

आत्मश्राममय-मनप्रधान-कारणशरीरसम्बन्धी आत्मीय-कर्म्म

" **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** " (गीता १५।१७) के अनुसार जीवाव्यय (जीवात्मा) ईश्वराव्यय (परमात्मा) का अंश माना गया है। इस अंशांशीभाव से यह मान लेता पड़ता है कि जो धर्म्म किंवा जो स्वरूप ईश्वराव्यय का है, वही धर्म्म, वही स्वरूप जीवाव्यय का है। महामायावच्छिन्न ईश्वराव्यय, एवं योगमायावच्छिन्न जीवाव्यय के मायोपाधिक कुछ एक विशेष धर्म्मों को छोड़कर शेप धर्म्मों में जीव-ईश्वर का स्वरूप समान है। " **अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन** " (गीता ९।१९) के अनुसार अहंपद वाच्य गीतोक्त ईश्वराव्यय ज्ञान कर्म्ममय है। निष्क्रिय ज्ञानतत्व सल्लक्षण अमृत है, क्रियारूप कर्म्मतत्व असल्लक्षण मृत्यु है। दोनों की समष्टि "अहम्" (ईश्वराव्यय) है। आनन्द-विज्ञान-मनोमय ज्ञानमूर्ति अमृताव्यय मुक्ति का अधिष्ठाता है, मन-प्राण वाङ्मय कर्म्ममूर्त्ति मृत्यु-रूप अव्यय सृष्टि का संचालक है। अव्ययात्मा का आधा भाग ज्ञानरूप है, आधा भाग कर्म्ममय है। ज्ञानतत्व जैसे ईश्वराव्यय का स्वरूपधर्म्म है, एवमेव कर्म्म भी आत्मा का स्वरूप-धर्म्म ही है। यदि आत्मा में कर्म्मतत्व न होता तो कर्म्मसाध्य विश्व का निर्म्माण असंभव था। आत्मा के उक्त कर्म्मभाग को लक्ष्य में रखकर ही " **सोऽकामयत-स तपोऽतप्यत-सोऽश्राम्यत्** " यह कहा जाता है। कामना मन का व्यापार है, तप प्राण का व्यापार है, श्रम वाक् का व्यापार है। सृष्टिकाल में आत्मा का कर्म्मभाग विकसित रहता है, मुक्तिकाल में ज्ञान का विकास रहता है। आत्मा कभी कर्म्मशून्य होजाय यह सर्वथा असंभव है। आत्मा को

केवल ज्ञानमूर्त्ति मानना सर्वथा भ्रान्ति है। इस का प्रत्यक्ष निदर्शन जीवात्मा है। जीवात्मा उसी ज्ञान–कर्म्ममय ईश्वरात्मा का अंश है। अत एव हमारे में (जीवात्मा में) ज्ञान-कर्म्म दोनों का विकास देखा जाता है। हम देखते हैं कि प्रत्येक जीवात्मा निरन्तर कुछ न कुछ जाननें की एवं कर्म्म करनें की चेष्टा किया करता है। एक क्षण भी वह ज्ञान–कर्म्म से उपरत नहीं देखा जाता। जिस अवस्था को आप बिलकुल चुप बैठा रहना कहते हैं, वह चुप बैठना भी एक कर्म्म है। इसी स्वभावसिद्ध नियत कर्म्म का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

> न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
> कार्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गीता ३।५)

इन कुछ एक आध्यात्मिक निदर्शनों के आधार पर हमें यह मानलेनें में कोई आपत्ति नहीं होती कि सचमुच ईश्वराव्यय ज्ञानकर्म्ममय है। परमात्मतत्व का अर्धभाग ज्ञानप्रधान है, अर्धभाग कर्म्मप्रधान। ज्ञानकर्म्ममय आत्मा का ज्ञानभाग सर्वथा निष्क्रिय है, अत एव शान्त है। कर्म्मभाग सक्रिय है, क्रियारूप है, अत एव अशान्त है। चल-अचल की समन्वित अवस्था आत्मा है, जैसा कि आगे के **'अनेजदेकं मनसो जवीयः'** इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। यद्यपि ज्ञान और कर्म्म के स्वरूप में बड़ा अन्तर है। जितना अन्तर तम एवं प्रकाश में है, जितना अन्तर सत्य एवं अनृत में है, ठीक वही अन्तर ज्ञान कर्म्म में है। परन्तु परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी तम और प्रकाश का जैसे एक ही बिन्दु पर समावेश रहता है, परस्पर में सर्वथा विरुद्ध पांचों भूत जिस प्रकार एक ही शरीरसंस्था में समन्वित होते हुए शरीरयष्टि के संचालक बन रहे हैं, एवमेव सर्वथा विभिन्नधर्म्मा ज्ञान एवं कर्म्म दोनों एक आत्मतत्व के स्वरूप समर्पक बन रहे हैं। ज्ञान अमृत है, क्षणिक कर्म्म मृत्यु है। अमृत प्रधान ज्ञान मृत्युरूप कर्म्म के अन्तस्तल में प्रविष्ट है, एवं मृत्यु प्रधान कर्म्म अमृतरूप ज्ञान के अन्तस्तल में प्रविष्ट है। दोनों में कौन किस का आधार है, एवं कौन किसका आधेय है? यह असमाधेय प्रश्न है। ध्यान दीजिए! हमारी अंगुली हिल रही है। यह हिलना एक प्रकार का

कर्म्म है । अंगुली स्वयं निष्क्रिय है । निष्क्रिय अंगुली में हिलना रूप कर्म्म होरहा है । अंगुली का कोई सा भी प्रदेश ऐसा नहीं है जिस में क्रिया न हो, साथ ही में क्रिया का कोई सा भी क्षण अथवा अंश ऐसा नहीं है जो अंगुली को साथ में न रखता हो । अब वतलाइए अंगुली में क्रिया है, अथवा क्रिया में अंगुली है ? बहुत प्रयास करनें पर भी आप उक्त प्रश्न का **'दोनों में दोनों है'** इस के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं देसकते । दोनों के इस विलक्षण सम्बन्ध को "**अन्तरान्तर्भाव**" नाम से व्यवहृत किया गया है । "**अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्**" (श.१०।५।१।४) इत्यादि श्रुतिएं ज्ञानकर्म के आधाराधेयसम्बन्ध का निरोध करती हुई दोनों में ओतप्रोतभाव सम्बन्ध ही स्थापित करतीं हैं ।

उक्त ज्ञानकर्म्म विवेचन से पाठकों को यह निश्चय होगया होगा कि जिस प्रकार ज्ञानतत्व आत्मा का स्वरूपधर्म्म है, एवमेव कर्म्मतत्व भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म ही है । अमृत–मृत्यु की समन्वित अवस्था का ही नाम "**अहम्**" (**आत्मा**) है, जैसा कि–"**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**" (गीता० ९।१९) इत्यादि स्मृति से स्पष्ट है । ऐसी परिस्थिति में हम यदि चाहें तो सामाजिक किंवा राजनैतिक कर्म्मों को, एवं धर्म्मशास्त्रविहित कामनाप्रधान यज्ञतपदानादि कर्मों को छोड़ सकते है, एवं इन्हें छोड़ देनें पर भी आत्मस्वरूप पर कोई आघात नहीं होसकता, परन्तु आत्मीयकर्म का परित्याग किसी भी अवस्था में नहीं किया जासकता । जिस दिन आत्मीयकर्म्म निःशेष होजायगा, उस दिन आत्मस्वरूप ही निःशेष होजायगा । आत्मीयकर्म्म की इसी नित्यता को लक्ष्य में रखकर स्मृति को—"**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः**" यह कहना पड़ा है । जिस प्रकार ज्ञान (जानना) आत्मा का स्वाभाविक धर्म्म है, एवमेव कर्म्म (काम करना) भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म है । अत एव विशुद्ध ज्ञानयोग भी असंभव है, विशुद्ध कर्म्मयोग भी असंभव है । ज्ञान–कर्म्ममय बुद्धियोग ही वास्तविक सिद्धान्त है, जैसा कि '**विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह**" इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट होनें वाला है ।

जब कि कर्म्म आत्मा का स्वरूपधर्म्म है तो ऐसी अवस्था में जो विद्वान् सन्यास को सर्वकर्म्मपरित्याग लक्षण मानते हैं, हमारी दृष्टि में यह उनका प्रौढिवादमात्र है। किसी भी अवस्था में कर्म्म का परित्याग नहीं बनसकता। इसी नित्यसिद्ध कर्म्मविधान को लक्ष्य में रख-कर, दूसरे शब्दों में आवश्यकीय आत्मीयकर्म्मों की नित्यता को लक्ष्य में रखकर श्रुति नें "**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**" यह कहा है। इस श्रुति द्वारा सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण कल्पित सन्या-सयोग को एकान्ततः उच्छिन्न होता देखकर शुद्धज्ञानयोग के भक्तों नें उक्त मन्त्र को गौण माना है। "**ईशावास्यमिदं सर्वम्**" इस मन्त्र को ज्ञाननिष्ठा परक माननें वाले प्राचीनों नें "**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**" इस मन्त्र की संगति लगाते हुए कहा है—"**अथेतरस्य-अनात्मज्ञानतयाऽऽत्म-ग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः कुर्वन्नेवेति**" (ईश० शां० भा०)। इस उक्ति का तात्पर्य्य यही है कि जो सन्यास के अधिकारी नहीं है, उनके लिए उक्त मन्त्र कर्म्म मार्ग का विधान करता है। इस प्रकार प्राचीनों की दृष्टि में ज्ञानयोग का निरूपण करनें वाली "**ईशा-वास्यमिदं सर्वम्**" इत्यादि श्रुति प्रधान है, एवं कर्म्मयोग का प्रतिपादन करनें वाली "**कुर्व-न्नेवेह कर्म्माणि**" यह श्रुति गौण है। हम नहीं कह सकते कि इस गौण—मुख्यभाव का आधार प्राचीनों के पास क्या है। कर्म्ममार्ग का पक्षपाती यदि कर्म्मप्रतिपादिका श्रुति को प्रधान एवं ज्ञानप्रतिपादिका श्रुति को गौण माननें लगे तो आप अपनें सिद्धान्त को कैसे स्थिर रख सकेंगें, यह हमारी समझ में नहीं आया। अपनें कल्पित सिद्धान्तों की रक्षा के लिए श्रुतियों में परस्पर गौणमुख्यभाव मान लेना हमारी दृष्टि से सर्वथा असंगत है। ज्ञान भी प्रधान है, कर्म भी प्रधान है। दोनों का समन्वितरूप प्रधान है। ज्ञानकर्म्म की समष्टि से ही उभयात्मक आत्मा का उपकार संभव है। जब ज्ञान—कर्म्म दोनों कलाएं नित्य हैं तो ऐसी अवस्था में इस नित्यकर्म्म को हम अवश्य ही आत्मीयकर्म्म कहनें के लिए तय्यार हैं।

ज्ञानकर्म्ममय उपरोक्त अव्ययात्मा के कर्म्म भाग में रस बल के तारतम्य से उद्भूत होनें वाली मन—प्राण—वाक् इन तीन कलाओं का पूर्व प्रकरणों में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। मन ज्ञानशक्तिरूप है, प्राण क्रियाशक्तिरूप है, वाक् अर्थशक्तिरूपा है। वाक्तत्व

धामच्छद (जगह रोकनें वाला) होनें से स्थूल माना जाता है। यही वाक्तत्व अर्थ (विषय) रूप में परिणत होता है। वाक् में ओतप्रोतभाव सम्बन्ध से क्रियारूप प्राण अनुस्यूत है, प्राण में ज्ञानमय मन समाविष्ट है। प्राणात्मिका क्रिया, वागात्मक अर्थ दोनों ही जड़ हैं, चेतना शून्य हैं। ज्ञान से इच्छा का उदय होता है, इच्छा से क्रिया का संचार होता है। क्रिया स्वयं जड़ है। अर्थ की जड़ता तो सर्वलोकप्रसिद्ध है ही। आत्मा की उक्त तीनों कलाओं में से सृष्टि-कर्तृत्व क्रियामय प्राणपर ही निर्भर है। सृष्टिनिर्म्माण करना एक प्रकार का व्यापार है। व्यापार एकमात्र मध्यपतित क्रियामय प्राण का ही धर्म्म है। सृष्टि स्थूला है, स्थान रोकनें वाली है, आवरणमूला है। इस आवरण का जन्म वाक् से होता है। आवरणमूला वाक् का प्रेरक प्राण है। प्राणतत्व मन की कामना पर प्रतिष्ठित है। वाक् सृष्टि है, क्रियामय प्राण सृष्टि-कर्त्ता है। "**सुख-दुःखसाक्षात्कारो भोगः**" के अनुसार सर्वथा जड़ प्राण—वाक् में भोग का अभाव है। भोग ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। तीनों में ज्ञानमय एकमात्र मन है। ऐसी अवस्था में हम मन को (श्वोवसीयस नाम से प्रसिद्ध अव्यय मन को) भोक्ता कह सकते हैं, प्राण को कर्त्ता कह सकते हैं, वाक् को सृष्टि (भोग्य) कह सकते हैं। सृष्टि **आवरण-तन्त्र** है, सृष्टिकर्त्ता प्राण **कर्तृतन्त्र** है, सृष्टि भोक्ता मन **भोगतन्त्र** है। इन तीनों तन्त्रों का तन्त्रायी वही षोड़शी पुरुष है। वही वाक् कला से आवरणतन्त्र का अध्यक्ष बना हुआ है, प्राणकला से कर्तृतन्त्र का संचालक बन रहा है, एवं मनोकला से भोगतन्त्र का आधार बना हुआ है। दूसरे शब्दों में वागवच्छेदेन वही आत्मा विश्व है, प्राणावच्छेदेन वही विश्वकर्त्ता है, मनोऽवच्छेदेन वही विश्वभोक्ता है। इस प्रकार उक्तलक्षण अव्ययात्मा के सम्बन्ध में—"**मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय**" (गीता ७ अ० ७ श्लो०) यह सिद्धान्त सर्वथा चरितार्थ होरहा है।

ज्ञान—क्रिया—अर्थ तीनों ही आत्मस्वरूप में अन्तर्भूत हैं। आत्मस्वरूप प्रतिपादन करनें वाली उपनिषत् को तीनों का ही स्वरूप बतलाना उचित है। तीनों में मन—प्राण—वाक् यह क्रम है। सृष्टिधारा के क्रमानुसार सब से पहिले ज्ञानमय मन का उदय होता है, अनन्तर

प्राण का, सर्वान्त में वाक् का विकास होता है। इस नित्यसिद्ध क्रम को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने "**ईशावास्यमिदम्**" "**कुर्वन्नेवेह**" "**असुर्या नाम**" इन तीनों से क्रमशः आत्मा की तीनों कलाओं का निरूपण किया है। तीनों ही मन्त्र मुख्यार्थ का निरूपण करते हैं। कहना नहीं होगा कि जो महानुभाव उक्त वचनों में गौणमुख्य भाव मानते हुए "कुर्वन्नेवेह" को गौणपक्ष बतलाते हैं, हमारी दृष्टि से उनका यह मताभिनिवेश अविचारितरमणीय ही है।

नित्यसिद्ध भोगतन्त्र का निरूपण होचुका है। अब क्रमप्राप्त कर्तृतन्त्र का निरूपण किया जाता है। '**आत्मीयकर्म्म यावज्जीवन करनें चाहिएं, इन सतत कृत आत्मीय कर्म्मों से कभी बन्धन नहीं होता**' प्रकृत मन्त्र का यही सारांश है। आत्मीयकर्म बन्धन का कारण नहीं है, एवं मनुष्य का प्रत्येक कर्म्म आत्मा से सम्बन्ध रखता हुआ आत्मीय ही है। यह सब कुछ होनें पर भी मनुष्यों को बन्धनग्रस्त देखते हैं। इस का क्या कारण ? बस इसी कारण को अपनें हृदय में रखती हुई, साथ ही में उस के निराकरण का उपाय बतलाती हुई '**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**' यह उपनिषच्छ्रुति हमारे सामनें आती है।

प्रत्येक मनुष्य वास्तव में सदा सर्वदा आत्मीयकर्म्मों का ही अनुष्ठान करता रहता है। सोना, जगना, खाना, पीना, हंसना, रोना, उठना, बैठना, बोलना, चलना देखना, सुनना, पढ़ना, पढ़ाना, नौकरीकरना, बागबनवाना, कुआ--बावड़ी बनवाना, अतिथियज्ञ, भूतयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, अग्निहोत्रादि श्रौतयज्ञ, दान, तप, इञ्जिनीयरी, डाक्टरी, आदि आदि समस्त कर्म्मों का एकमात्र आत्मा से ही सम्बन्ध है, इस में कोई सन्देह नहीं। बिना आत्मप्रेरणा के उक्त कर्म्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होसकती। दूसरे शब्दों में सामाजिक, राजनैतिक, एवं शरीरयात्रा के निर्वाहक भोजन–शयन–मैथुनादि शारीरक कर्म्म–सभी आत्मीयकर्म्म हैं। आत्मा मनप्राणवाङ्मय है। मन से इच्छा होती है, इच्छा से प्राणद्वारा तप (चेष्टा–यत्न–कोशिश) का उदय होता है। तप के अनन्तर वाग्व्यापार से श्रम (बहिर्व्यापार) होता है। यहीं कर्म्म का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। बिना मनप्राणवाक् के इच्छा–तप–श्रम नहीं, बिना

इच्छा–तप–श्रम के कर्म्म सिद्धि नहीं, ऐसी अवस्था में इच्छा तप–श्रम सापेक्ष कर्म्ममात्र को हम आत्मीयकर्म्म माननें के लिए तय्यार हैं।

प्रकृतिसिद्ध उक्त आत्मीय कर्म्मों को मनुष्य ने अपने प्रज्ञापराध से अनात्मीय बना रक्खा है। जिस प्रकार एक विशुद्ध ज्योतिर्मय माणिक्य खान के मैल से आवृत होकर अपनी ज्योति से वञ्चित होता हुआ तम को हटानें में असमर्थ होजाता है, अथवा मेघावरण से रहता हुआ भी सूर्यप्रकाश जिस प्रकार अन्धकार को दूर करनें में असमर्थ देखा जाता है, ठीक इसी प्रकार अविद्या–अस्मिता–रागद्वेष–अभिनिवेश इन अविद्याओं से आवृत आत्मा से सम्बन्ध रखनें वाले कर्म्म अनात्मीय बन रहे हैं। जिन विविध खण्डात्माओं का आगे के प्रकरणों में विस्तार से निरूपण होनें वाला है, उन में से प्रकृत में दो खण्डात्माओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित कराया जाता है। वैज्ञानिक जगत् में वे दोनों खण्डात्मा **प्रज्ञानात्मा*** **विज्ञानात्मा**† नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रज्ञानात्मा का प्रभव चान्द्ररस है, योनि अन्न है, प्रतिष्ठा हृदय है, आशय सर्वाङ्गशरीर है। विज्ञानात्मा का प्रभव सौररस है, योनि ब्रह्मरन्ध्र नाम से प्रसिद्ध "**नान्दनद्वा**" (नान्दनद्वार) है, प्रतिष्ठा प्रज्ञानात्मा है, आशय सर्वाङ्गशरीर है।

जिस प्रकार चन्द्रमा में आगत सौर प्रकाश चन्द्रमा से अभिन्न रहता है, एवमेव चन्द्रमूर्ति प्रज्ञानात्मा पर प्रतिष्ठित सूर्यमूर्ति विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा से अभिन्न रहताहै। दोनों के इसी अविनाभाव को लक्ष्य में रख कर– "**स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः**" यह कहा जाताहै। दार्शनिक परिभाषानुसार प्रज्ञानात्मा **मन** (सर्वेन्द्रिय किंवा अनिन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अन्नरसमय मन) नाम से प्रसिद्ध है, एवं विज्ञानात्मा **बुद्धि** नाम से व्यवहृत होती है। प्रत्येक कर्म्म में आत्मा को मन एवं बुद्धि दोनों का सहारा लेना पड़ता है। मन की इच्छा से कार्य करना एक मार्ग है, बुद्धि की प्रेरणा से कर्म्म करना एक मार्ग है। मनप्रधान कार्य में बुद्धि गौण रहती है, मन प्रधान रहता है। बुद्धिप्रधान कार्य में मन गौण एवं बुद्धि प्रधान रहती है। बात यह है कि

---

* तलवकारोपनिषत् (केन) में इसी प्रज्ञानात्मा का प्रधान रूप से निरूपण हुआ है।

† छान्दोग्य उपनिषत् विज्ञानात्मा का विशद निरूपण करती है।

मन इच्छाओं का केन्द्र है। यह मन आत्ममन एवं सर्वेन्द्रिय मन भेद से दो प्रकार का है। आत्ममन ही "**श्वोवसीयस**" नाम से प्रसिद्ध है। इस की इच्छा का विकास बुद्धिद्वारा सर्वेन्द्रिय मन में होता है। इसी बुद्धिप्रधाना आत्मेच्छा को "**उत्थिताकांक्षा**" (अपने आप उठी हुई इच्छा) कहा जाता है। यदि मन बुद्धि की उपेक्षा करता हुआ स्वतन्त्र इच्छा का अधिष्ठाता बन जाता है तो आत्मेच्छा गौण पड़जाती है। ऐसी अवस्था में रहती हुई भी आत्मेच्छा मन की इच्छा का अनुगमन करनें के लिए विवश होजाती है। प्रज्ञानमन चान्द्रसोममय होनें से स्नेहनधर्म्मा है। अत एव इसकी इच्छा से किया हुआ कर्म्म वासना संस्कार का जनक बनता हुआ आत्मा को आवृत करनें का साधक बन जाता है। इसी इच्छा को "**उत्थाप्याकांक्षा**" कहा जाता है। यदि बुद्धि को प्रधान बना दिया जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान रहती है। बुद्धि सौराग्निमयी है। अग्नि विशकलन धर्म्मा है। अतः तद्गुणक बुद्धितत्व कर्म्म प्रवर्त्तक बनता हुआ भी संस्कार का जनक नहीं बनता। यही कर्म्म ज्ञानसहकृतकर्म्म नाम से प्रसिद्ध है। मन की स्वतन्त्रवृत्ति कामना है। तत्प्रधान कर्म्म काम्यकर्म्म है। आत्मावरक बनता हुआ यही काम्यकर्म्म अनात्मीय कर्म्म है। विज्ञानसहकृत कर्म्म निष्काम कर्म्म "**कतकरजोवत्**" आत्मा के आवरणों के विनाशक बनते हुए आत्मीय कर्म्म हैं। मन—बुद्धि—के इसी तारतम्य को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवति-अयुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि नष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।"
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ (कठ उ. १।३।)

निष्कर्ष यही हुआ कि काम्यकर्म्म (उत्थाप्याकांक्षाप्रधान कर्म्म) अनात्मीयकर्म्म हैं। इन का प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) से सम्बन्ध है। निष्कामकर्म्म (उत्थिताकांक्षाप्रधानकर्म्म)

आत्मीयकर्म्म हैं। इन में विज्ञानात्मा (बुद्धि) की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में विज्ञानसहकृत प्रज्ञानकर्म्म संस्कार के जनक बनते हुए अनात्मीय कर्म्म हैं, प्रज्ञानसहकृत विज्ञानकर्म्म संस्कार के निवर्त्तक बनते हुए आत्मीयकर्म्म हैं। पहिले कर्म्म बन्धक हैं, दूसरे मुक्तिसाधक हैं। अनात्मीय कर्म्मों में पद-पद पर वासनामय फलाशा पर दृष्टि है। आत्मीयकर्मों में **'कुर्वन्नेव'** इत्यादि रूप से कर्त्तव्य बुद्धि से केवल कर्म्ममात्र पर दृष्टि है।

"सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते" इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार विज्ञानसहकृत अत एव ज्ञानप्रधान कर्म्म में (निवृत्तिकर्म्म में) संस्कार जनक सारे प्रवृत्तिकर्म्म विलीन होजाते हैं। स्मरण रखिए कर्म्म कभी बंधन का कारण नहीं है, अपि तु इच्छा बन्धन का कारण है। निष्कामकर्म्म निष्काम हैं, इच्छाशून्य हैं। यहां आसक्ति का अभाव है। अतः ऐसे इच्छाविरहित कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनसकते। यद्यपि—

"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्यं* क्रतुर्भवेत् ।
क्रतुजन्यं✝ भवेत् कर्म्म तदेतत् कृतमुच्यते ॥"

इस सिद्धान्त के अनुसार विना इच्छा के कोई भी कर्म्म संभव नहीं है। प्रत्येक कर्म का मूलप्रभव इच्छातत्व है। तथापि पूर्वोक्त उत्थिताकांक्षा एवं उत्थाप्याकांक्षा को लक्ष्य में रखते हुए सकाम निष्काम भाव का समाधान करलेना चाहिए। **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे हृदय में ईश्वरात्मा का भी अंश है। ईश्वर और जीव दोनों सुपर्ण एक ही विन्दु पर प्रतिष्ठित हैं। दोनों में विज्ञानप्रधानेच्छा ईश्वर की इच्छा है। यह ज्ञानाग्निमयी बनती हुई संस्कार से दूर रहती है। सब संस्कार इस ज्ञानाग्नि में दग्ध होजाते हैं। प्रज्ञानप्रधानेच्छा जीवेच्छा है। यह सोममयी इच्छा संस्कार की जननी बनती हुई आवरण का कारण बनजाती है। जो इच्छा अपने आप उठती है वह उत्थिताकांक्षा

* इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्– पाठान्तर

✝ कृतिजन्यं भवेत् कर्म्म– पाठान्तर

नाम से प्रसिद्ध है। हम प्रातःकाल उठते हैं, शौचादि नित्यकर्मों से निवृत्त होते हैं, भूख लगती है, यह स्वाभाविक इच्छा है। इच्छानुसार हित-मित भोजन करलेते हैं। इच्छा शान्त होजाती है। रास्ते में से एक चाट वाला आवाज़ लगाता हुआ निकलता है। उसी समय हमारा मन (यद्यपि हम भूखे नहीं है- फिर भी) उस ओर दौड़ पड़ता है, यही उत्थाप्याकांक्षा है। जीवनोपयोगी भोजनेच्छा उत्थिकांक्षा है, रबड़ी--मलाई--मोहनभोग की इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है। प्रथमेच्छा ईश्वरेच्छा किंवा आत्मेच्छा है, द्वितीयेच्छा जीवेच्छा किंवा मन की इच्छा है। मन का काम बन्धन का कारण है, विज्ञानमय आत्मा का काम अबन्धन है। अतः आत्मकामना कामना होते हुए भी कामना नहीं कहलाती। स्वाभाविक कामना स्वाभाविक कर्म्म की जननी है। ऐसा कर्म्म तो आत्मा का स्वरूपधर्म्म है। इसके लिए तो भगवान् का **'सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'** यह आदेश है। इसी कर्म्म को निष्काम किंवा **'निवृत्तिकर्म्म'** कहा जाता है। मनप्रधान कामना काम्यकर्म्म की जननी है। यह आत्मीय होते हुए भी संस्कार का कारण बनती हुई अनात्मीय बनजाती है। इसी को **'प्रवृत्तिकर्म्म'** कहा जाता है। यदि आपनें इस कामना का परित्याग कर दिया, दूसरे शब्दों में उत्थाप्याकांक्षा का दमन कर दिया तो आप सच्चे कर्म्मयोगी बन गए। ऐसी अवस्था में आप के पास निवृत्तिरूप अत एव ज्ञान प्रधान विशुद्ध आत्मीयकर्म्म ही बच जांयगे। ऐसे कर्म्म नित्य अनुष्ठीयमान होते हुए भी बन्धन के कारण नहीं बनेंगे।

आत्मप्रपञ्च की आधारभूमि महानात्मा है। इस में शुद्धसत्व, मलिनसत्व, रज, तम यह चार विभूतिएं हैं। चारों में से शुद्धसत्व को छोड़ कर शेष तीनों गुणों से सम्बन्ध रखनें वाले कर्म्म काम्यकर्म्म हैं। शुद्धसत्व सम्बन्धी कर्म्म निष्कामकर्म्म हैं। संसार के सभी कर्म्म कामना सम्बन्ध से काम्य बनते हुए, अत एव संस्कारों के जनक बनते हुए बंधन के कारण हैं, एवं सभी कर्म्म कामना परित्याग से निष्काम बनते हुए, अत एव संस्कारों के निवर्तक बनते हुए बन्धनोच्छेद के कारण हैं। श्रुति आदेश करती है कि तुम कर्म्म करो, और अवश्य करो। परन्तु **"कर्म्म करना कर्म्ममय आत्मा का स्वभाव है"** इस बुद्धि को सामनें

रक्खो। यदि कर्म्म का परित्याग करदोगे तो आत्मा का स्वरूप ही उच्छिन्न होजायगा। अतः जीवित रहनें के लिए कर्म्म करना आवश्यक है। **'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः'** इस सिद्धान्त को सामनें रक्खो। आत्मदृष्टि से आत्मीयकर्म्मों में जीवन पर्यन्त प्रवृत्त रहो, जो कि आत्मीयकर्म्म निष्कामकर्म्म नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे कर्म्म तुम्हें कभी बंधनन में नहीं डाल सकते।

"क्या करें, आदत ही ऐसी पड़गई है। बिना बाजार की मिठाई खाए, बाजार का पान खाए चैन ही नहीं पड़ता" यह अन्दर प्रज्ञान मन बुलवाता है। यही आसक्ति है। **'बहुत चाहते हैं न खांय'** यह अन्दर विज्ञान बुलवाता है। इस प्रकार आसक्तिमूलक प्रत्येक कर्म्म में प्रज्ञान-विज्ञान दोनों में स्पर्द्धा होती है। विज्ञान कहता है, "ऐसा मत करो" ऐसा करनें में हानि है" तत्काल ही प्रज्ञान बोल पड़ता है-"अजी करलो, आज आज तो करही लो, कल से देखा जायगा"। सत्यसूर्य्य से उत्पन्न होने वाला विज्ञानात्मा सत्य है। ऋत सोम से उत्पन्न होनें वाला, पार्थिव अन्नबल से सम्बन्ध रखनें वाला प्रज्ञान ऋत एवं बलप्रधान है। साथ ही में हम-पार्थिव प्राणियों में प्रज्ञान स्वतः बलवान रहता है, विज्ञान निर्बल रहता है। कारण स्पष्ट है। विज्ञान का प्रभव सूर्य भूपिण्ड से बहुत दूर है, प्रज्ञानप्रभव चन्द्रमा भूपिण्ड के बहुत समीप है। इसी आधार पर **"बलं वाव विज्ञानाद् भूयः, बलं सत्यादोजीयः"** यह कहा जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार पूर्वप्रदर्शित प्रज्ञान- विज्ञान की प्रतिस्पर्द्धा में विज्ञान पराभूत होजाता है, प्रज्ञान विजेता बनजाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि उत्थिताकांक्षा से सम्बन्ध रखनें वाले जितनें भी कर्म्म हैं, वे सब अध्यायात्मा के कर्म्म हैं, निष्कामकर्म्म हैं। यावज्जीवन इन का अनुपालन करनें में ही आत्मकल्याण एवं लोककल्याण है। यदि अज्ञानतावश प्रज्ञानमूलक कर्म्म किए जाते हैं तो वासना की कृपा से कर्म्मसंतान बनी रहती है। अनेक प्रक्रमों से कर्म्मव्यूह का स्वरूप बनता रहता है। व्यूहचक्र की कृपा से प्राणी निरन्तर जन्म—मरण के चक्र में फंसा रहता है। परन्तु निष्कामकर्म्म में-यह बात नहीं है। निष्कामकर्म्म के प्रभाव से ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होजाता है, प्रज्वलित ज्ञानाग्नि सञ्चित कर्म्मव्यूहों को भस्मसात् कर देता है। नई कर्म्मसन्तान

का अवरोध होजाता है। केवल प्रारब्धकर्म्म बच रहता है जो कि प्रत्येक दशा में भोगमात्र से ही नष्ट होता है। उधर सकामकर्म्म में आवरण है, लेप है। यहां उसका भी अभाव है। न अन्यथाभावरूप कर्म्मसंतान है, न वासनारूप आवरण है। आत्मीयकर्म्म निष्काम हैं। वासना-भावना की जननी कामना है। जब कामना ही नहीं तो संस्कार कैसा। संस्कार ही नहीं तो लेप कैसा। लेप नहीं तो दुःख कैसा। दुःख नहीं तो बंधन कैसा। बस यदि आप जीवन्मुक्त बनना चाहते हैं तो काम्यकामों का परित्याग कीजिए, एवं नित्य आत्मीय स्वाभाविक कर्म्मों को अपनाइए। जिन्हें आप कामना पूर्वक कर रहे हैं, विश्वास कीजिए कामना छोड़नें पर वही कर्म्म आत्मीय बनजाते हैं। उन्हीं को यावज्जीवन करते रहनें में कल्याण है।

"यावज्जीवन निष्काम कर्म्म करते रहो, चाहे वह विद्यासापेक्ष (शास्त्रीय) हो, अथवा विद्यानिरपेक्ष इष्ट–आपूर्त्त–दत्तादि सत्कर्म्म हों। ऐसा करनें से न कर्म्मसंतान होगी, न वासना लेप होगा। इस का फल मिलेगा "**विदेहमुक्ति**"-सम्पूर्ण कथन का यही निष्कर्ष है।

प्रथम अर्थ का प्रधान सम्बन्ध स्थूलशरीर से है। वहां के कर्म्म–अन्यथा–लेप–तीनों स्थूलशरीर से सम्बन्ध रखते हैं। द्वितीय पक्ष का प्रधान सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से है, एवं तृतीय पक्ष का सम्बन्ध कारणशरीररूप आत्मा से है। स्थूलशरीर भूतमय है, सूक्ष्मशरीर देवमय है, कारणशरीर आत्ममय है। तीनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के दूषित होजानें से शेष दोनों दोषाक्रान्त बनजाते हैं। यह सब कुछ होनें पर भी प्रधानता अधिकृत–धार्मिक–आत्मीयकर्म्मों की ही है। समाजिक कर्म्म का दण्ड स्थूलशरीर को मिलता है, वह अपना मुंह छिपाए रहता है। धार्मिककर्म्म न करनें वाले का अन्तःकरण मलिन होजाता

इस तृतीय पक्ष में 'कर्म्माणि' पद का–"कामनारहितानि, अत एवात्मीयानि स्वाभाविकानि कर्म्माणि" यह अर्थ है। 'अन्यथा' का कर्म्मसतान अर्थ है। एवं लेप का सम्बन्ध वासना संस्कार से है।

है, एवं आत्मीयकर्म न करने वाले की आत्मज्योति आवृत होजाती है–यह महापतन है। इस से बचने के लिए, साथ ही में शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए सतत निष्काम कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए।

१—राजनीतिपक्ष

१—कर्म्माणि—स्वामिना अधिकृतानि कर्म्माणि।

२—अन्यथा—दण्डस्य–अनिष्टस्य वा।

३—लेपः—अपकीर्त्तिः

——:०*०:——

२—धर्म्मनीतिपक्ष

१—कर्म्माणि—शास्त्रविहितानि धर्म्याणि कर्माणि।

२—अन्यथा—आत्मपतनस्य।

३—लेपः—आवरणम्।

——:०*०:——

३—विज्ञानपक्ष

१—कर्म्माणि—कामनारहितानि–आत्मीयानि सर्वाणि कर्म्माणि।

२—अन्यथा—कर्म्मसंतानस्य।

३—लेपः—वासनासंस्कारः।

——:०*०:——

१—राजनीतिपक्ष

यदि सेवक अपने आपको अपकीर्त्ति और दण्ड से बचाता हुआ, समाज की रक्षा करता हुआ अपने ऊपर स्वामी की कृपा चाहता है तो उसे जीवन पर्य्यन्त अपने अधिकृत कर्म्म में नियुक्त रहना चाहिए। इस से इसका एवं समाज का दोनों का अभ्युदय है।

२—धर्म्मनीतिपक्ष

यदि मनुष्य अपने अन्तःकरण को पवित्र रखकर इस लोक में सांसारिक सुख, एवं परलोक में अभ्युदयरूप स्वर्गसुख भोगना चाहता है तो उसे यावज्जीवन शास्त्रोक्त कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए।

३–विज्ञानपक्ष

यदि मनुष्य जीवन्मुक्त होना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह यावज्जीवन निष्काम-कर्म्म करता रहै।

विश्वातीत अव्यय को कहां देखें? उत्तर है कर्तृतन्त्र में। विश्व में जड़ चेतन जितने भी पदार्थ हैं, सब निरन्तर कर्म्म कर रहे हैं। यह क्रियाशक्ति ही उस कर्म्माव्यय के प्राणभाग के साक्षात् दर्शन हैं। वह आत्मतत्त्व क्रियारूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। पदार्थ कर्म्म नहीं कर रहे, अपि तु वही सब के अन्तःप्रविष्ट होकर अपनें प्राणभाग से सब का संचालन कर रहा है। वह अहोरात्र कर्म्म में प्रवृत्त है, एवं अपनी आयु के शेष कल्पों में भी वह इसी प्रकार कर्म्म में रत रहेगा। इस प्रकार—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि" इस के अनुसार आत्मीयकर्म्म का नित्य अनुसरण करता हुआ भी ईश्वर असङ्ग है। "उस के इस व्यापक कर्म्म को (प्राणतत्व को) पहिचानते हुए आसक्ति छोड़कर जिस दिन हम कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त हो जांयगे, उसी दिन से अमृतमय शान्तिपथपर हम अपनें आप को चलता हुआ देखेंगे" उक्त द्वितीय मन्त्र यही सारोपदेश देता हुआ अव्ययात्मा के क्रियामय प्राणभाग का ही निरूपण करता है।

इति-प्राणमयाव्ययानिरूपणात्मकं

॥ कर्तृतन्त्रम् ॥

१

विद्या-कर्म्ममय अमृतात्मा

गूढोत्मा

अथ
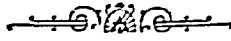
स्थूलशरीरपरकं वाक्प्रधानं-आवरणतन्त्रनिरूपणम्

'वाक्'
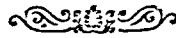
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमासाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

(ईशावास्योपनिषत् ३ मन्त्र)

आनन्द-विज्ञानघनमनप्राणवाङ्मूर्त्ति गूढो मा के भोगप्रधान मन एवं कर्मप्रधान प्राणतत्व का पूर्व के दोनों मन्त्रों में क्रमशः निरूपण किया जाचुका है । अब क्रमप्राप्त वाङ्मय **अर्थतन्त्र**, दूसरे-शब्दों में **आवरणतन्त्र** का विवेचन करता हुआ '**असुर्या नाम ते लोकाः**" यह तीसरा मन्त्र हमारे सामनें आता है। इस मन्त्रभाष्य के साथ ही त्रित्वमयादा समाप्त होनें वाली है। राजनीति धर्मनीति विज्ञाननीति से सम्बन्ध रखनें वाले तीन अर्थों का समन्वय केवल आरम्भ के तीन मंत्रों के साथ ही होता है । इस त्रित्वभाव का मौलिक कारण एकमात्र मन–प्राण–वाक् का त्रिवृद्भाव है। वैदिक परिभाषाओं के विलुप्तप्राय होजानें से पाठकों को उक्त त्रित्वभाव की प्रामाणिकता में सन्देह होसकता है । इस सन्देह का निराकरण करनें के लिए प्रकृत आत्मप्रकरण के अन्त में संक्षेप से मन–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता का दिग्दर्शन करा दिया गया है। हमें विश्वास है कि उस प्रकरण का मनन करनें के बाद मन्त्रप्रतिपाद्य तीन–तीन अर्थो के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह न रहेगा।

पूर्वमन्त्रभाष्यानुसार प्रकृत मन्त्र के भी तीन अर्थ होते हैं । इन तीनों अर्थो में प्रधानता '**विज्ञाननीतिपक्ष**' की ही है, जैसा कि तत्प्रतिपादन से स्पष्ट हो जायगा । किसी पक्ष का आश्रय न लेते हुए सर्वप्रथम मन्त्र का अक्षरार्थ पाठकों के सम्मुख उपस्थति किया जाता है—

"असुर्य- नाम से प्रसिद्ध वे लोक घोर अन्धकार से ढके हुए हैं । भौतिक स्थूल-शरीर के परित्याग के अनन्तर वे जन उन (असुर्य) लोकों की ओर जाते हैं, जो कि जन आत्मघाती होते हैं" ।

'आत्महत्या करनेंवालों को घोर तमसे वेष्ठित स्थान प्राप्त होता है' यही तात्पर्य्यार्थ है। प्राचीन आचार्यों ने उक्त मन्त्र का क्या अर्थ किया है ? यह भी प्रसंगागत जानलेना उचित होगा। कर्म्ममार्ग की गौणता पर 'कुर्वन्नेवेह०' इत्यादि मन्त्र के अर्थ का उपसंहार करते हुए

भगवान् शंकराचार्य नें 'असुर्या नाम ते०' इत्यादि मन्त्र की संगति बतलाते हुए लिखा है—

" अथेदानीं—अविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते " असुर्या " इति

(ईश० शां० भा० ३ मन्त्र)

आगे जाकर आचार्यश्री नें उक्तमन्त्र का निम्नलिखित आशय प्रकट किया है—

"अद्वैत मूलक परमात्मतत्व (परब्रह्म-अखण्डब्रह्म-निर्विशेषब्रह्म इत्यादि नामों से प्रसिद्ध विश्वातीत एकरस आत्मतत्व) की अपेक्षा से (असुरभावरूप द्वैत मूलक) देवता भी असुर ही हैं। इन असुररूप देवताओं के जो अपने (स्वर्गादि) लोक हैं-वे (ही) 'असुर्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। (उन असुर्य स्थानों में) कर्म्मफल भोगे जाते हैं, अतः वे स्थान 'कर्म्मफलानि लोक्यन्ते, दृश्यन्ते, भुज्यन्ते, इस व्युत्पत्ति से लोक नाम से प्रसिद्ध हैं (यथार्थतत्व के) अदर्शन-रूप अज्ञान से आवृत (जन) स्थावरान्तयोनि में जाकर पुनः उन योनियों को छोड़कर यथाकर्म्म यथाविद्य शरीरधारण करते हैं। .... । आत्मा को मारनें वाले ही 'आत्महनः' नाम से प्रसिद्ध हैं। वे कौनसे जन हैं जो अविद्वान् हैं ? किस प्रकार वे (अविद्वान् नित्यप्रति आत्महिंसा किया करते हैं ? इस का उत्तर है) आत्मतिरस्कार)। अविद्वान् में अविद्या दोष रहता है, इस अविद्यादोष से आत्मा का आवृत रहना ही आत्महत्या है। आत्मा के स्वस्वरूप से विद्यमान रहते हुए अजर-अमर संवेदनलक्षण जो फल होना चाहिए उस का (अविद्वान् पुरुष में) उसी प्रकार अभाव रहता है जैसे कि आत्मा के न रहनें से उक्त फलों का अभाव रहता है। अत एव (जन्मसिद्ध) अविद्वान् 'आत्महनः' नाम से पुकारे जाते हैं। इसी अविद्यारूप आत्महनन दोष से (वे जन) जन्ममरणरूप संसार में पुनः पुनः जन्म लेते एवं मरते हुए संसरण करते (इधर उधर भटकते) रहते हैं" (शा. भाष्य. ३ मन्त्र)।

उक्त कथन से आचार्य को वतलाना यह है कि जिन मनुष्यों को आत्मबोध नहीं है, दूसरे शब्दों में जिन मनुष्यों नें केवल लौकिक (सांसारिक) सुख को ही परम पुरुषार्थ समझते हुए, आत्मदोष निवारक वेदान्तादि सच्छास्त्रों की उपेक्षा करते हुए अपनें आत्मा को अज्ञानान्धकार से आवृत कर रक्खा है, वे कभी निःश्रेयससुखरूपा अद्वैतमूला परामुक्ति के अधिकारी नहीं वनसकते। ऐसे तमसावृत प्राणी सदा जन्म मरण के चक्र में फंसे रहते हैं। इस प्रकार प्रकृत मन्त्र का उक्त अभिप्राय प्रकट करते हुए आचार्य नें **'अनेजदेकं मनसो जवीयः०'** इत्यादि चौथे मन्त्र की संगति लगाते हुए कहा है—

"यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरति, तद् विपर्य्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्ते । तत् कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—अनेजदिति"

(शां. ई. उ. ४ मं.)।

हम भाष्यकार के उक्तार्थ की समालोचना करनें का कोई अधिकार नहीं रखते। अपि तु श्रद्धापूर्वक आचार्य का तात्पर्य्य स्वीकृत करते हुए इस सम्बन्ध में हमारे जो साधारण विचार हैं उन्हें प्रकट कर देना चाहते हैं। अब यह नीरक्षीरविवेकी विद्वानों पर निर्भर है कि वे हमारे वतलाए हुए विचारों की मीमांसा कर वस्तुस्थिति का निर्णय करें।

"**असुर्या नाम ते लोकाः**" इत्यादि मन्त्र में "**आवृताः**" पद प्रयुक्त हुआ है। आवृतभाव का तात्पर्य्य आवरण से है। इसी लिए हमनें इस तीसरे मन्त्र को **आवरण-तन्त्र** नाम से व्यवहृत किया है। जिस प्रकार—"**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि**" इत्यादि मन्त्र में **कर्म्माणि** पद विना किसी विशेषण के स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुआ है, एवं इसी स्वतन्त्रभाव के कारण जैसे हमनें **कर्म्माणि** से कर्म्ममात्र का संग्रह किया है, ठीक उसी तरह से प्रकृत मन्त्र में भी "आवृताः" शब्द स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुआ है। "**अन्धतम से आवृत**" इस वाक्य से मन—प्राण—वाक् तीनों आवरणों का ग्रहण किया जासकता है। मन पर भी आवरण होता है, प्राणपर भी आवरण होता है, वाक् पर भी आवरण होता है। मन—

प्राण—वाक् की समष्टि आत्मा है। अतः मन—प्राण—वाक् का पृथक् पृथक् निर्देश न कर श्रुति ने "आत्महनो जनाः" इत्यादि रूप से एक ही शब्द से तीनों आत्मकलाओं का ग्रहण कर लिया है। इन तीनों आवरणों के सम्बन्ध में आरम्भ में हीं यह स्पष्टीकरण करलेना चाहिए कि वाक्प्रधान आवरण का सम्बन्ध वाक्प्रधान स्थूलशरीर के साथ है, प्राणप्रधान आवरण का सम्बन्ध प्राणप्रधान सूक्ष्मशरीर के साथ है, एवं मन प्रधान आवरण का सम्बन्ध मनप्रधान कारणशरीर के साथ है। स्थूलशरीर—सूक्ष्मशरीर—कारणशरीर इन तीनों पर आत्म-शब्द व्याप्त है। स्थूलशरीर की हत्या करना भी आत्महत्या है, सूक्ष्मशरीर की हत्या करना भी आत्महत्या है। शरीर भी आत्मा (बाह्यात्मा) है— इसी अभिप्राय से निम्नलिखित निगम वचन हमारे सामने आते हैं। यह सभी वचन वाङ्मय शरीर को ही आत्मा बतला रहे हैं।

१— "आत्मा वै तनूः" (शत. ब्रा. ६।७।२।६)।

२— "सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा,
त्रयः पक्षपुच्छानि" (शत. ६।१।१।६।)

३— "पाङ्क्तः (पञ्चावयवः) इतर आत्मा —
लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा" ता. ब्रा. ५।१।४।)

४— "तस्मादितर आत्मा मेद्यति च कृश्यति च"
(ता. ५।१।७।)।

५— "(शरीरम्) तत् सर्व आत्मा वाचमप्येति,
वाङ्मयो भवति" (कौ. २ २।७।)।

६— "बाह्यो ह्यात्मा" (श. ६।६।२।१६।)

७— "आत्मा (शरीरम्) वै पूः" (श. ७।५।१।२१।)।

उपर्युक्त वचन जब स्पष्ट शब्दों में वाङ्मय शरीर को भी आत्मा मान रहे हैं तो ऐसी अवस्था में मन्त्रोपात्त आत्मशब्द से शरीर का ग्रहण करने में भी कोई आपत्ति नहीं होती।

जिस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म-कारण भेद से आवरण पृथक् पृथक् है, एवमेव तत् सम्बन्धी दण्ड-विधान भी पृथक् पृथक् ही है। स्थूलशरीर वाङ्मय बतलाया गया है। इस का सम्बन्ध समाज-नीति, दूसरें शब्दों में **राजनीति** से है, प्राणमय सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध **धर्म्मनीति** से है, एवं तीसरे सर्वप्रधान मनोमय कारणशरीररूप आत्मा का सम्बन्ध **विज्ञाननीति** से है। तीनों में से स्थूलारुन्धतिन्याय से सर्वप्रथम राजनीतिपक्ष से सम्बन्ध रखनें वाले अर्थ का ही संक्षिप्त निरूपण किया जाता है।

॥ इति—विषयोपक्रमः ॥

राजनीतिपत्र

१

भूतग्राममय-वाक्प्रधान-स्थूलशरीरसम्बन्धी

॥ प्रकरण ॥

जिसप्रकार समाज एवं राष्ट्र के अभ्युदय के लिए राजनीति विशारद समाज शास्त्रियोंनें समाज एवं राष्ट्र के लिए देश-काल-पात्र का पूर्ण विचार रखते हुए कर्म्मों का विधान किया है, तथैव उन्ही विद्वानों नें दण्डविधान भी नियत किया है। ऋत का प्रथमज मानव समाज प्रकृति से ही असत्यसंहित है। प्रज्ञापराध करना इस का स्वाभाविक धर्म्म है। **'मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति'** (शत.२।४।२।६।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अपनें नियत कर्म्म का अतिक्रमण कर उत्पथ मार्ग का अनुगमन करना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। इस प्रज्ञापराध मूलक अपराध का नियन्त्रण कर तद्द्वारा मानव समाज को अभ्युदयमूलक कर्म्ममार्ग पर आरूढ रखनें के लिए ही **दण्डनीति** का आविष्कार हुआ है। **चोरी-मिथ्याभाषण-व्यभिचार-परनिन्दा-परद्रव्यापहरण-सुरापान-मांसभक्षण-गुरुनिन्दा-अभक्ष्याभक्ष्य-राजद्रोह-प्रजाक्रान्ति-हिंसा**-आदि भिन्न भिन्न अपराधों के लिए भिन्न भिन्न दण्ड नियत हैं। सामान्य अपराध के लिए सामान्य दण्ड है, विशेष अपराध के लिए विशेष दण्ड है। इस दण्डनीति में देश-काल पात्र को प्रधान मानते हुए मनोवृत्ति को आगे रक्खा गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से उक्त अपराध तीन भागों में विभक्त हैं। **दक्षप्राण** मूलक अपराध पहिला विभाग है। **धृतिप्राण** मूलक अपराध दूसरा विभाग है, एवं **स्वप्नप्राण** मूलक अपराध तीसरा विभाग है। स्वाभाविकदोष का दक्षप्राण से सम्बन्ध है। कितनें ही मनुष्यों की झूंठ बोलनें की आदत होती है। दूसरों को विनाकारण सताते रहना उन का स्वभाव होता है। इस जन्मसिद्ध दोष का मूलकारण ग्रहसंस्था है। जैसी ग्रहसंस्था

में प्राणी का जन्म होता है, उस का स्वभाव (प्रकृति) उसी ग्रहसंस्था के अनुसार होता है। ऐसे स्वभावसिद्ध अपराधों के लिए भी दण्डविधान अवश्य है, परन्तु जीवन भर के लिए इन अपराधों का नियन्त्रण नहीं किया जासकता। थोड़े समय तक दण्ड का असर रहता है, फिर उसी स्वाभाविक वृत्ति का उदय होजाता है। इसी सहजदोष को लक्ष्य में रखकर— **"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"** (भगवद्गीता) यह कहा गया है।

दूसरा है—आगन्तुकदोष। इस का सम्बन्ध धृतिप्राण से है। यह दोष संसर्गज है। **'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'** इस पुरातन सिद्धान्त के अनुसार जैसी संगति होती है, आत्मा में वैसे ही गुण-अथवा दोषों का उदय हो जाता है। एक व्यक्ति मांस-मदिरा से अत्यन्त घृणा करता है, परन्तु वही यदि एक मद्यपी-मांसाशी व्यक्ति से मित्रता करलेता है तो इस के चिरसंग से मद्य-मांस के परमाणु भावना-वासना संस्कार के द्वारा क्रमशः उस दोष शून्य व्यक्ति के हृत्पटल पर खचित होते रहते हैं। संचित होते होते जिस दिन संस्कारों का पुञ्ज (राशि) बनजाता है, उसी दिन उक्थ (बिम्ब) का उदय होजाता है। उक्थ निर्माण होते ही अर्करूप इच्छा का उदय होजाता है। मांस-मद्य से घृणा करनें वाला यही व्यक्ति इस संगदोष से नया उक्थ प्राण उत्पन्न करता हुआ मद्यमांस की इच्छा करनें लगता है। यही इच्छा आगे जाकर कार्यरूप में परिणत होजाती है। इसी तात्कालिक प्राण को वैज्ञानिकों नें **'धृतिप्राण'** शब्द से व्यवहृत किया है। दण्डविधान का मुख्य सम्बन्ध इसी धृतिप्राण से है।

तीसरा है-स्वप्नदोष। स्वप्न में मनुष्य एक मनुष्य को मार बैठता है। यहां का मारना न मारनें के समान है। यद्यपि **'सूचकश्च हि'** (शा. सू. ३।२।४) के अनुसार स्वप्न में होनें वाले कर्म्म निरर्थक नहीं होते, अपि तु वे शुभाशुभ कर्म्म के सूचक होते हैं, तथापि स्वप्नकृत कर्म्मों के लिए कोई स्वतन्त्र दण्ड-विधान नियत नहीं है। इस के लिए साधारण प्रायश्चित्तों का विधान है। उदाहरणार्थ दुःस्वप्न दुष्कर्म्म के सूचक हैं। इन की निवृत्ति के लिए देवाराधन ही एक प्रकार का दण्ड विधान है। दुर्गापाठ से दुःस्वप्नदोष नष्ट होजाता है। **'दुःस्वप्नं च नृभि-**

दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते" (सप्तशती) इत्यादि वचन प्रसिद्ध हैं । इस स्वाप्नजगत् की तरह जाग्रदवस्था में भी मनुष्य गलती कर बैठता है । एक आदमी रास्ते में जारहा है । वह यह कभी नहीं चाहता कि उस के पैर की किसी के ठोकर लगे । परन्तु असावधानी से एक अन्य व्यक्ति के इस के शरीर की टक्कर लग जाती है । इस टक्कर से वह व्यक्ति किसी स्थूण से टकरा कर अपने प्राण छोड़ देता है। इस प्रकार अपनी जरासी गलती से उक्त व्यक्ति हिंसा की इच्छा न न रखता हुआ भी हिंसक कोटि में प्रविष्ट होजाता है । यह उसी स्वप्नप्राण की कृपा है । उक्त अविचारित कर्मों में इसी स्वप्नप्राण का उदय होता है । जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य अपनें आपे में न रहता हुआ उचित-अनुचित का विवेक छोड़ देता है, वही दशा यहां होती है । चतुर न्यायाधीश ऐसी मनोवृत्ति पर कठिन दण्ड विधान नहीं करता, क्यों कि यह अपराध जान बूझ कर नहीं किया जाता, अपि तु गलती से हो जाता है । वसिष्ठवरुणसंवाद में उक्त दक्ष-ध्रुति-स्वप्न तीनों प्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है । वहां पर वसिष्ठ महर्षि नें स्वकृत अपराध को 'स्वप्न-प्राण' कोटि में निविष्ट करते हुए क्षम्य वतलाया है । देखिए-ऋक् सं०७।८६।४।) । इसी दोष को शास्त्रनें प्रज्ञापराध वतलाया है ।

१– दक्षप्राणात्मकदोषः (ग्रहजन्यदोषः—स्वाभाविकः)	त्रिदोषसमष्टिः
२– ध्रुतिप्राणात्मकदोषः (आगन्तुकः –संसर्गजो वा)	
३– स्वप्नप्राणात्मकदोषः (मुग्धभावादुत्पन्नस्तात्कालिकः)	

१– कुदरती गलती — दक्षप्राणमूला

२– संगदोष की गलती—ध्रुतिप्राणमूला

३–असावधानी से गलती – स्वप्नप्राणमूला

उपरोक्त दोषविवेचन से विज्ञ पाठक यह भलीभांति समझ गए होंगे कि दण्डविधान का मुख्य अधिकारी दक्षप्राणात्मक एवं ध्रुतिप्राणात्मक अपराध ही है । इन में ध्रुतिप्राण का उदय सुरा (शराव), मन्यु (गुस्सा), विभीतक (जुआ), अचित्ति (प्रज्ञापराध-नासमझी), अस्तिज्यायान् कनीयसः,

इन पांच कारणों से होता है। पांचों में चारों कारण स्पष्ट हैं। पांचवें कारण का तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति अनुचित कर्म से सर्वथा घृणा करता है। परन्तु एक बड़ा आदमी (जिस से उस व्यक्ति को सदा काम पड़ता रहता है) उस पर किसी अनुचित कार्य के लिए दबाव डालता है। इस से विवश होता हुआ वह व्यक्ति इच्छा न रहते हुए भी अनुचित (झूठी गवाही आदि) कर्म में प्रवृत्त होजाता है। इसी को 'अस्तिज्यायान् कनीयसः' कहा गया है। (देखिए ऋक्सं० ७। ८६। ६।)।

कैसा भी दोष हो दण्डविधान में प्रत्येक दशा में मनोवृत्ति को मुख्य मानना परम आवश्यक है। इसी मनोवृत्ति के नियम को सुरक्षित रखने के लिए भारतीय न्यायविशारदों ने प्रत्येक दण्डविधान के साथ देश की परिस्थिति, काल(समय), पात्र(दण्डनीय व्यक्ति) तीनों की अपेक्षा रक्खी है। प्रकृत में हिंसा अपराध एवं उस के दण्ड का ही निरूपण है। अतः उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

एक स्वस्थ मनुष्य अपनी स्वस्थ अवस्था में किसी क्षुद्र कलह के कारण, अथवा किसी स्वार्थसिद्धि के लिए किसी अन्य मनुष्य का शस्त्रप्रहारादि से वध करडालता तो ऐसी अवस्था में न्यायशास्त्र के साहस विभाग (फौजदारी) के अनुसार वह हिंसक (हत्यारा) कोटि में आजाता है। वह अवश्य हिंसाकर्म का दण्डभाक् बन जाता है। शास्त्रों में हिंसक के लिए वधदण्ड का विधान न हो यह बात तो नहीं है। स्मार्तकाल में स्पष्ट शब्दों में स्थान स्थान पर—

"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"

इत्यादिरूप से वधदण्ड का उल्लेख मिलता है, परन्तु श्रौतकाल में हिंसक के लिए वधदण्ड का प्रायः अभाव ही प्राप्त होता है। यद्यपि श्रौतकाल में भी वधदण्ड का स्थान स्थान पर उल्लेख मिलता है, परन्तु उन सब स्थलों का सम्बन्ध शत्रुओं के साथ ही है। वेदशास्त्र-देव-ईश्वर विरोधी असुर शत्रुओं के, एवं राष्ट्र नाशक अन्य शत्रुओं के वध का पूर्ण विधान

है। शत्रुओं को मारना, उनका सर्वस्व छीनलेना यह सब कुछ विधान है। परन्तु अपने ही राष्ट्र में राष्ट्र का ही कोई व्यक्ति दुर्बुद्धिवश हिंसावृत्ति का आश्रय लेता था तो उसे वधदण्ड न देकर आजन्म कारावास में रक्खा जाता था।

कारावास के लिए नियत स्थान बनाए जाते थे। शून्य पर्वतप्रदेश में, अथवा घने जंगल में (जहां सूर्य्य का प्रकाश एक प्रकार से नहीं पहुँच सकता था) कारावास बनाए जाते थे। उनमें कहीं से भी सूर्य्यप्रकाश न आजाय, इस का पूरा ध्यान रक्खा जाता था। उस स्थान में दहरोत्तर भाव से (एक के भीतर एक) कई भवन क्रमिक बनाए जाते थे। उन में सब से अन्त के (उसपार के) भवन में हिंसक को विश्राम दिया जाता था। वह स्थान कृष्णपक्ष की अमावस्या से भी अधिक अन्धकारावृत रहता था। आज भी राजपूताने में कहीं कहीं ऐसे स्थान उपलब्ध होते हैं। वे स्थान प्रान्तीयभाषा के अनुसार- 'कालकोठरी' नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः देखा जाय तो यह स्थान मृत्यु से भी भयङ्कर हैं। मृत्यु से तो तत्काल छुटकारा होजा है। परन्तु यहां की भीषणयन्त्रणा, भयावह दृश्य अभियुक्त का प्राण धीरे धीरे चूसा करते हैं। हिंसा का दण्ड हिंसा नहीं होसकता, मौत की सजा मौत नहीं हो सकती। दण्ड का स्वरूप अपराध से बढ़कर होना चाहिए, तभी उस दण्ड का कुछ प्रभाव होता है। जबतक मौत की सजा मौत है, तबतक समानता है। इस दण्ड को दण्ड नहीं माना जासता। बस इसी भाव को लक्ष्य में रखकर नियन्ता आचार्यों नें मृत्यु से भी कहीं अधिक भयंकर उक्त दण्ड स्थानों का आविष्कार किया है।

"वैदिक काल में हिंसक मनुष्य इन असुर्य (दिव्यभाव शून्य) लोकों में जो कि लोक (स्थान) अहोरात्र घोर अन्धकार से आवृत रहते थे- जीवन भर के लिए नियन्त्रित कर दिए जाते थे। अन्त में मृत्यु ही उन्हें इस स्थान से छुटकारा दिलाती थी।"

उक्त दण्डस्थान के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। वह यही कि दण्ड स्थान अन्धकार पूर्ण क्यों बनाए गए? प्रकाश का न रहना भी एक प्रकार की यन्त्रणा

अवश्य है । परन्तु प्रकाश न रहनें से कम से कम वहां के प्रबन्धकों को कई प्रकार की असुविधाएं हो सकतीं हैं । इस प्रश्न का समाधान है-प्रकृति । **"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च"** (यजुः सं. ७।४२।) इस सिद्धान्त के अनुसार प्राणिमात्र का आत्मा ज्योतिर्घन सूर्य्य से उद्‌भूत हुआ है । आत्मा ज्योतिर्म्मय है, ज्योति आत्मा का जीवनीय रस है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जब तक ज्योति (प्रकाश–उजेला) मिलती रहती है, तभीतक यह आत्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है । ज्योतितत्व **सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–वाक्–आत्म**–भेद से पञ्चधा विभक्त है । आत्मप्रतिष्ठा के लिए पांचों ज्योतियों में से एक न एक ज्योति नितान्त अपेक्षित है । अहःकाल में सौरज्योति आत्मासत्ता का कारण है, रात्रि में चन्द्रज्योति से आत्मप्रतिष्ठा रहती है । चन्द्राभाव में अग्निज्योति (दीपादि) का सहारा लेना पड़ता है । अग्नि के अभाव में वाग्ज्योति (शब्द) को आश्रय बनाना पड़ता है । वाक् के अभाव में आत्मा में संस्काररूप से प्रतिष्ठित अत एव आत्मज्योति नाम से ही प्रसिद्ध उक्त चारों ज्योतियों की समष्टि को आधार बनाना पड़ता है ।

एक मनुष्य सूर्य्यप्रकाश में (दिन में) एकाकी ही घोर जंगल में बिना भय के चला जाता है । यदि शुक्लपक्ष की रात्रि होती है तो चन्द्रिका (चांदनी) के सहारे रात्रि में भी वह शून्यस्थान में जानें का साहस करलेता है । यदि चंद्रिका नहीं होती तो इन कृष्णपक्ष की अंधकारावृत रात्रियों में शून्य स्थान में जाने के लिए इसे दीपादिरूप अग्निज्योति की आकांक्षा होती है । दीपादि के सहारे वह जानें का साहस कर लेता है । मान लीजिए दीपादि समय पर उपलब्ध नहीं हुए तो ऐसी अवस्था में वाग्ज्योति ही इसके भयनिवृत्ति का कारण बनती है । यदि एक दूसरा आदमी बात चीत करनें वाला साथ होता है तो यह रात्रि में भी चला जाता है । दूसरा आदमी साथ नहीं है, और उक्त व्यक्ति साहस करके अंधेरी रात में चला जारहा है । जंगल की नीरवता से सहसा इस के आत्मा में भय का संचार होता है । उस समय यदि इस के कान में कहीं से मनुष्यवाक् (बोली) समाविष्ट होजाती है तो तत्काल उसी प्रकार इस में नवीन जीवन का संचार हो जाता है– जैसे कि अस्तप्राय दीपशिखा तैल आगमन से पुनः प्रज्व-

लित होजाती है। यदि दुर्भाग्य से इस आगन्तुक वाग्ज्योति का भी कोई साधन नहीं होता तो ऐसे अवसर पर उस निर्जनस्थान में उसे संस्कार पुंजरूप आत्मज्योति का सहारा लेना पड़ता है। मार्गमें चलते हुए शुष्क पत्तों की खड़बड़ाहट से जब जब इसके आत्मा में भय का उदय होता है तो, **"मुझे किस का डर है" "मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है" "यदि कोई आक्रमण करेगा तो उसे देखलूंगा" "इधर छिप जाऊंगा" "निर्बल होगा तो मार भगाऊंगा"** इत्यादि संकल्परूप आत्मज्योति का आश्रय लेता हुआ भय का निवारण करता रहता रहता है। दुर्भाग्य से यदि इस का आत्मा सर्वथा निर्बल होता है तो ऐसे विषम अवसर पर सारी संकल्पशक्ति विलुप्तप्राय होजाती है। वर्त्तमान भय एवं आगन्तुक भय के वेग को सहनें में यह असमर्थ होजाता है। इस प्रकार ज्योतिद्वार के सर्वात्मना अवरुद्ध होजा नें से हृद्गति रुक जाती है। तत्काल इस का आत्मा शरीर से उत्क्रान्त होजाता है। इस निदर्शन से यह भली-भांति सिद्ध होजाता है कि आत्मा और ज्योति का परस्पर उपकार्य–उपकारक सम्बन्ध है। विना ज्योति के आत्मसत्ता नहीं रह सकती।

विदेह जनक के— **"किं ज्योतिरयं पुरुषः"** यह प्रश्न करनें पर भगवान् याज्ञवल्क्यनें— **"पञ्चज्योतिरयं पुरुषः"** यह समाधान करते हुए वाजिब्राह्मण में उक्त इन्हीं सूर्य्यादि पांचों ज्योतियों का निरूपण किया है। पूर्वोक्त पांचों ज्योतियों का मूलप्रभव सूर्य्यज्योति ही है। इस सूर्यज्योति में ही हम इतर (चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मा) चारों ज्योतियों का अन्तर्भाव माननें के लिए तय्यार हैं। चन्द्रमा में जो प्रकाश है वह— **"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे"** (ऋक् सं. १। ८४। १५।) इस मन्त्रवर्णन के अनुसार सूर्य्य का ही प्रकाश है। **"सूर्य्योऽग्नेर्योनिरायतनम्"** (तै० ३। १। २१। २–३) के अनुसार अग्नि भी सूर्य्यजन्मा है। **"एष वा ऽ इन्द्रो य एष तपति"** (शत० २। ३। ४। १२) **"अथ य इन्द्रस्सा वाक्"** (जै० उ० १। ३३। २) इत्यादि श्रौत प्रमाणों के अनुसार वाक् भी इन्द्रात्मक सूर्य्य का ही विवर्त्त है, एवं आत्मा का सौरभाव तो आरम्भ में ही बतलाया जाचुका है।

इस आत्मज्योति के परस्पर के अविनाभाव से यह भी भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि— आत्मा से विरोध करना ज्योति से विरोध करना है, एवं ज्योति से विरोध करना आत्मा से विरोध करना है।

इस हिंसक नें आज एक निरपराध व्यक्ति की हिंसा करते हुए ज्योतिर्म्मय आत्मा से विरोध किया है, ज्योतिर्म्मय आत्मा को इस नें अपना शत्रु समझा है। इस प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए दण्डविधायकों नें उक्त हिंसक के लिए तम से आवृत स्थान को उपयुक्त समझा है, क्योंकि उसनें आत्मवियोग करवाते हुए ज्योति का तिरस्कार किया है। ऐसी अवस्था में वह ज्योति-(प्रकाश) स्थान में रहनें का अधिकारी कथमपि नहीं होसकता।

वैदिक सभ्यता के घोरशत्रु असुर भी दण्ड के लिए ऐसे ही तमसावृत स्थान बनवाया करते थे। एकबार इन दुष्टबुद्धि असुरों नें ब्रह्मप्रजापति की ओर से वेदप्रचार के लिए नियुक्त वेद के प्रथम प्रचारक महर्षि अत्रि को व्याज से पकड़ कर ऐसे ही अन्धस्थान में '**ऋबीस**' नाम के यन्त्र में जकड़ कर औंधा लटका दिया था। साथ ही में औंधे लटकते हुए अत्रि के नीचे कटुधूम का आयोजन कर चारों ओर के द्वार बन्द कर दिए थे। इतना कुकाण्ड करनें के पश्चात् उन्हें विश्वास होगया था कि अब अत्रि किसी प्रकार से नहीं बचसकते, अत्रि की समाप्ति के साथ साथ आज से वेदप्रचार की भी इतिश्री निश्चित है। परन्तु अत्रिमहर्षि नें ब्रह्मबलद्वारा असुरों के सारे विचार नास्तिभाव में परिणत कर दिए थे। उस निविड़स्थान में बंधे हुए अत्रि नें अश्विनी कुमारों का ध्यान किया था, एवं ध्यान से आकर्षित अश्विनीकुमारों न अत्रि को मुक्त किया था— (देखिए ऋक् सं. १।११६।) इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यह बतलाना है कि पुरायुग में दण्ड के लिए उक्त प्रकार के स्थान बनाए जाते थे।

उक्त दण्डस्थानों के प्रबन्धक सात्विक मनुष्य कभी नहीं बनाए जासकते। अपि तु तमप्रकृतिप्रधान, आसुरभावापन्न, अतिक्रूर, निर्दयी-नरराक्षस ही ऐसे स्थानों के अधिकारी बनाए जाते हैं। ऐसे पुरुषों के अन्तःकरण में दयाभाव का अत्यन्ताभाव है। इन दिव्यभावविरोधी

आसुरप्रकृतिक मनुष्यों के द्वारा संचालित होनें से ही यह स्थान "**असुर्य**" (आदित्य-असुराक्रान्त)-लोक नाम से प्रसिद्ध हैं। जो मन्दभाग्य दुर्भाग्य से एकबार इस स्थान पर आगया, वह इस जीवन में वहां से वापस न लौटसका। इसी अभिप्राय से '**प्रेत्य**' कहा है। प्रकाशाभाव को लक्ष्य से रखकर- "**अन्धेन तमसाऽऽवृताः**" यह कहा गया हैं। कहीं कहीं '**असुर्य्याः**' के स्थान में '**असूर्य्याः**' यह दीर्घान्त पाठ उपलब्ध होता है। इस पक्ष में-'असूर्य्याः' का "प्रकाशरहिताः" यह अर्थ करना चाहिए।

इस अपराध और दण्ड दोनों का सम्बन्ध वाङ्मय स्थूलशरीर के साथ है। इसनें प्रहार किया है- स्थूलशरीर से। अतः न्यायतः इसके शरीर को ही अधिक कष्ट दियाजाता है। श्रुति आदेश करती है कि यदि तुम अपनें समाज एवं राष्ट्र में पूर्णशान्ति चाहते हो तो उक्तगुण वाले हिंसक-दुष्ट पुरुषों की कभी उपेक्षा मत करो। अपि तु समाज को इन के संगदोष से बचानें के लिए तत्काल इन्हें असुर्य- तमसावृत लोक में सदा के लिए नियन्त्रित करदो। वास्तव में श्रुति का आदेश यथार्थ हैं। जो समाज, किंवा जिस समाज के कर्णधार उक्त श्रौतादेश की उपेक्षा करते हैं, वे अपने समाज में अराजकता का बीज वपन करते हुए उसे निर्जीव बनाते हैं। अतः तन्त्रायी राजा को सदा निम्नलिखित आदेश को लक्ष्य में रखते हुए ही राष्ट्र एवं तद्-गर्भित समाज का संचालन करना चाहिए, इसी से समाज एवं राष्ट्र का अभ्युदय है।

१—अदण्डयान् दण्डयन् राजा, दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन् ॥
अयशोमहदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ मनुः ८। १२८॥

२—अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ॥
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ॥ मनुः ८। १२६॥

धर्म्मनीतिपक्ष

१

देवग्राममय-प्राणप्रधान-सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी

॥ आवरण ॥

वाक्तंत्र किंवा आवरणतंत्र का दूसरा विवर्त्त (प्राणविवर्त्त) धर्म्मनीति के साथ सम्बन्ध रखता है। भारतवर्ष के सामाजिक एवं राजनैतिक यच्चयावत् कर्म्म धर्म्मनीति के अन्तर्भूत हैं। आर्य्यावर्त्त की राजनीति धर्म्मनीति का अतिक्रमण नहीं करती। राजनीति स्वरूप राजदण्ड के संचालक स्वयं राजा को भी धर्म्मदण्ड से भय मानते हुए शासन करना पड़ता है। राजनीति राष्ट्र की संचालिका है। धर्म्मनीति राजा की सञ्चालिका है। इस धर्म्मनीति का स्वरूप पूर्व के '**कुर्वन्नेवेह**' इत्यादि मन्त्रभाष्य के धर्म्मनीतिपक्षनिरूपण में विशदरूप से किया जाचुका है। अतः यहां उस के पुनः प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं है।

प्रकृत में उक्त कथन से केवल यही बतलाना है कि अधर्म्मपथ पर आरूढ होनें वाले व्यक्ति का निर्णय राजा द्वारा ही होजाता है, परन्तु कुछ एक अधर्म्म कार्य ऐसे हैं जो राजा के राजदण्ड की सीमा से कोई सम्बंध नहीं रखते। राजा उन का दण्ड देनें में सर्वथा असमर्थ रहता है। उन्हीं परोक्ष अधर्म्म कार्य्यों में से '**आत्मघात**' नाम का एक प्रसिद्ध कर्म्म है। यदि राजा को किसी उपाय से पहिले से ही यह मालूम होजाता है कि "अमुक व्यक्ति आत्मघात (खुदकुशी) करना चाहता है" तो वह दण्डद्वारा उसी समय उसका नियन्त्रण कर देता है। किन्तु विदित न होंने पर न राजा घात रोक सकता, एवं न उस आत्मघाती को दण्ड देसकता। विषपान से, गले में रस्सी बांधकर, कूप-तड़ागादि में कूदकर, ग्रीवा-वक्षस्थल-उदर आदि में शस्त्र प्रहार कर, मकान से कूद कर, ऐवमेव अन्यान्य अवैध उपायों से जो हतबुद्धि (जानबूझ कर)

सहसा आत्महत्या कर लेता है तो ऐसी अवस्था में राजा सर्वथा विवश होजाता है। वह उसे (परोक्षभाव के कारण) कोई दण्ड नहीं देसकता। राजा दण्ड देनें में असमर्थ है इस का यह तात्पर्य्य नहीं है कि वह प्राणी दण्ड से पृथक् रह गया। ऐसे आत्मघाती को क्या दण्ड मिलता है? शरीर छूटनें पर इस का आत्मा किस दशा में पहुंचता है? प्रकृतमन्त्र इसी प्रश्न का समाधान करता है।

"इसलोक को ही परमपुरुषार्थ समझनें वाले जिस मूर्खमनुष्य नें किसी लौकिक साधारण कष्ट से छुटकारा पानें के लिए अपनें आत्मा का शरीर से सम्बन्ध तोड़ दिया है, उसे यह मालूम नहीं है कि मुझे इस कुकर्म के बदले पहिले से भी कहीं अधिक कष्ट का सामना करना पड़ेगा। अपनी आर्षदृष्टि से अतीत-अनागत-परोक्षभावों को प्रत्यक्षवत् देखनें वाले आर्यमहर्षियों का कहना है कि जो मनुष्य आत्मघात करता है, उस का आत्मा शरीर से पृथक् होता हुआ सदा के लिए उस असुर्य लोक में चला जाता है, जहां पर कि सूर्य्यप्रकाश के अत्यन्ताभाव के कारण सदा घोर अन्धकार व्याप्त रहता है।"

सूर्य्यपिण्ड में से (सूर्य्यपिण्ड के केन्द्र से) निकल कर सप्तवर्णात्मिका ज्योतिर्म्मयी सहस्ररश्मिएं चारों ओर व्याप्त होतीं हुई एक प्रकाश मण्डल वनाडालतीं हैं। यही सौराग्निमण्डल (रश्मिमण्डल) संवत्सर नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य्यपिण्ड से निकलनें वाले सौरअग्नि की घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं के कारण ९-१५-२१- इन स्तोम भेदों से त्रैलोक्य का विकास होता है। सौरसंवत्सराग्नि ही छन्द सम्बन्ध से त्रैलोक्यरूप में परिणत होता है, इसी अभिप्राय से-"**इमऽउ लोकाः संवत्सरः**" (श. ८।२।१।१७।) यह कहा जाता है। संवत्सर की अन्तिम सीमा बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है। बृहत्साम पर्य्यन्त लोकसत्ता व्याप्त है, यहीं तक सौरप्रकाश है। इस के वाहर लोक का अभाव है, अत एव वह वहिःस्थान अलोक है। बृहत्साम का अन्तिम पृष्ठ (जो कि पृष्ठ रैवतपृष्ठ नाम से प्रसिद्ध है) लोक और

अलोक का विभाजक है। अत एव यह पृष्ठ लोकालोक नाम से व्यवहृत होता है। रैवतपृष्ठ का उत्तर का भाग (सौरप्रकाश से विरुद्ध दिक् में रहने वाला भाग) ही लोकालोक है। कारण अलोक का सम्बन्ध उसी भाग के साथ होता है। इस लोकालोक भाग से आरम्भ कर आगे सर्वत्र घोर-घोरतम अन्धकार व्याप्त है। अपनें आत्मा से वैर रखनें वाला तत्प्रभव सौर-प्रकाश से वैर रखता है। इसी विरोधभावना के प्रभाव से इस आत्मघाती का आत्मा सौर संवत्सररूप प्रकाश मण्डल में न जाकर सीधा उस अन्धतम से आवृत असुय लोकालोक स्थान में जाता है। आत्मा साधारण तम से व्याकुल होपड़ता है। वह जब अन्धतम में चला जाय तो उस के कष्ट का क्या ठिकाना है। वैज्ञानिकों नें इस स्थान को कष्ट की चरम सीमा मानी है।

आत्महत्या से अतिरिक्त और और भी घोरतर पाप हैं, उन से कभी न कभी छुटकारा होजाता है। कारण इतर पापियों का आत्मा लोकसीमा से बाहर नहीं जाता। ऐसी अवस्था में पृथिवीलोकस्थ स्वांशभूत पुत्रपौत्रादि के द्वारा श्रद्धापूर्वक किए गए--गयाश्राद्ध, गौदान आदि के प्रभाव से लोकस्थ प्रेतात्मा को (उसी श्रद्धा सूत्रद्वारा) पुण्यातिशय मिलता रहता है। इस सम्बन्ध के प्रभाव से शनैः शनैः प्रेतात्मा का दोषमार्जन होता रहता है। इस धाराक्रम से कालन्तर में वह सद्गति को प्राप्त होजाता है, परन्तु आत्मघाती लोकसीमा से बाहर चला जाता है, अतः इसके उद्धार का मार्ग सदा के लिए(प्रलयपर्य्यन्त) रुक जाता है। सृष्टिक्रम समाप्त होजानें पर जब प्रतिसंचर क्रिया का आरम्भ होता है तभी उस का उद्धार होता है। भला कौन बुद्धिमान जानबूझ कर इस महादुस्तर–असह्य–महाभयानक कष्ट की इच्छा करेगा। इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"चाहे तुह्मारे ऊपर घोर से घोर आपत्तिए आक्रमण करैं, चाहे उन आपत्तियों के आक्रमण से प्राणोत्क्रमण ही होजाय, परन्तु इन आपत्तियों से घबराकर भूलकर भी आत्मघात का विचार न करना। सावधान! संसार के बड़े से बड़ कष्ट, घोर से घोर

पाप से तुह्मारा कभी न कभी छुटकारा होसकता है, किन्तु आत्महत्या से जो असुय-लोकरूप असह्यदण्ड तुम को मिलेगा, उस के प्रतिशोध का कोई उपाय नही है"

इस पद्य में 'प्रेत्य' का–'शरीरं परित्यज्य' यह अर्थ है। 'असुर्याः' का 'असुप्राणमयाः' यह अर्थ है। संवत्सर के चारों ओर वारुण समुद्र है। आप्यप्राण को ही असुर कहा जाता है। पानी में रहनें वाला अधिदेवता वरुण है। सौर देवता इन्द्र है। इन्द्र वरुण में घोर विरोध है। अत एव लोकालोकरूप वरुणमण्डल में सौरप्रकाश नहीं जाता।'असूर्याः'पद्य में'सौरप्रकाशरहिताः' यह अर्थ समझना चाहिए। अन्तःकरणरूप सूक्ष्मशरीर के विचारदोष से आत्मघात में प्रवृत्ति-होती है, अतः इस पाप का फल भी इसी को भोगना पड़ता है। यह दण्ड–प्रथमदण्ड से कहीं भयङ्कर है। आत्मघाती का आत्मा सदा आवृत होजाता है, इस का कभी उद्धार संभव नहीं है, अतः ऐसा संकल्प भी नहीं करना चाहिए।

——०:*:०——

विज्ञाननीतिपक्ष

३

आत्मग्राममय-मनप्रधान-कारणशरीरसम्बन्धी

॥ आवरण ॥

विज्ञानपक्ष ही प्रधानपक्ष है। इस पक्ष के अनुसार संसार में रहनें वाले (जड़—चेतनात्मक) सभी प्राणी आत्मघाती हैं। हमें चर्म्मचक्षु से जो कुछ पदार्थ दिखलाई दे रहे हैं वे जड़ हों, अथवा चेतन (कारण आत्मतत्व सव में विद्यमान है) इन में से कोई भी पदार्थ आत्मघात के पाप से नहीं वचा है। वस्तुतस्तु आत्मा अपनें प्रातिस्विकरूप से अजर-अमृत-अभय है। ऐसी अवस्था में इस पक्ष में मरना एकमात्र आत्मतिरोभाव से सम्वन्ध रखता है। राजनीति एवं धर्म्मनीति पक्ष में आत्मघात का तात्पर्य्य शरीर और आत्मा के सम्वन्ध विच्छेद से है, एवं इस विज्ञानपक्ष में आत्मा का स्वज्योतिर्म्मय स्वरूप से आवृत होजाना ही आत्मघात है। किन कारणों से आत्मा आवृत होजाता है? आवरण से क्या हानि है? आवरण कैसे हटाया जासकता है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए निम्नलिखित आत्मप्रकरण पर दृष्टि डालना आवश्यक होगा।

प्रकृत में ज्ञानकर्म्मात्मिक अव्ययात्मा की कलाओं का निरूपण चल रहा है। यह अव्ययात्मा स्वस्वरूप से सर्वथा ज्योतिर्म्मय है। ज्योतिर्घन यही अव्ययात्मा प्रकृति (क्षरविशिष्ट अक्षर) की कृपा से विश्वरूप में परिणत होरहा है। प्रकृति की कृपा से अव्यय का ही एकांश विश्व वनता है। विश्वनिर्म्माण होनें के अनन्तर विश्व में प्रविष्ट होता हुआ वही अव्ययात्मतत्व विश्वरूप प्रजा का ईश वनता हुआ "प्रजापति" नाम से प्रसिद्ध होजाता है। तत्तदुपाधिभेदों के कारण विश्वावच्छिन्न उक्त प्रजापति के **परमप्रजापति, प्रतिमाप्रजापति, देवसत्य-**

प्रजापति, शिपिविष्टप्रजापति यह चार विवर्त्त होजाते हैं। ब्रह्म (आत्मा) की इसी चतुष्पाद् विभूति को लक्ष्य में रखकर " **चतुष्टयं वा इदं सर्वम्** " यह कहा जाता है।

शिपिविष्ट–देव–प्रतिमा–प्रजापतियों को अपनें गर्भ में रखनें वाला, विश्व में सर्वप्रथम स्वयम्भूरूप से व्यक्त होनें वाला त्तराक्षरविशिष्ट अव्ययमूर्त्ति षोडशीप्रजापति " परमप्रजापति " है। इस का प्रथम एवं विश्वव्यापक विकास स्वयम्भू है—अतः स्वयम्भू को ही परमप्रजापति मान लिया जाता है। परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड यह चार प्रतिमाप्रजापति हैं। (देखिए० शत० ब्रा० ११ कां० ११६)। जैसा स्वरूप स्वयम्भू प्रजापति का है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम परमेष्ठी आदि चारों प्रजापतियों में हैं। अत एव इन्हें प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यवहृत करना उचित होता है। तीसरा देवसत्य प्रजापति है। यह साक्षी और भोक्ता भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों प्रजापतियों का स्वरूप भूपिण्ड से संलग्न प्राणमयी अमृता पृथिवी से है। प्राणमयी अमृता पृथिवी में त्रिवृत् (९), पञ्चदश(१५), एकविंश(२१)स्तोमभेद से त्रैलोक्य का विकास होता है। इसी त्रैलोक्य को स्तोमसम्बन्ध से " स्तौम्यत्रिलोकी " कहा जाता है। इन तीनों स्तोमों में क्रमशः–**विराडग्नि, हिरण्यगर्भ वायु, सर्वज्ञ इन्द्र** अग्नि की यह तीन अवस्थाएं प्रतिष्ठित हैं। यह तीनों तत्त्व देवतारूप हैं। साथ ही में तीनों देवता एक ही सत्याग्नि का विकास है, अत एव इन तीनों की समष्टि को " **देवसत्यप्रजापति** " कहा जाता है। त्रैलोक्य व्याप्त यही प्रजापति " **सर्वभूतान्तरात्मा** " " **साक्षी सुपर्ण** " आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। विज्ञानभाषा में यही देवसत्य ईश्वरप्रजापति कहलाता है। जीव नाम का देवसत्य-प्रजापति, एवं शिपिविष्टप्रजापति दोनों इस साक्षीप्रजापति के उदर में भुक्त रहते हैं। वह शास्ता है, यह दोनों शासित हैं। वह साक्षी है, यह भोक्ता हैं। वह सर्वभूतान्तरात्मा है, यह स्वभूतान्तरात्मा हैं। वह त्रैलोक्यव्याप्त है, यह शरीरव्याप्त हैं। जीव एवं शिपिविष्ट में से थोड़ी देर के लिए शिपिविष्ट को छोड़ दीजिए, एवं जीवप्रजापति का विचार करिए। साक्षी देवसत्य के विराड्भाग से वैश्वानर अग्नि का विकास होता है, हिरण्यगर्भभाग से तैजस वायु का

जन्म होता है, एवं सर्वज्ञभाग से प्राज्ञ इन्द्र का जन्म होता है। इस प्रकार ईश्वरीय देवसत्य से वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञ की समष्टिरूप जीवसत्य का विकास होता है। इसी को " मघ्वद " " भोक्ता सुपर्ण " आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। इस जीवप्रजापति के १--वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, २--वैश्वानर--तैजस, भेद से दो विभाग होजाते हैं। प्रथमविभाग ससंज्ञ जीव कहलाते हैं, दूसरा विभाग अन्तःसंज्ञ जीव कहलाते हैं। वै० तै० प्रा० मूर्त्ति ससंज्ञ जीव कृमि, कीट, पक्षि, पशु, मनुष्य, अष्टविधदेवयोनि, इन ६ भागों में विभक्त हैं। आगे जाकर इन ६ ओं के भी अवान्तर अनेक विभाग होजाते हैं। वै० तै० मूर्त्ति अन्तःसंज्ञ जीव स्तम्ब से आरम्भ कर सम्पूर्ण ओषधि--वनस्पतियों से सम्बन्ध रखते हैं।

चौथा शिपिविष्ट प्रजापति है। जिन पदार्थों में केवल वैश्वानर अग्नि विकसित रहता है, लोकभाषा में जिन्हें अचेतन--(जड़) कहा जाता है, वही सारा पदार्थप्रपञ्च शिपिविष्टप्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। जीवसंस्थाक्रम में इसी को असंज्ञ जीव कहा जाता है। धातु--उपधातु-रस--उपरस--विष--उपविष आदि रसवर्ग, पुस्तक--कलम--दावात--मेज--कुर्सी--आदि भूतभौतिक-वर्ग सब का शिपिविष्टकोटि में ही अन्तर्भाव है।

सांख्यदर्शन के अनुसार उपरोक्त प्रजापतिसर्ग १४ भागों में विभक्त है। ससंज्ञजीवप्रजापति के ६ विभागों में से देवयोनिएं किंवा देवसर्ग राक्षस- पिशाच-यक्ष-गंधर्व-पितर-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म भेद से आठ भागों में विभक्त हैं। इस अष्टविध देवसर्ग को "सत्वविशालसर्ग" कहा जाता है। कृमि-कीट-पक्षि-पशु-मनुष्य-इन पांचों ससंज्ञजीवों की समष्टि को "रजोविशाल-सर्ग" माना जाता है। अन्तःसंज्ञ-असंज्ञसर्ग को 'तमोविशालसर्ग' माना जाता है। सांख्य में शिपिविष्ट का तमोविशालसर्ग में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। विज्ञानशास्त्र ने शिपिविष्ट विभाग को स्वतंत्र मान कर १५ विभाग माने हैं। इन १५ हों का अधिष्ठाता वही ईश्वरीय देवसत्य है। सम्पूर्ण भूतसर्गों में वह व्याप्त है। तभी तो उस का 'सर्वभूतान्तरात्मा' यह नाम अन्वर्थ बनता है। इस १६ वें ईश्वरीय देवसत्य के सम्बन्ध से सर्गप्रपञ्च षोडशकल बनजाता है।

इसी सगव्याप्ति को लक्ष्य में रख कर "षोडशकलं वा इदं सर्वम्" यह कहा जाता है।

१– परमप्रजापतिः — स्वयम्भूरूपेण व्यक्तः षोडशीपुरुषः
२– प्रतिमाप्रजापतिः — परमेष्ठी–सूर्य्यः–चन्द्रः–पृथिवी
३– देवसत्यप्रजापतिः — अग्नि-वायु-इन्द्रात्मकः
४– शिपिविष्टप्रजापतिः — असंज्ञजीवः (अग्निमयः)
} चतुष्पाद्ब्रह्म

देवसत्यप्रजापतिः —

१– ईश्वरीयदेवसत्यः (विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्तिः)
२– जीवदेवसत्यः (वैश्वानर–तैजस – प्राज्ञमूर्त्तिः)

सर्ग	योनि	वर्ग	
सत्वविशालसर्गः ३	दैवयोनयः	१–ब्राह्मः	
		२–प्राजापत्य	
		३–ऐन्द्रः	वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमयाः संसंज्ञाजीवाः[1] — (अग्नि–वायु–इन्द्रमयाः)
		४ पैत्र्यः	
		५–गान्धर्वाः	
		६–यक्षः	
		७–पिशाचः	
		८–राक्षसः	
रजोविशालसर्गः २	तिर्य्यग्योनयः	९–मनुष्याः	
		१०–पशवः	
		११–पक्षिणः	
		१२–कीटाः	
		१३–कृमयः	
तमोविशालसर्गः १	भूत-योनयः	१४–औषधिवनस्पतयः	वैश्वानर-तैजसमयाः प्राज्ञगर्भिताः-अन्तःसंज्ञजीवाः[2]–(अग्नि-वायुमयाः-इन्द्रगर्भिताः)
	भूतभौतिक-योनयः	१५–शिपिविष्टः (अचेतनवर्गः)	वैश्वानरमयाः-तैजसप्राज्ञगर्भिताः-असंज्ञजीवाः[3]– (अग्निमयाः-वाय्विन्द्रगर्भिताः)

भूतभौतिकसर्गों के सम्बन्ध से विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्ति ईश्वरीय देवसत्यप्रजापति[1] (सर्वभूतान्तरात्मा-साक्षीसुपर्ण) षोडशकल बनजाता है, यह कहा जाचुका है । इस षोडशकल देवसत्यप्रजापति की प्रतिष्ठा षोडशीपुरुष (परात्पर-क्षर-अक्षरानुगृहीत अव्यय पुरुष) है । षोडशीगर्भित परमप्रजापति ही अश्वत्थवृक्ष है । पृथिवी (अमृता पृथिवी-त्रैलोक्यात्मिका रत्नौम्या पृथिवी)-रूप एक शाखापर ईश्वरीय देवसत्यरूप साक्षीसुपर्ण, एवं १५ प्रकार का भूतभौतिकरूप जीवसुपर्ण प्रतिष्ठित है । एक भोक्ता है-दूसरा साक्षी । दोनों उस महाविश्ववृक्ष की एक शाखारूप अमृतापृथिवी के आधारपर प्रतिष्ठित हैं । एक कर्म्म बन्धनमें लिप्त है, दूसरा सतत कर्म्म में रत रहता हुआ भी अलिप्त है। "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋक्सं० ८।४।२८।) के अनुसार यह सारा प्रपञ्च उस एक ही का विवर्त्त है । वही षोडशीपुरुष अक्षर व्यापार से क्षररूपद्वारा सब कुछ बनगया है । जिसे जड़ कहते हैं वह भी वही है, चेतन भी वही है । देव-असुर-ऋषि-पितर गंधर्व-मनुष्य-पशु-पक्षि-कृमि-कीट-वृक्ष-ओषधि-वनस्पति-समुद्र-नद-नदी-लोह-पाषाण-सुवर्ण-रजत-सब कुछ वही है ।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जब षोडशी अव्ययपुरुष अभिन्नरूप है तो उस एक से यह नानाभाव कैसे उत्पन्न होगए ? क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आया करते हैं । मिट्टी के धर्म्म अवश्य ही घट के आरम्भक बनते हैं । जब कारण ब्रह्म एक है तो ऐसी अवस्था में कार्यरूप प्रजासर्ग में नानात्व का उदय कैसे संभव होसकता है ? इस प्रश्नाभास के लिए विद्याकर्म्ममय अव्ययात्मा के कर्म्मभाग को लक्ष्य में रखना पड़ेगा । उस में भी विशेषरूप से (कर्म्मभाग की मन-प्राण-वाक्-इन-तीनों कलाओं में से) वाक्कला को ही प्रधानता देनी पड़ेगी ।

आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्यय विद्यामय है । विद्यामय अव्यय मुक्तिसाक्षी है। मन प्राण-वाङ्मय अव्यय कर्ममय है । यह कर्ममय अव्यय सृष्टिसाक्षी है । प्रकृत में(सृष्टिप्रकरण में) इसी की

१ इस देवसत्यप्रजापति का विशद निरूपण कठविज्ञानभाष्य के अश्वत्थप्रकरण में द्रष्टव्य है।

प्रधानता है। मन ज्ञानशक्तिघन है, प्राण क्रियाशक्तिघन है, वाक् अर्थशक्तिघना है। दूसरे शब्दों में मन ज्ञानघन (ज्ञानमूर्त्ति) है, प्राण क्रियाघन (क्रियामूर्त्ति) है, वाक् बलघना (बलमूर्त्ति) है। मनोरूप ज्ञान, प्राणरूप क्रिया, वाक्रूप बल यह तीनों अव्ययात्मा की स्वाभाविकी शक्तिएं हैं। अव्ययपुरुष शक्तिरूप है, अत एव वह सृष्टिकर्तृत्वभाव से सर्वथा बहिर्भूत है। शक्तिमान् तत्व ही सृष्टि करनें में समर्थ होता है। अक्षर शक्तिमान् है। अव्यक्त एवं पराप्राकृति नाम से प्रसिद्ध अक्षर में अव्यय की उक्त तीनों शक्तियों का समावेश होता है। अव्यय की ज्ञान-शक्ति से अक्षर सर्वज्ञ, क्रियाशक्ति से सर्वशक्तिमान्, बलशक्ति से सर्ववित् बनता हुआ सृष्टिकर्त्ता बनजाता है। अव्यय पुरुष न कर्त्ता है, न कारण है, न कार्य है, अपि तु आलम्बनमात्र है, वह तो केवल शक्तिरूप है। अव्यय के इसी निरुपाधिक स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥"

यद्यपि हमनें पूर्व में अव्यय को कई स्थानों पर 'मनप्राणवाङ्मय' कहा है, परन्तु वस्तुतः वह मनप्राणवाग्रूप है। अक्षरोपाधि को लेकर अव्यय को मन–प्राण–वाङ्मय बतलादिया जाता है। वस्तुतः सृष्टिकर्त्ता अक्षर ही मन-प्राण-वाङ्मय है, यही विश्व का आत्मा है, यही विश्वकर्त्ता विश्वेश है। इस विश्वकर्त्ता अक्षर से (विश्वसाक्षी अव्यय के आधार पर) इसी में रहने वाली ज्ञान क्रिया बल यह तीनों शक्तिएं क्षर की कृपा से विश्वरूप में परिणत होतीं हैं। मन-प्राण-वाङ्-मय अक्षर का मन और प्राण भाग सर्वथा अविकृत रहता है, परन्तु वाक्भाग क्षर के सम्बन्ध से विकृत हो जाता है। मन-प्राण सूक्ष्म एवं अविकृत रहने के कारण आत्म-कोटि में अन्तर्भूत मानलिए जाते हैं। वाक्भाग स्थूल एवं विकृत होनें के कारण विश्वकोटि में समाविष्ट हो जाता है। यही वाक्तत्व आगे जाकर पाञ्चभौतिकसृष्टिक्रम में '**आकाश**' नाम से प्रसिद्ध होता है। आकाशरूप वाक् की विकासभूमि मनप्राणरूप आत्मा ही है।

आकाशरूप वाक् बलरूप है। बल संसर्ग है। बल अनन्त प्रकार के हैं। एक बल दूसरे बल से मिला करता है। बल के इसी संसर्ग को 'चिति' कहा जाता है। इसी चिति को ग्रन्थि-बन्धन सम्बन्ध भी माना जाता है। इस स्वाभाविक चितिसम्बन्ध के कारण यह बलतत्व उत्तरोत्तर घन बनता जाता है। वाक्बल पर अन्य बलों की चिति होती है, अंशरूप से चितिधर्मावच्छिन्न वह वाक्बल स्थूल बनता हुआ वायुरूप में परिणत हो जाता है। और बल-चिति होती है, वायु स्थूल हो जाता है, यही तेजतत्व है। यही तेजतत्व इसी बलचिति के प्रभाव से क्रमशः स्थूल बनता हुआ जल-पृथिवी (मिट्टी) रूप में परिणत होजाता है। इस प्रकार एक ही वाक्तत्व चितिधर्म्मा अपने स्वस्वरूप बल के कारण पांच रूप धारण करलेता है। वाक् की इसी सर्वभूतव्यापकता को लक्ष्य में रखकर 'अथो वागेवेदं सर्वम्' यह कहा जाता है। उपर्युक्त इसी सृष्टि धारा का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है—

> **तस्माद् वा एतस्मादात्मनः (मनप्राणाभ्यां) आकाशः (वाक्) सम्भूतः। अकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी "**

उक्त पांचों भूतों में उत्तर उत्तर का भूतभाग पूर्व पूर्व भूतभाग की अपेक्षा स्थूल है। वाक्तत्व आत्मा का प्रथमावरण था। वही उत्तरोत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले चारों भूतों से घनतम बन जाता है। सृष्टिक्रमानुसार अन्तिम आवरण पृथ्वी है। वाङ्मय भूपिण्ड विकारक्षर-संघ है, इस के भीतर जलरूप विकारक्षरसंघ है, तदन्तर्गत तेजरूप विकारक्षरसंघ है, तेज के गर्भ में बीजरूप से वायुरूप अक्षरसंघ प्रतिष्ठित है; वायु के भीतर वाक्रूप (आकाशरूप) विकारक्षरसंघ आधार बना हुआ है, अक्षर की आधारभूमि अव्यय की वाक है, वाक् में प्राण है, प्राण में मन है, मन में विज्ञान है, सर्वान्तिरतम आनन्द है; यही शुद्धरसरूप आत्म-तत्व है। इस प्रकार वही विशुद्धतम आनन्दघन अव्ययात्मतत्व वाक्बल की क्रमिक चिति से उक्त स्वरूपों से आवृत होता हुआ आज हम साधारण मनुष्यों की दृष्टि से सर्वथा तिरोहित

होरहा है। मिलेगा आत्मतत्त्व इन्हीं भूतों में, परन्तु चर्म्मचक्षु से नहीं, अपि तु विज्ञानदृष्टि से। आत्मतत्त्व की इसी भूतख्याति का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

यह तो हुआ विश्वरचनाक्रम। अब इसी क्रम का उपनय जीवसृष्टि पर कीजिए। भौतिकसृष्टि की तरह जीवसृष्टि में भी उत्तरोत्तर वागबल की वृद्धि होती है, दूसरे शब्दों में उत्तरोत्तर आवरण बढ़ता जाता है। सर्वप्रथम विशुद्ध आत्मावतार स्वयम्भू में होता है। स्वयम्भू से आत्मतत्त्व परमेष्ठी में अवतीर्ण होता है। परमेष्ठी से सूर्य्य में चेतना का आगमन होता है। यहां से सर्वत्र आत्मतत्त्व का प्रसार होता है- जैसा कि "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। सौरजीवभाग ब्राह्म नाम से प्रसिद्ध है। आवरण की वृद्धि होती है। प्राजापत्य सृष्टि होती है, आवरण और बढ़ता है, ऐन्द्रसर्ग होता है। इसप्रकार आवरण के क्रमिक तारतम्य से देवसर्ग पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार आठ भागों में विभक्त होजाता है। तिर्य्यक्सर्ग की अपेक्षा इस अष्टविधदेवयोनिसर्ग में आवरण कम है। अत एव जहां हमारे में ११ इन्द्रिएं हैं—वहां उन में ८ सिद्धिएं, ९ तुष्टिएं—इस प्रकार १७ इन्द्रिएं और हैं। संभूय देवताओं में २८ इन्द्रिएं होजातीं हैं। यही सत्त्वविशाल नाम से प्रसिद्ध जीवसृष्टि का पहिला विभाग है। इन आठों में भी आवरण के तारतम्य से शक्तितारतम्य समझना चाहिए। और अधिक आवरण होता है, मनुष्यसृष्टि होती है। इसी प्रकार आवरण की क्रमिकवृद्धि से आगे जाकर पशु—पक्षि—कृमि—कीट यह चार प्रकार की जीवसृष्टि होती है। इन पांचों का दूसरा विभाग है। आवरण के तारतम्य से ही इन पांचों की ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति का तारतम्य प्रत्यक्ष में देखा जाता है।

आगे जाकर आवरण की और वृद्धि होती है। आत्मज्योति विशेषरूप से आवृत हो जाती है, एवं सब इन्द्रियद्वार अवरुद्ध होजाते हैं; केवल त्वगिन्द्रिय का विकास रहता है। यही औषधि-वनस्पतिरूप अन्तःसंज्ञ नाम का जीवसर्ग है। आज के विज्ञान ने भी वृक्षादि को चेतन

मान लिया है । वैश्वानर अग्नि के साथ साथ वृक्षादि में तैजस वायु की भी प्रधानता है, अत एव यह बढ़नें की शक्ति रखते हैं । आगे जाकर बल के और अधिक आवरण से तैजसात्मा भी अभिभूत होजाता है, केवल वैश्वानर भाग रह जाता है, यही पाषाणादि धातुसृष्टि है । यहां त्वगिन्द्रिय का भी अभाव है, चेतना विनिर्गम के सब द्वार बंद हैं । धातुओं में भी अन्तिम धातु हिरण्य (सोना-चांदी-लोहा आदि सब हिरण्य हैं) है । इन में भी अन्तिम आवरण की मूर्त्ति वज्र (हीरा) है, एक छोर में मन है, दूसरे छोर में वज्र है । जो मनप्राणरूप आत्मा ज्योतिर्मय था, वही केवल वाग्बल की ग्रन्थियों से उत्तरोत्तर वृद्धिगत होनें वाले आवरण से आज वज्ररूप में परिणत होगया है । आत्मा की स्वज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति आज एकान्ततः अभिभूत होचुकी है, यही आत्मघात का प्रत्यक्ष निदर्शन है । यह वागावरण सर्वथा असुर्य (पाप्मा) है, अन्धतम से आक्रान्त है । आत्मस्वरूप को न जाननें वाले, लौकिक वाङ्मय भौतिक द्रव्यों में आसक्ति रखनें वाले एक प्रकार से आत्मघाती हैं, इन्हीं की उपरोक्त दशा होती है । इस प्रकार उक्त विवेचन से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि ब्रह्म-विभाग से आरम्भ कर वज्ररूप शिपिविष्टजीवपर्य्यन्त आवरण का (क्रमिक तारतम्य भेद से) आधिपत्य है । सभी थोड़े बहुत आत्मघाती अवश्य हैं । जीवसंज्ञा धारण करना ही बंधन का द्योतक है । बंधन तमोमय आवरण है, यही आत्मघात है । स्वस्वरूप से आत्मा को आवृत करना ही तो आत्मघात है । इस जीवसृष्टि का अधिष्ठाता ईश्वरीय देवसत्य भी वाक्प्रपञ्च से रहित हो यह बात नहीं है । वह भी वागावरण से निलवेष्टित रहता है, परन्तु यह वागावरण उस पर अपना प्रभुत्व नहीं जमा सकता । रहता हुआ भी वाक्तत्त्व ईश्वरीय ज्योति का अभिभव कैसे नहीं कर सकता ? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई कठश्रुति कहती है:—

यथोदकं* दुर्गे वृष्टं पर्व्वतेषु विधावति ।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥

(कठोपनिषत् ४ वल्ली १४ मं.)

---

* इस विषय का विशद विवेचन कठविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए ।

ईश्वरतन्त्र स्वस्वरूप से विकसित है, वह ज्योतिर्घन है। ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित ब्रह्मसृष्टि से आरम्भ कर धातुसृष्टि पर्य्यन्त सारे जीव आत्मघाती हैं, सब का आत्मा आवृत होरहा है। आप को यह विश्वास करना चाहिए कि जो जीवात्मा किसी समय ब्रह्मकोटि में था वही उत्तरोत्तर की आवरण वृद्धि से मनुष्य बनगया है, वही एक दिन पत्थर बन सकता है, वही आवरण विमोक से ब्रह्मकोटि में प्रविष्ट होता हुआ एक दिन अपने विशुद्ध ईश्वरीयभाव में आता हुआ मुक्त होसकता है। इस आत्मघात का दोष तत्तज्जीवों पर ही अवलम्बित है। **'गहना कर्म्मणो गतिः'** के अनुसार कर्म्मभाग बड़ा दुस्तर है। कर्म्म के यथार्थ स्वरूप को, उस की व्यवस्थाओं को यथावत् समझलेना असंभव नहीं तो संभव भी नहीं है। इसने अपने ही कर्म्मदोष से वागावरण को बढ़ाकर आत्मघात करते हुए उक्त योनि को प्राप्त किया है। आमरणान्त इस का आत्मा आवरणरूप अत एव तमोमय इसी शरीर में बद्ध रहता है। दुर्भाग्यवश यदि इस जन्म में भी यह उपेक्षा करता हुआ कुकर्म्म में प्रवृत्त होजाता है तो इस का आत्मा आगे जाकर और भी अधिक आवृत होजाता है। उस अवस्था में इसे मनुष्ययोनि से भी हीन(निकृष्टतर)पशु-पक्षि-कृमि आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है। यहीं सीमा समाप्त नहीं होजाती, अपितु आवरण वृद्धि से एक दिन यह पाषाणयोनि में भी आसकता है। कृमि-कीट-पाषाणादि आप जितने भी पदार्थ देख रहे हैं, विश्वास कीजिए किसी समय यह देवता थे, आगे जाकर वे ही मनुष्य योनि में आए, वहां से प्रज्ञापराधवश आवरण वृद्धि के कारण बनते हुए आज इस दशा को प्राप्त होगए। कुकर्म्म से आवरण बढ़ा, आत्मघात हुआ; फलस्वरूप तमोमय पाषाणादि योनिएं मिलीं। उपरोक्त जीवयोनियों में एक मात्र मनुष्ययोनि ही ऐसी है, जिस में यदि इच्छा हो तो बन्धन का विमोक होसकता है। ज्ञानप्रधान इसी योनि में आवरण हटाने का प्रयास किया जासकता है। यदि मनुष्यजन्म को निरर्थक कर दिया तो पशु कृमि-आदि योनियों में गए बाद उद्धार का मार्ग सर्वथा बन्द होजाता है। फिर तो प्रतिसंचर-(प्रलय) भाव की ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्यों कि मनुष्ययोनि ही बन्धन-मुक्ति का मुख्य द्वार है,

अत एव मार्ग शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्ययोनि से ही सम्बन्ध रखता है। इस दृष्टि से मनुष्य जन्म को शास्त्रों में बड़ा महत्व दिया है। 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत० २।५।१।१) इत्यादि रूप से स्वयं वेद भगवान् ने भी मनुष्य को ईश्वरप्रजापति के अतिसन्निकट माना है। आर्यावर्त्तवत्त पुराणने तो यहां तक कहडाला है कि- "मृत्युलोक में मनुष्ययोनि में जन्म धारण करने के लिए स्वर्गस्थ देवता भी लालायित रहते हैं"।

कर्म्मप्रपञ्च ही हीन एवं उत्कृष्ट योनियों का कारण बनता है, यह कहा जाचुका है। कर्म ही (निवृत्तिकर्म) क्रमशः वाग्बल की ग्रन्थियों का विमोक करता हुआ आत्मा को बातदोष से बचाता हुआ इसे अमृर्यलोक से निष्कण्टक निकाल लेजाता है; एवं कर्म्म ही (प्रवृत्तिकर्म्म) वाग्बल की ग्रन्थियों को उत्तरोत्तर दृढ़ करता हुआ आत्मवात का कारण बनता हुआ इसे सदाकेलिए अमृर्यलोक में प्रतिष्ठित कर देता है। बंधन-मुक्तिसाधक कर्म्म के इसी विचित्र स्वरूप का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है —

"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते-तेऽर्चिषम-भि संभवन्ति। अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षं-षड्-उदङ्ङेति मासान्। मासेभ्यः संवत्सरं-आदित्यं-चन्द्रमसं-विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयति। एष देवयानः पन्थाः। अथ य इमे ग्रामे-इष्टापूर्त्तेदत्तमित्युपासते (ते) पितृलोकम्। तस्मिन् यावत् संवत्सरमु-षित्वा-अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते-यथेतमाकाशं-आकाशाद् वायुं-वायु-र्भूत्वा मेघो भवति। मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा-ओषधिवन-स्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्न-मत्ति-यो रेतः सिञ्चन्ति, तद्भूय एव भवति। तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्-ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिय-योनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते

कपूयां योनिमापद्यरन्-श्वयोनिं वा, शूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा, ।-अथैतयोः पथोर्न कतरेण च-तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि-भवन्ति – जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं - स्थानम् । तेनासौ लोको न सम्पूर्यते । तदेष श्लोकः--

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ।
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति ॥"

(छां. उ. ५–१०–१–२–३–०)

"अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्"

(बृ. आ. ६ । २ ।) ।

प्रकृत औपनिषत् मन्त्र वागावरणरूप इसी उक्त अर्थ का (विज्ञानपक्ष में) स्पष्टीकरण करता है । यद्यपि पूर्व प्रतिपादनानुसार प्रकृतमन्त्र को भूतसृष्टिमात्रपरक माना जासकता है, तथापि शास्त्रोपदेश का अधिकार एक मात्र मनुष्य को ही है, अतः उक्त मन्त्र का प्रधान सम्बन्ध मनुष्यसर्ग के साथ मानना ही उचित होता है । साथ ही में यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि अष्टविध देवयोनिएं–एवं कृमि कीटादि स्वतन्त्र कर्म करनें में असमर्थ हैं । उन का बंध-विमोक प्रतिसंचर क्रम से सम्बन्ध रखता है । मनुष्ययोनि ही एक ऐसी योनि है जो अपनी इच्छा से बंध-विमोक दोनों का अधिकारी बन सकती है । ऐसी अवस्था में आवरणमूलक दोष का उपालम्भभाजन मनुष्यसर्ग ही बनसकता है ।

मायावच्छेद से अवच्छिन्न औपपातिक आत्मा- शुक्रशोणित के मिथुनभाव में प्रविष्ट होता हुआ कर्म्मानुसार जाति-आयु-भोग का अधिष्ठाता बनता-हुआ मनुष्यकोटि में अवतीर्ण होता है । माया इस का पहिला आवरण है । मायापुर में आगेजाकर स्थूल-सूक्ष्म-कारण इन तीन शरीरपुरों का उदय होता है । इस प्रकार माया-शरीरत्रयी से जीवात्मा आवृत रहता है । आगे जाकर मनुष्य प्रज्ञापराध से अपनें वाग्भाग को बढ़ाकर तद्द्वारा-वाङ्मय भौतिक (सांसारिक)

द्रव्यों में आसक्ति रखता हुआ, आसक्तिमूलक वासनासंस्काररूप वाङ्मय आवरण और बढ़ा लेता है। इन सब वाङ्मय आवरणों से वह ज्योतिर्म्मय चिदंश सर्वथा आवृत होजाता है। इन सब आवरणों की मूलजननी वही माया है। इसी आधार पर-**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः"** यह कहा जाता है।

माया- शरीरत्रयी- भावनावासनासंस्कार यह सब सामग्रिएं आत्मज्योति को आवृत करनें वाले 'पाप्मा' हैं। जहां दिव्यभाव आत्मा को विकासित करते हैं, वहां यह अदिव्य अत एव असुर प्रधान साधन आत्मा को कलुषित कर डालते हैं। अत एव उक्त आवरणसमष्टि को हम अवश्य ही आत्मा का 'असुर्य' लोक कह सकते हैं। वासनासंस्कारावच्छिन्न शरीरपुरत्रयी ही असुर्य नाम के लोक हैं। प्रतिशत ९९ मनुष्य कुकर्म्मरूप इष्टकाचिति से इस असुर्य दुर्ग को दिन दिन दृढ़ ही कर रहे हैं, यही तो दैनिक आत्मघात है। ऐसे आत्मघाती इस असुर्य लोक से कभी नहीं निकल सकते। कभी बड़े असुर्य लोक (जन्मकाल में उत्पन्न होनें वाली शरीरत्रयी) में, कभी सूक्ष्म असुर्यलोक (प्रेतयोनि में प्राप्त होनें वाले शरीर) में, दूसरे शब्दों में जन्म-मरण के चक्र में बद्ध रहते हैं। यहां 'प्रेत्य' का अर्थ है— "अपनें व्यापक स्वरूप को छोड़ कर मायामय सीमाभाव से आक्रान्त होकर जन्म-मृत्युमय इस लोक में अवतीर्ण होना"।

यह तो हुई आत्मघातियों की दशा। ठीक इस के विपरीत जो पुरुष निष्कामकर्म्म द्वारा अपनें ऊपर आए हुए वाङ्मय उपरोक्त सम्पूर्ण आवरणों की ग्रन्थिएं छिन्न- भिन्न- करनें में समर्थ होजाते हैं, ऐसे पुरुष पुङ्गवों का आत्मा इसी लोक में, इसी शरीरदशा में बन्धन से विमुक्त होकर ऐश्वर्यभाव में परिणत होजाता है, ऐसे ही महापुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं। वाङ्मय विश्व उस ईश्वरात्मा का शरीर है। परन्तु रहता हुआ भी यह विश्वशरीर जैसे निष्काम-सत्यसंकल्प-आप्तकाम ईश्वरात्मा को आवृत नहीं कर सकता, एवमेव निष्कामकर्म्मयोगी के (लोकसंग्रहबुध्या) सतत सांसारिक कर्म्म में व्याप्त रहते हुए, नित्यशरीरावच्छिन्न

रहते हुए भी सांसारिक प्रपञ्च और क्षुद्रशरीररूपविश्व इस के आत्मप्रकाश पर किसी प्रकार का प्रभुत्व नहीं रख सकते। ऐसे योगी ब्रह्मवेत्ता महर्षि आत्मा को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखनें में पूर्ण समर्थ रहते हैं। उधर अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषादि दोषों से नित्य आक्रान्त, अत एव असत्कर्मों में सतत प्रवृत्त इन कर्मों के द्वारा ही उत्तरोत्तर आवरण को दृढ़मूल बनानें वाले नराधम कामनामय विषयास्त्रों से आत्मघात करते हुए, इस महापातक के फलरूप असुर्यलोक (शरीरबंधन—तत्सम्बन्धी क्लेशादिरूप) में बद्ध रहकर कष्ट भोगा करतें हैं।

आत्मघात की उपर्युक्त मीमांसा से यह भी सिद्ध होजाता है कि निष्काम कर्मयोगियों को छोड़कर शेष सभी मनुष्य आत्मघाती हैं। इस आवरण का प्रधानरूप से कारणशरीर के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि इस आवरण से कारणशरीरावच्छिन्न आत्मा का अभिभव होता है। श्रुति आदेश करती है कि यदि तुम असुर्यलोकरूप सांसारिक एवं शारीरिक कष्टों से बचना चाहते हो तो तुम्हें आत्मस्वरूपविनाशक काम्य कर्मों का सर्वथा परित्याग करदेना चाहिए। आवरण-रूप वाङ्मय विषयों के साथ आसक्ति को छोड़ो। ऐसा न करना जान बूझ कर आत्मघात करना है।

"हम अव्ययात्मा के किस रूपसे संसार में दर्शन करें? कैसे आत्मासाक्षात्कार हो? इस जिज्ञासा को शान्तकरनें के लिए ही प्रकृतमन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। वह विश्वातीत तत्व अपनी चराचर प्रकृति के समन्वय से अपने वाग्भाग से अर्थ (पदार्थ) रूपमें परिणत होकर सर्वत्र व्याप्त होरहा है। "भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः" (केन०) यह मन्त्र भाग आत्मा की इसी भूतव्याप्ति का समर्थन करता है। जिन पदार्थों का आप चर्मचक्षु से साक्षात्कार कर रहे हैं, वह सारा द्रव्य प्रपञ्च आत्मा के वाक्भाग का ही विवर्त्त है। पदार्थ का पदार्थपना आत्मा के वाक्भागपर ही निर्भर है। वह विश्वेश अपने वाग् भाग से उत्पन्न, अत एव वाङ्मय पदार्थों में नित्य संसक्त रहता हुआ भी निष्कामभावना के प्रभाव से इन में बद्ध नहीं होता। बस जिसदिन

उस के वाक् भाग के (आवरणतन्त्र के) वास्तविक स्वरूप को पहिचान कर आप वाङ्मय विषयों के साथ आसक्ति छोड़कर कर्म्मयोगानुष्ठान में प्रवृत्त होजायंगे, उसदिन नित्यसम्बद्ध रहते हुए भी विषय आत्मा पर कोई प्रभाव न डाल सकेंगे। उस दिन आप अपनें आपको अमृतसंपत्ति से युक्त देखगे" यही मन्त्र का विज्ञाननीति से सम्बन्ध रखनें वाला तीसरा अर्थ है।

१.— जो नराधम स्वार्थ के वशीभूत होते हुए, अथवा और किसी क्षुद्रकारणवश किसी व्यक्ति का वध कर डालते हैं तो उन्ह यावज्जीवन कारावास का दण्ड मिलता है। } राजनीतिपक्ष

२— जो व्यक्ति सांसारिक कष्टों से घवरा कर विषपानादि अवैध उपायों से अपने आत्मा का घात (खुद कुशी) करलेता है, उस का आत्मा प्रलय पर्यन्त लोकालोक नाम से प्रसिद्ध अन्धकारयुक्त असुर्यस्थान में दुःख पाया करता है। } धमनीतिपक्ष

३— जो व्यक्ति आसक्ति पूर्वक काम्यकर्मों में लिप्त रहता है, उस का आत्मा ज्ञानजनित भावना, एवं कर्मजनित वासना संस्कारों से आवृत होता हुआ अपनें ज्योतिर्मय स्वरूप को नष्ट करता हुआ जन्म–मरण के चक्ररूप असुर्यलोक में प्रतिष्ठित रहता है। } विज्ञाननीतिपक्ष
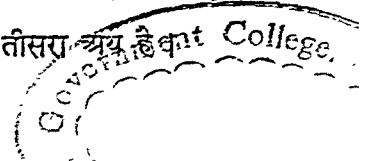
इति-वाङ्मयाव्ययनिरूपणात्मकं-आवरणतन्त्रम्

३

मन-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव की

व्यापकता
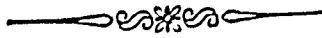
यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि-
तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद् वेद स वेद सर्वम्-
सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

(छां० उपनिषत्)

" त्रिवृद्वा इदं सर्वम् "

॥ श्रीः ॥

स्थूलारुन्धतिन्याय को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् नें मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय को प्रधानता दी है। तीनों कलाओं का क्रमशः तीन मन्त्रों द्वारा निरूपण हुआ है। पृष्ठ सं २३ से आरम्भकर ३६ पर्य्यन्त त्रिवृद्भाव का निरूपण किया गया है। त्रिवृद्भाव का प्रतिपादन करते हुए वहां बतलाया गया है कि मन-प्राण-वाक् तीनों कलाओं में से प्रत्येक कला मन-प्राण-वाङ्मयी है। इसी त्रिवृद्भाव के कारण उक्त तीनों मंत्रों में से प्रत्येक के तीन तीन अर्थ होजाते हैं। आत्मनिरूपण प्रकरण समाप्त होगया है, अब इस सम्बन्ध में केवल एक प्रश्न बच जाता है। "शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह-तदस्माकं प्रमाणम्" यह सर्वविदित सिद्धान्त है। अब तक मन-प्रण-वाक् के त्रिवृद्भाव के सम्बन्ध में केवल युक्तिवाद का आश्रय लिया है। यद्यपि पूर्वप्रतिपादित "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यादि छान्दोग्यप्रमाण परम्परया त्रिवृद्भाव का समर्थक बनजाता है, तथापि साक्षात्रूप से त्रिवृद्भाव का समर्थन उक्त श्रुति से नहीं होता। प्रमाणसम्बन्धिनी इसी विप्रतिपत्ति को दूर करनें के लिए संक्षेप से त्रिवृद्भाव के समर्थक कुछ एक श्रौतप्रमाणों का दिग्दर्शन करा के इस पुरुषात्माधिकरण को समाप्त किया जाता है।

आनन्दविज्ञानघनमनोमयप्राणगर्भितावाक् सृष्टि का मूलाधार है, जैसा कि माण्डूक्यादि में‡ बतलाया गया है। इस पञ्चकल वाक्प्रधान आत्मतत्त्व से प्रकृति द्वारा पञ्चपर्वासृष्टि का विकास होता है। अवान्तर सब क्षुद्रसृष्टियों का इन्हीं पांच पर्वों में अन्तर्भाव होजाता है, जैसा कि आगे के मन्त्रभाष्यों में स्पष्ट होजायगा। अव्ययात्मा का आनन्द-विज्ञानभाग सृष्टि में सहकारी रहता है, एवं मन-प्राण-वाक् तीनों कलाएं, दूसरे शब्दों में मनप्राणवाङ्मय अव्यय प्रधान रहता है। अत एव इस त्रिकल अव्यय को सृष्टिसाक्षी कहा जाता है। यही कारण है कि मन-प्राण-वाक् प्रधान अव्ययात्मा से होने वाली सृष्टि के पांचों पर्वों में (प्रत्येक में) रूपान्तर से मन-प्राण-वाक् का ही विकास उपलब्ध होता है। सृष्टि के उक्त पांचों पर्व स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र-

---

‡ माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य-प्राप्तिस्थान-"श्रीबालचन्द्र प्रेस जयपुर" मूल्य डाकव्ययसहित ॥=)

मा, पृथिवी इन नामों से प्रसिद्ध हैं, यह विज्ञानप्रेमियों की दृष्टि से तिरोहित नहीं है। इन पांचों में क्रमशः वाक्-प्राण-मन-प्राण-वाक्-इस क्रम से अव्यय कलाओं की प्रधानता है।

उक्त स्वयम्भू आदि विश्व के पांचों पर्वों की समष्टि "**पञ्चब्रह्म**" एवं "**पंञ्चप्रकृति**" नाम से प्रसिद्ध है। इसी ब्रह्मपुर में पूर्वोक्त आन्दविज्ञानगर्भित मन-प्राण-वाङ्मय अव्ययपुरुष प्रतिष्ठित रहता है। स्वयम्भू "**प्राणप्रकृतिक**" है, परमेष्ठी "**अप्प्रकृतिक**" है, सूर्य "**वाक्प्रकृतिक**" है, चन्द्रमा "**अन्नप्रकृतिक**" है, पृथवीपिण्ड "**अन्नादप्रकृतिक**" है। प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू में आत्मा की "**वाक्कला**" का विकास है, शेष कलाएं अन्तर्लीन हैं। एवमेव अप्मूर्त्ति परमेष्ठी में "**प्राणकला**" का, वाङ्मूर्ति सूर्य में "**मनोकला**" का, अन्नमूर्ति चन्द्रमा में '**प्राणकला**' का, अन्नादमूर्ति भूपिण्ड में '**वाक्कला**' का विकास है। इस क्रम से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि स्वयम्भू प्रकृति की अपेक्षा से प्राणमय है, आत्मापेक्षाया वाङ्मय है। यही क्रम शेष चारों पर्वों में समझना चाहिए, जैसा कि निम्नलिखित कोष्टक से स्पष्ट हो जाता है——

	आत्मापेक्षया	प्रकृत्यपेक्षया	विश्वपर्व
१	→→——→ वाङ्मयः	→→——→ प्राणमयः	स्वयम्भूः
२	→→——→ प्राणमयः	→→——→ आपोमयः	परमेष्ठी
३	→→——→ मनोमयः	→→——→ वाङ्मयः	सूर्य्यः
४	→→——→ प्राणयमः	→→——→ अन्नमयः	चन्द्रमाः
५	→→——→ वाङ्मयी	→→——→ अन्नादमयी	पृथिवी

स्वयम्भू वाङ्मय है, इस का यह तात्पर्य्य नहीं है कि इस में प्राण और मन का अभाव है। अपि तु प्राण-मन गौण है-एवं वाक्प्रधानतत्त्व है, यही तात्पर्य्य है। यही तात्पर्य्य शेष चारों पर्वों के साथ सम्बद्ध है। इस का कारण वही पूर्वप्रतिपादित त्रिवृद्भाव है। विश्व के पांचों-पर्व (प्रत्येक) मन-प्राण-वाङ्मय हैं। आत्मा की इन तीनों कलाओं का विकास मनोतारूप में होता है।

सर्वप्रथम स्वयम्भू को ही लीजिए। 'वेद-सूत्र-नियति" भेद से स्वयम्भू के तीन मनोता मानें जाते हैं। इन में से वेद वाक्प्रधान है, सूत्र प्राणप्रधान है, नियति मनप्रधान है। इसी कलाविभाग को लक्ष्य में रख कर निम्नलिखित श्रौतप्रमाण हमारे सामनें आते हैं—

१-प्राणमूर्त्तिः-स्वयम्भूः ⟶ वाक्प्रधानः

१ वाक् —
- १—"वाग् वै ब्रह्म"– (शत. २।१।४।१०।)
- २—"वाग् वै मन्त्रः"– (शत. ६।४।१।७)
- ३—"ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेवविद्याम्" (शत. ६।१।१।६।·)

— **१ वेदाः सत्यम्**

२ प्राणः —
- १—"वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रम्"– (शत. १४।..)
- २—"यः स प्राणोऽयमेव वायुर्योऽयं पवते" (शत. १०।३।३।७।)

— **२ सूत्रं सत्यम्**

३ मनः —
- १—"मनो हृदयम्"– (शत. ३।८।३।८।)
- २—"कस्मिन्नु इदं मनः प्रतिष्ठितं-हृदये-इति" (शत. १४।६।६।२५।)
- ३—"हृदयमेवान्तर्यामी"–(शत. १४।........।)

— **३ नियतिः सत्यम्**

तदित्थं स्वयम्भुवि—वेद—सूत्र—अन्तर्यामिरूपेण— मन-प्राण-वाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——o:*:o——

दूसरा पर्व आपोमय परमेष्ठी है। आत्मापेक्षया यह प्राणप्रधान है। इस पर्व के स्थितिसंस्थापक मनोता इड़ा-ऊर्क्-भोग नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में इट् (अन्न) वाक्प्रधान है, ऊर्क प्राणप्रधान है, एवं भोग मनप्रधान है। इस प्रकार प्राणतत्त्व के त्रिवृद्भाव से परमेष्ठी में भी आत्मा की तीनों कलाओं की सत्ता सिद्ध होजाती है।

१-अब्मूर्त्तिः-परमेष्ठी →——→ प्राणप्रधानः

१ वाक्-	१—"पशवो वा इड़ा" (शत० १।८।१।२२) २—"पशुर्वा अन्नम्" (शत० ५।१।३।७) ३—"वाग्वै वाजस्य प्रसवः" (तै० ब्रा० १।३।२।५) ४—"वाग्वै हविष्कृत्" (शत० १।१।४।११)	१ इड़ा
२ प्राणः-	१—"ऊर्ग्वै रसः" (शत० ५।१।२।८) २—"ऊर्गिति देवाः" (शत० १०।५।२।२) ३—"प्राणा वै देवाः" (शत० ६।३।१।१५) ४— ,, (ऐ० आ० ७।३२)	२ ऊर्क्
३ मनः-	१ "यो वै मनो विभर्त्ति सोऽन्नं वाजं भरति—तस्मात्-मनो भरद्वाजऋषिः" (शत० ८।१।१।९)	३ भोगाः

तदित्थं-परमेष्ठिमण्डले—इट्—ऊर्क—भोगरूपेण— मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——o:*:o——

तीसरा पर्व वाङ्मय सूर्य है। आत्मापेक्षया यह मन प्रधान है। इस पर्व के स्वरूपसमर्पक मनोता **ज्योति–गौ–आयु** नाम से प्रसिद्ध हैं। ज्योतिर्भागसे ३३ देवताओं का विकास होता है। यही ज्योतितत्त्व वाक्प्रधान है। इसी आत्मवाक् से वषट्कार (वाक्–षट्कार) का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी आत्मवाक् के आधार पर ज्योतिर्मय सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित रहते हैं। अत एव इस वाङ्मय वषट्कार के लिए **'देवपात्रं वाऽएष यद्वषट्कारः'** शत० १।७।२।२३) यह कहा जाता है। गौभाग से सम्पूर्ण भूतों का विकास होता है। तीसरे आयुतत्त्व से सम्पूर्ण प्राणियों के आत्माओं का विकास होता है। इस प्रकार मन के त्रिवृद्भाव से सूर्य्य में तीनों कलाओं की सत्ता सिद्ध होजाती है।

३–वाङ्मूर्त्तिः–सूर्य्यः ३-३-३ ⟶ मनप्रधानः

१ वाक् –	१– "इयं (पृथिवी) वै ज्योतिः" (तां.ब्रा. १६।१।७) २– "अयं (भूलोकः)ज्योतिः" (तां.४।१।७।) ३– "वेदिर्वै पृथिवी" सैवा वाक् (…… ……)	१ ज्योतिः
२ प्राणः–	१– "प्राणो हि गौः" (शत.४।३।४।३।१०)	२ गौः
३ मनः–	१– "असौ लोक आयुः" (ऐ.ब्रा.४।१५।) २– "अन्नम् वा आयुः" शत. (४।२।३।१६।) ३– "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः" (छां.उपनिषत्)	३ आयुः

तदित्थं सूर्ये ज्योतिर्गौरायुरूपेण–मन-प्राण-वाङ्मयाऽव्ययपुरुषभोगः

—०:※:०—

चौथा पर्व अन्नमय चन्द्रमा है। आत्मापेक्षया यह प्राण है। इस पर्व के स्वरूपरक्षक मनोता रेत–श्रद्धा–यश नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में रेततत्त्व वाक्प्रधान है, यशतत्त्व प्राणप्रधान

है, एवं श्रद्धातत्त्व मनप्रधान है। इस प्रकार प्राण के त्रिवृद्भाव से चन्द्रमा में मन-प्राण-वाक् का भोग सिद्ध होजाता है।

४-अन्नमूर्त्तिः-चन्द्रमा → प्राणप्रधानः

१ वाक्-	१- "वायु हि रेतः" (शत.१।५।२।७।) २- "वाग्वै रेतः" (शत.१।७।२।२१।)	१ रेतः
२ प्राणः-	१- "प्राणा वै यशः" (शत.१४।५।२।५।)	२ यशः
३ मनः-	१- "श्रद्धां कामस्य मातरम्" (तै.ब्रा. २।८।८) २- "काममय एवायं मनः" (जै.उ.३।३६।५।)	३ श्रद्धा

तदित्थं चन्द्रमसि—रेत—श्रद्धा—यशरूपेण—
मन-प्राण-वाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——०:*:०——

पांचवा पर्व अन्नादमयी पृथिवी है। आत्मपेक्षया यह वाङ्मय है। इस पर्वके प्रतिष्ठापक मनोता वाक्–गौ–द्यौ इन नामों से प्रसिद्ध हैं। द्यौतत्व मनप्रधान है। इस प्रकार वाक् के त्रिवृद्भाव से पृथिवी में मन-प्राण-वाक् का भोग सिद्ध होजाता है।

५-अन्नादमयी-पृथिवी → वाक्प्रधाना

१ वाक्-	१- "इयं वै (पृथिवी)वाक्"(शत.४।६।९।१६) २- "वागिति (पृथिवी)" (जै.उ.४।२२।११।) ३- "इयंवै वाक्—अदो (ऽन्तरिक्षं)मनः" ("ऐ.ब्रा.५।३३। ४- "वागेवायं लोकः "(शत.४।३।४।३।१०)	१. वाक्

२ प्राणः— { १– "प्राणो हि गौः" (शत.४।३।४।३।१०) } २ गौः

३ मनः— { १– "असौ वै लोकस्तृतीयसवनम् (गौ.उ.४।१८।)
२– "साम वा असौ लोकः" (४।३।५।)
३– "असौ (द्युलोकः) मनः" (ऐ.आ.५।३।३) } ३ द्यौः

तदित्थं पृथिव्यां-वाग्-गौ-द्यौ-रूपेण-मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

———०:*:०———
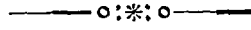
मन-प्राण-वाक् का हमनें त्रिवृद्भाव वतलाया है। त्रिद्भाव का पर्यवसान तीन संख्या के त्रिगुणित करनें से ९ संख्या पर होता है। यदि इन ९ओं भावों का विवेचन किया जाता है तो प्रकृत विषय से पृथक् एक नवीन निवन्ध वन जाता है। अधिक विस्तार न कर केवल एक त्रिवृद्भाव का दिग्दर्शन कराकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है। "स्वयम्भू वाङ्मय है। वाक् के त्रिवृद्भाव से स्वयं स्वयम्भू में रहनें वाली "वाक" वाक्-प्राण-मनोमयी है" इत्यादि त्रिवृद्भाव का निरूपण किया जाचुका है। पांचों पर्वों में रहनें वाली तीनों कलाओं के साथ (प्रत्येक के साथ) पुनः त्रिवृद्भाव का सम्वन्ध होता है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है:—

१–स्वयम्भूविवर्त्तम् ——→ वाग्विवर्त्तम्

तदित्थं—स्वयम्भूमण्डले प्रतिष्ठितानां वाक्प्रधानानां वाक्प्राणमनसां त्रिवृद्भावेन वेद—सूत्र—नियति भावानां त्रिवृद्भावात्, पुनरत्र मन-प्राण-वाङ्मयः पुरुषस्त्रिवृद्भावोपेतः प्रतिष्ठितो द्रष्टव्यः

——:*:०——

१--वेदाः सत्यम् १-२-३ ——→ वाग्विवर्त्तम्

वाक्प्रधानम् (स्वयम्भुप्रधानत्त्वात्)

वाङ्मयी- १—वाक्— वाक्प्रधाना	१—"सा या सा वाक्-ऋक् सा" (जै. उ.१।२५।८ २—"वागित्यृक्" (जै.उ.१।६।२।) ३—"वागेवऽर्ग्वेदः" (शत.१४।४।३।१२।)	१ ऋक्

वाङ्मयः
२—प्राणः—
वाक्प्रधानः

१—"प्राणो वै यजुः । प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते" (शत.१४।८।१४।२।)
२—"प्राण एव यजुः" (शत. १०।३।५।४।)
३—"एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति" श.१०।३।५।२।)

२ यजुः

वाङ्मयं
३—मनः—
वाक्प्रधानम्

१—"साम वा असौ लोकः" (तां. ब्रा. ४।३।५।)
२—"मनो वाव साम्नश्श्रीः" (जै उ. १।३३।२।)

३ साम

तदित्थं वाङ्मय्यां वेदवाचि—ऋक्—यजुः—सामभेदेन—मन-प्राण-वाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——०:*:०——

१—सूत्रं-सत्यम् ——→ प्राणः

वाक्प्रधानम् (स्वयम्भुप्रधानत्वात्)

प्राणमयी
१—वाक्—
वाक्प्रधाना

१—"तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म" (शत२।१।४।१०)
२—"तद्यत् तत्सत्यमसौ स आदित्यः" (शत.६।७।१।२)
३—"सत्यमेष य एष तपति" (शत.१४।१।२।२२।)
४—"युनज्मि वाचं सह सूर्येण"(तां१।२।१।)
५—"एष वै वषट्कारो य एष तपति" (शत.११।२।२।५)

१ सत्यसूत्रम्

प्राणमयः
२—प्राणः—
वाक्प्रधानः

१——"अग्निर्वा ऋतम्" (तै ब्रा.२।१।११।१)
२——"यदिवासौ-ऋतमयम्" (अग्नि (शत: ६।४।४।१०।)
३——"तदग्निर्वै प्राणः" (जै. उ. ४ २२।११।)
४——"प्राणोऽमृतम् । तद्ध्यग्नेरूपम्" (शत १०।२।६।१८।)

— २ ऋतसूत्रम्

प्राणमयं
३—मनः—
वाक्प्रधानम्

१—"मनो वा ऋतम्" (जै. उ. ३।३६।५।)
२—"नेव हि सन्मनो नेवासत्" (शत.१०।५।३।२)
३—"अनन्तं वै मनः" (शत.१४।६।१।११।)
४—"अर्द्धभाग्वै मनः प्राणानाम्" (पब्रा.१।५।)
५—"मनो वै प्रजापतिः" (तै. ब्रा.३।७।१।२।)
६—"रूपं वै प्रजापतिः" (तै.ब्रा.२।२।७।११)
७—"सत्यं हि प्रजापतिः" (शत.४।२।१।१६।)

— ३ ऋत-सत्यसूत्रम्

तदित्थं प्राणमये सूत्रसत्ये ऋत-सत्य-ऋतसत्य-सूत्रभेदेन
मन-प्राण-वाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——०:*:०——

३-नियतिः-सत्यम् ***→ मनः

वाक्प्रधानम् (स्वयम्भुप्रधानत्वात्)

मनोमयी
१—वाक्—
वाक्प्रधाना

१—"स (विष्णुः) इमाँल्लोकान् विचक्रमे, अथो वेदान्, अथो वाचम्" (ऐ. ब्रा. ६।१५।)
२—"वैष्णवं हि हविर्धानम्" (शु.३।५।३।१५।)
३—"वाग्वै हविष्कृत्" (श. १।१।४।११।)
४—"वाग् वै यज्ञः" (श.१।१।१।४।११।)
५—"यज्ञो वै विष्णुः" (ता० ६।६।१०।)
६—"ह्व-इत्येकमक्षरम्" (श. १४।८।४।१।)
७—"एष प्रजापतिर्यत्-हृदयम् (श.१४।८।४।१।)

१. ह्व-इत्येकमक्षरम् (विष्णुः)

मनोमयः
२—प्राणः—
वाक्प्रधानः

१—"हृदयमेवेन्द्रः" (श. १२।६।१।१३।)
२—"प्राण एवेन्द्रः" (श.१२।६।१।१४।)
३—"ततः प्राणोऽजायत, स इन्द्रः" (शत.१४।४।३।१६।)
४—"द-इत्येकमक्षरम्" (शत.१४।८।४।१।)
५—"एष प्रजापतिर्यत्-हृदयम्" (शत.१४।८।४।१।)

२ द-इत्येकमक्षरम् (इन्द्रः)

* नियतिरत्र-अन्तर्यामी । अक्षरप्रजापतिरेवान्तर्यामी । स एष प्रजापतिरक्षरः -स्थिति गति--आगति-भेदेन त्रेधा विभक्तः । स्थितिर्ब्रह्मा !- गतिरिन्द्रः, आगतिर्विष्णुः । ह्व--इति विष्णुमाह । द-इती द्रमाह । यमिति ब्रह्माणमाह । हृदयमेवान्तर्यामी । वदेतन्नियतिः सत्यं विज्ञानत्यमये ।

तदित्थं मनोमये नियतिः— सत्ये "हृ,द,यम्" इति कृत्वा

मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——o:※:o——

१—परमेष्ठिविवर्त्तम् ——→ प्राणविवर्त्तम्

(वाग्विवर्त्तम्)

प्राणमयी
१—वाक्—

१—अन्नम्	———	वाक्	१ इडा
२—गौः	———	प्राणः	
३—श्रद्धा	———	मनः	

तदित्थं परमेष्ठिमण्डले प्रतिष्ठितानां प्राणप्रधानानां वाक्प्राणमनसां त्रिवृद्भावेन इडा--ऊर्क्--भोगभावानां त्रिवृद्भावात्, पुनरत्र मनप्राणवाङ्मयः पुरुषस्त्रिवृद्भावोपेतः प्रतिष्ठितो द्रष्टव्यः

१—इडा ——→ वाग्विवर्त्तम्

प्राणप्रधानम् (परमेष्ठिप्रधानत्वात्)

तदित्थं—वाङ्मये प्राणप्रधाने इडाभागे-अन्न गौ-श्रद्धारूपेण मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

—०:*:०—

१—ऊर्क् ... — प्राणविवर्त्तम्

प्राणप्रधानम् (परमेष्ठिप्रधानत्वात्)

६—"सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत" (श. ६।१।१।८।)

७—"आपो वाऽऊर्जः । अद्भ्योह्यूर्ग् जायते" (शत. ६।४।१।१०।)

८—"वाग्वै सरिरम् (सलिलम्)"

९—"आपो वां इदमग्रे सलिलमेवास" (शत. ११।१।१।६।१)

१०—"यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति ताव-द्वाचा वदति" (शत.५।३।५।३६।)

प्राणमयः २—प्राणः— प्राणप्रधानः

१—"ऊर्ग्विराट्" (तै. १।७।२।२।)

२—"अन्नं विराट्" (कौ. ६।६।)

३—"अन्नं हि प्राणः", शत. ३।८।४।८।)

—२ विराड्

प्राणमयं ३—मनः— प्राणप्रधानम्

१—"ऊर्वै रसः" (शत. ५।१।७।८।)

२—"ऊर्जं दधाथामिति—रसं दधाथामित्येवैतदाह"

३—"अन्नमूर्जम्" (कौ. २८।५।)

४—"अन्नमयं हि सौम्य मनः" (छां. उप.)

—३ रसः

तदित्थं प्राणमये प्राणप्रधाने ऊर्ग्भागे अप्—विराट्—रसरूपेण—

मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

३—भोगाः ...—→ मनोविवर्त्तम्

प्राणप्रधानम् (परमेष्ठिप्रधानत्त्वात्)

मनोमयः
२--प्राणः--
प्राणप्रधानः

१—"घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्)"
(शत. ७।५।१।३)
२—"य एवायम्पवते (वायुः)
(एतद्वैवान्तरिक्षम्)
३—"यः स प्राणोऽयमेव स वायुर्योऽयं पवते
(शत. १०।३।३।७।)

२
घृतम्

तदित्थं मनोमये प्राणप्रधाने भोगभागे-दधि-मधु-घृतरूपेण मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

३-सूर्य्यविवर्त्तम् → मनोविवर्त्तम्

तदित्थं सूर्यमण्डले प्रतिष्ठितानां मनप्रधानानां वाक्प्राणमनसां त्रिवृद्भावेन ज्योतिर्गौरायुभावानां त्रिवृद्भावात् पुनरत्र मनप्राणवाङ्मयः पुरुषस्त्रिवृद्भावेन प्रतिष्ठितो द्रष्टव्यः ।

१-ज्योतिः ——→ वाग्विवर्त्तम्

मनप्रधानम् [सूर्यप्रधानत्वात्]

वाङ्मयी १--वाक्--मनप्रधाना

१—"अग्निर्ज्योतिरग्निः" (यजुः सं०)
२—"अयमग्निर्ज्योतिः" (शत. ६।४।२।२२।)
३—"अयं वै लोको ज्योतिः" (ऐ. ४।१५।)
४—"अग्नेरयं लोकः" (शत.१४।४।३।१२।)
५—"वाग्ज्योतिरयं पुरुषः" (शत.१४।......)
६—"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" (ऐ. उप.)

१ —अग्निः

तदित्थं वाङ्मये मनप्रधाने-ज्योतिर्भागे-अग्नि-विद्युत-आदित्यरूपेण मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

———०:*:०———

१-गौः →—→ प्राणविवर्त्तम्

मनप्रधानम् (सूर्यप्रधानत्वात्)

प्राणमयी १--वाक्-- मनप्रधाना

१.--"दुहिता वसूनाम्" (ऋक्सं ८।८।१५)
२.--"आग्नेयी वै गौः" (श. ७।५।२।१९)
३--"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (श. १०)
४--"अग्निर्वसुभिरुदक्रामत्" (ऐ. ३।२४)
५--"अग्निर्ज्येष्ठा वसवः" (...... ......)
६--"वसूनामेव प्रातःसवनम्" (कौ. १६।१।३०।)
७--"प्राणा वै वसवः" (तै. २।२।५।२)
८--"प्राणो हि गौः" (श. ४।३।४।२४)

— १ वसुदुहिता

प्राणमयः २-प्राणः--- मनप्रधानः

१.--"माता रुद्राणाम्" (ऋक्. २।८।१५)
२--"रौद्री वै गौः" , तै. २।२।५।२)
३--"प्राणो हि गौः" (श- ४।३।४।२५)
४--'रुद्राणां माध्यन्दिनंसवनम्" (कौ. १६।१)

— २ रुद्रमाता

प्राणमयं ३-मनः— मनप्रधानम्

१.--"स्वसादित्यानाम्" (ऋक्. २।८।१५)
२--"गावो वा आदित्याः" (ऐ. ४।१७)
३--"प्राणो हि गौः" (शत. ४।३।४।२५)
४--"सूर्य्यात् सामवेदः" (श. ११।५।८।३)
५"मनो वाव साम्नश्रीः" (जै उ. १।३३।२)

— ३ आदित्यस्वसा

तदित्थं-प्राणमये मनप्रधाने गौभागे-वसु-रुद्र-आदित्यरूपेण मन-प्राण-वाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

—— —o:*:o———

३-आयुः → मनप्रधानम्

मनप्रधानम् (सूर्यत्वात्)

मनोमयी १–वाक्– मनप्रधाना — गायत्री

१—"या वै सा गायत्री आसीत्-इयं वै सा पृथिवी" (शत १।४।१।५)

२—"इयं (पृथिवी) वै गायत्री" (ता.ब्रा.७।३।१२।)

३—"गायत्रेऽस्मिल्लोके गायत्रोऽग्निरध्यूढः" (कौ० १४।३।)

४—"पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त गायत्रेण छन्दसा" (श. १।३।६।१०।)

५—"गायत्रं वै प्रातःसवनम्" (गो. उ.३।१६।)

६—"यो वा अत्राग्निर्गायत्री सा निदानेन" (श. १।८।२।१५।)

७—"अग्निरेव ब्रह्म" (श.१०।४।१।५।)

८—"वाग्वै ब्रह्म" (श. २।१।४।१०।)

९—"आयुर्वा अग्निः" (श.६।७।३।७।)

१०—"चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री" (श.३।५।१।१०)

मनोमयः २–प्राणः– मनप्रधानः — २ त्रिष्टुप्

१—"त्रैष्टुभ इन्द्रः" (कौ. ३।२।)

२—"ऐन्द्रं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्" (गो. उ. ४।४।)

३—"त्रैष्टुभो वै राजन्यः" (ऐ. १।२८।)

४—"त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्" (श. ८।३।४।११।)

५—"यजुषां वायुर्देवतं तदेव ज्योतिस्त्रिष्टुभं छन्दोऽन्तरिक्षस्थानम्" (गो. पू. १।२६।)

६—"चतुश्चत्वारिंशदक्षरा वै त्रिष्टुप्" (श. ८।५।२।११।)

७—"ततः प्राणोऽजायत । स इन्द्रः ।" (शत. १४।४।३।१६।)

८—"मन एवेन्द्रः" (श. १०।४।१।६।)

९—"ऐन्द्रं माध्यन्दिनम्" गो. पू. १।२३।)

१०—"यो वै प्राणः (इन्द्रः) स आयुः" (श. ५।२।४।१०।)

मनोमयं
३—मनः—
मनप्रधानम्

१—"जगतीछन्द आदित्यो देवता" (श. १०।३।२।६।)

२—"जागतो वा एष य एष तपति" (कौ २५।४।७।)

३—"आदित्या जगतीं समभरन्" (ज.उ.१।१८।६)

४—"अष्टाचत्वारिंशदक्षरा वै जगती" (तै. ३।८।८।४।)

५—"जागतं वै तृतीयसवनम्" (ऐ. ६।२।१९)

६—"जगतीछन्दा वै वैश्यः" (तै. ११।६।७।)

७—"आदित्योऽसि दिवि श्रितः" (तै. ३।११।१।११)

८—"प्राण आदित्यः" (ता. १६।१३।१।)

९—"प्राण आयुः" (ऐ. २।३८।)

३
जगती

तदित्थं-मनोमये मनप्रधाने आयुभागे गायत्री-त्रिष्टुप्-जगतीरूपेण मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——०:*:०——

४—चन्द्रविवर्त्तम्———→प्राणमयम्

(वाग्विवर्त्तम्)

प्राणमयी १—वाक्—	१—सोमः	——	वाक्	१ रेतः
	२—नाभानेदिष्ठम्	——	प्राणः	
	३—हिरण्यम्	——	मनः	

(प्राणविवर्त्तम्)

प्राणमयः २—प्राण—	१—सुरा	——	वाक्	२ यशः
	२—पशवः	——	प्राणः	
	३—सोमः	——	मनः	

(मनोविवर्त्तम्)

प्राणमयं ३—मनः—	१—पत्नी	——	वाक्	३ श्रद्धा
	२—आपः	——	प्राणः	
	३—तेजः	——	मनः	

तदित्थं चन्द्रमण्डले प्रतिष्ठितानां प्राणप्रधानानां वाक्प्राणमनसां त्रिवृद्भावाद् रेत—यश— श्रद्धाभावानां त्रिवृद्भावेन पुनरत्र मनप्राणवाङ्मयः पुरुषस्त्रिवृद्भावोपेतः प्रतिष्ठितो द्रष्टव्यः

——०:*:०——

१—रेतः ——→ वाग्विवर्त्तम्

प्राणप्रधानम् (चन्द्रप्रधानत्त्वात्)

वाङ्मयी
१--वाक्--
प्राणप्रधाना

१—"रेतो वै सोमः" (शत. १।९।२।९।)
२—"सोमो रेतोऽदधात्" (तै. १।६।२।२।)
३—"प्राणः सोमः" (शत. ७।३।१।२)
४—"अन्तरिक्षदेवत्यो वै सोमः
५—"वाग्वै विराट्" (शत. ३।५।१।३४)
६—"वैराजः सोमः" (कौ. ९।६।)
७—"वाग् हि रेतः" (श. १।५।२।७)

१
- सोमः

वाङ्मयः
२—प्राणः---
प्राणप्रधानः

१—"रेतो वै नाभानेदिष्टः" (गो. उ. ६।८।)
२—"रेतो हि नाभानेदिष्ठीयम्" (तां२०।९।२)
३—"प्राणो (नाभानेदिष्टयुक्तः-त्वष्टा) हि रेतसां विकर्त्ता" (शत. १३।३।८।१)
४—"स (नाभादेदिष्टः प्राणः) रेतो मिश्रो भवति"
५—"प्राणो रेतः" (ऐ, २।३८।)
६—"वाग् हि रेतः" (१।५।२।७।)

२
- नाभानेदिष्टम्

वाङ्मयं
३--मनः--
प्राणप्रधानम्

१—"रेतो वै हिरण्यम्" (तै. ३।८।२।४।)
२—"सौर्य्यं रेतः" (तै. ३।९।१७।५।)
३—"रेतो वा अन्नम्" (गो. पू. ३।२३।)
४—'अन्नमयं हि मनः (छां.उ.)

३
- हिरण्यम्

५—"रेतो हृदये (श्रितम्)
६—"वायु हि रेतः" (शत. १।५।२।७)

तदित्थं वाङ्मये प्राणप्रधाने रेतोभागे सोम-नामानेदिष्ठ-हिरण्यरूपेण मनप्राणावाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——०:※:०——

३—यशः——→प्राणविवर्त्तम्

प्राणप्रधानम् (चन्द्रप्रधानत्वात्)

प्राणमयी
३—वाक्—
प्राणप्रधाना

१—"यत् सुरा भवति अन्नरूपं तद्यो अन्नस्य रसः
(ऐ.ब्रा.८।८।)
२—"अन्नं सुरा" (तै. १।३।३।५)
३—"यदन्नस्य शमलमासीत् सा सुरा-अभवत्"
(तै. १।३।२।६)
४—"यशो हि सुरा" (श. १२।७।३।१४)
५—"प्राणा वै यशोवीर्य्यम्" (श. १०।६।५।३)
६—"प्राणा वै यशः (श. १४।५।२।५)
७—"अन्नं वै वाजपेयः" (तै. १।३।३।४)
८—"अन्नं वाजस्य प्रसवः" (तै. १।३।२।५)
९—"अन्नं वै श्रीर्विराट्" (गो. पू. ५।४)
१०—"सुरा वै मलमन्नानाम्" (मनुः)

—१ सुरा

प्राणमयः
२--प्राणः--
प्राणप्रधानः

१—"अन्नं सुरा" (तै. १।२।३।५)
२—"पशवो ह्यन्नम्" (श. ३।२।१।१२)
३—"अन्नं वै पशवः" (श. ६।८।२।७)
४—"पशवो यशः" (श. १२।८।३।१)
५—"प्राणाः पशवः" (श. ७।५।२।६)
६—"प्राणा वै यशोवीर्य्यम्" (श. १०।६।५।६)

२ - पशवः

प्राणमयं
३—मनः--
प्राणप्रधानम्

१—"श्रीर्वै सोमः" (श. ४।१।३।६)
२—"यशो वै सोमः" (श. ४।२।४।६)
३—"सोमो वै यशः" (तै. २।२।८।८)
४—"प्राणो वै सोमः" [श. ७।३।१।४५]
५—"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" [श. १।६।४।५]
६—"चन्द्रमा मनसो जातः" [यजुः सं.]

३ - सोमः

तदित्थं प्राणमये प्राणप्रधाने यशोभागे सुरा—पशु—सोमरूपेण—मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

———:०✻०:———

३—श्रद्धा → मनोविवर्त्तम्

प्राणप्रधानम् (चन्द्रप्रधानत्वात्)

१—"श्रियै वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः" (श. १३।२।६।७)

तदित्थं-मनोमय्यां प्राणप्रधानायां श्रद्धायां-पत्नी-अप्-तेजोरूपेण मनप्राणवाङ्मयाऽव्ययपुरुषभोगः ।

—o:*:o—

५—पृथिवीविवर्त्तम् ——→ वाङ्मयम्

[वाग्विवर्त्तम्]

वाङ्मयी १–वाक्–	१—गायत्री	—	वाक्	१ वाक्
	२—त्रिष्टुप्	—	प्राणः	
	३—जगती	—	मनः	

[प्राणविवर्त्तम्]

वाङ्मयः २–प्राणः–	१—वसुदुहिता	—	वाक्	२ गौः
	२—रुद्रमाता	—	प्राणः	
	३—आदित्यस्वसा	—	मनः	

[मनोविवर्त्तम्]

वाङ्मयं ३–मनः–	१—पृथिवी	—	वाक्	३ द्यौः
	२—अन्तरिक्षम्	—	प्राणः	
	३—द्यौः	—	मनः	

पृथिवीमण्डले प्रतिष्ठितानां वाक्प्रधानानां वाक्प्राणमनसां त्रिवृद्भावेन वाक्–गौः–द्यौः–इत्येतेषां भावानां त्रिवृद्भावात्, पुनरत्र मनप्राणवाङ्मयः पुरुषस्त्रिवृद्भावोपेतः प्रतिष्ठितो द्रष्टव्यः

——:०✻०:——

१—वाक् ३-३-३——→ वाग्विवर्त्तम्

वाक्प्रधानम् (पृथिवीप्रधानत्वात्)

वाङ्मयी
१--वाक्--
वाक्प्रधाना

१—"गायत्रीछन्दोऽग्निर्देवता शिरः"
(श. १०।३।२।१)
२—"अग्निर्हि वाव राजन् गायत्रीमुखम्"
(जै. उ. ४।८।२)
३—"गायत्रं वै रथन्तरम्" (तां. ५।१।१५)
४—"इयमेव पृथिवी गायत्री" (ता. ७।३।११)
५—"इयं वै पृथिवी रथन्तरम्" (ऐ. ८।१)
६—वाग्वै रथन्तरम्" (ऐ. ४।२८)
७—वागेवायं पृथिवीलोकः" (श. १४।४।३।११)

— १ गायत्री

वाङ्मयः-
२--प्राण--
वाक्प्रधानः

१—"त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षलोके त्रैष्टुभो वायुरध्यूढः"
(कौ. १४।३)
२—"इन्द्रस्त्रिष्टुप्" (श. ६।६।२।७)
३—मध्यस्थो वा इन्द्रः" (कौ. ५।४)
४—ऐन्द्रो वै माध्यन्दिनः" (गौ. उ. ६।६)
५—"प्राण एवेन्द्रः" (श. १२।६।१।१४)
६—"वागित्यन्तरिक्षम्" (ज.उ.४।२२।११)
७—"वाग्वा इन्द्रः (कौ. २।७)

— २ त्रिष्टुप्

मङ्मयः ३--मनः-- वाक्प्रधानम्	१.--"आदित्यस्त्वा ० जागतेन छन्दसा" (तै.२।७।१५।५) २--"जागतेऽमुष्मिल्लोके जागतोऽसावादित्योऽध्यूढः" (कौ. १४।२।) ३--"असौ जगती" (जै.उ.१।५५।३।) ४--"सा या सा वाक्-असौ स आदित्यः" (श.१०।५।७।३४) ६--"द्यौर्बृहत्" (तां.६६।३६।८।) ७--"मनो वै बृहत्" (ता.७।६।३७।)	३ --जगती

तदित्थं—वाङ्मय्यां वाक्प्रधानायां वाचि गायत्री--त्रिष्टुप्--जगती-रूपेण—मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः ।

२—गौः —→ प्राणविवर्त्तम्

वाक्प्रधानम् (पृथिवी--प्रधानत्त्वात्)

(सूर्यविवर्त्तान्तर्गत--गौविवर्त्तवत्)

——:०※०:——

३--द्यौः —→ मनोविवर्त्तम्

वाक्प्रधानम् (पृथिवी-प्रधानत्त्वात्)

१—"आग्नेयी पृथिवी" (तां.१५।४।८।)
२—"पृथिव्यग्नेः पत्नी" (गो.उ.२।६।)

मनोमयी १—वाक्— वाक्प्रधाना	३—"अग्निगर्भा पृथिवी" (श.१४।६।४।२१।) ४—"त्रिवृदग्निः" (श.६।३।१।२५।) ५—"अन्तरिक्षमस्याग्नौ श्रितम्" (तै.३।११।१।८।) ६—"त्रिष्टुबसौ (द्यौः) (श.१।७।२।१५।) ७—"अग्नेर्वागेवोपनिषत्" (ष.१०……।)	१ —पृथिवी (६)
मनोमयः २—प्राण— वाक्प्रधानः	१—"अन्तरिक्षेणेदं सर्वं पूर्णम्" (तां.१५।१२।५।) २—"अन्तरिक्ष वा अवरं सधस्थम्" (श.८।२।३।२८।) ३—"रजता—अन्तरिक्षम्" (गो.उ.२।७।) ४—"य एवायम्पवते—एतदेवान्तरिक्षम्" (जै.उ.१।२०।२।) ५—"योऽयं पवते स प्राणः"	२ —अन्तरिक्षम् (१५)
मनोमयं ३—मनः— वाक्प्रधानम्	१—"अथ यत् कपालमासीत्—सा द्यौरभवत्" (श.६।१।२।३।) २—"असौ लोको बृहत्" (ऐ.८।२।) ३—"बृहन्मनः" (………)	३ —द्यौः (२१)

तदित्थं मनोमये वाक्प्रधाने द्युभागे पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्युरूपेण—
मनप्राणवाङ्मयाव्ययपुरुषभोगः

——:*:——

प्रकरणोपसंहार

यह है मन—प्राण—वाक् के त्रिवृद्भाव का संक्षिप्त निदर्शन । विश्व के पांच पर्व हैं । पञ्चपर्वा यही विश्व 'सर्वहुतयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है । इसी सर्वहुतरूप विश्वयज्ञ से 'विश्वदानि' यज्ञ उत्पन्न होता है, जैसा कि आगे के प्राकृतात्माधिकरण में स्पष्ट होजायगा । जीवसंस्था के स्वरूप समर्पक जीवयज्ञ के प्रतिष्ठाभूत इस पञ्चपर्वा विश्व में (विश्व के प्रत्येक पर्व में) त्रिवृद्भावापन्न अव्ययपुरुष की मन- प्राण- वाक् यह तीन कलाएं प्रतिष्ठित हैं । पांच और तीन का घनिष्ट सम्बन्ध है । इस तीन पांच का अधिष्ठाता वही विश्वेश्वर प्रजापति है । तीन पांच का विधान विधि का विधान है । यही कारण है कि लोक में यदि कोई मनुष्य मर्यादा से बाहर जाने लगता है तो उसे "तीन पांच मत करो–अब तो वह हमसे तीन पांच करने लगा" इस प्रकार से निन्दनीय बनाया जाता है । इस व्यवहार का तात्पर्य यही है कि तीन पांच करना ईश्वर का धर्म है, जीव तीन पांच करने में सर्वथा असमर्थ है । विश्व के प्रत्येक पदार्थ इस तीन-पांच की विभूति से युक्त हैं । औरों को जाने दीजिए, उदाहरण के लिए मनुष्य को ही लीजिए । मनुष्य में अनेक प्रकार से यह तीन पांच व्यवस्था व्यवस्थित है । ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक पहिला पर्व है, कण्ठ से मूलद्वार पर्यन्त दूसरा पर्व है, मूलद्वार से जान्वस्थि (गोडे) पर्यन्त तीसरा पर्व है, जान्वस्थि से पादमूल तक चौथा पर्व है, पाद पांचवां पर्व है । यह पाङ्क्तयज्ञ* की साक्षात् प्रतिमा है । इन पांचों में प्रत्येक में फिर पांच पांच विभाग हैं । उदाहरण के लिए दूसरे पर्व को लीजिए । ग्रीवाकशेरुक पहिला पर्व है, पर्शुक (फंसलिएं)-दूसारा पर्व है, कटीकशेरुक तीसरा पर्व है, श्रोणिफलक चौथा पर्व है, त्रिकास्थि पांचवा पर्व है । एक हाथ में पांच पर्व है । अन्नकास्थि पहिला पर्व है, प्रगण्डास्थि दूसरा पर्व है, बहिःप्रकोष्ठास्थि तीसरा पर्व है, अन्तःप्रकोष्ठास्थि चौथा पर्व है, हस्त पांचवां पर्व है । इस प्रकार ५-ज्ञानेन्द्रिएं, ५-

* इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ष के 'पाङ्क्तयज्ञ' प्रकरण में देखना चाहिए ।

कर्मेन्द्रिएं, ५-प्राण, ५-भूत, ५-तन्मात्राएं आदि भेद से अध्यात्मसंस्था के पर्व पर्व में पञ्चपर्वा विश्वयज्ञ व्याप्त होरहा है। अपनी त्रिमूर्ति से (मन- प्राण-वाक् से) कर्माव्यय ही विश्व में (विश्व के पांचों पर्वों में) व्याप्त रहता है। दूसरे शब्दों में त्रि-पञ्चभावरूप विश्व कर्माव्यय है। अध्यात्मसंस्था में कर्म का विकास प्रधान रूप से हाथों में ही होता है, जैसा कि महर्षि कौ-षीतकि कहते हैं—

"हस्तावेवास्या एकमङ्गमदूढ्लं-तयोः कर्म एव परस्तात्—

प्रतिविहिता भूतमात्रा०" (कौ. उ. ३. अ. । ६खं०। ५ कं०)।

"शरीर के इतर अङ्गों की अपेक्षा हाथों में कर्माव्यय प्रधानरूप से विकसित है" यह उक्त. श्रुति से भलीभांति सिद्ध होजाता है। यही कारण है कि पूर्वप्रतिपादित तीन—पांच की व्यवस्था जैसी हाथों में विकसित रहती है, वैसी शरीर के अन्य अङ्गों में प्रकटरूप से नहीं देखी जाती। हाथ पर दृष्टि डालिए, कितनी अंगुलिएं हैं ? पांच। प्रत्येक अंगुली में कितने पर्व हैं ? तीन, तीन। होगया "यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि" का समन्वय। और आगे चलिए। सब से छोटी अंगुली **कनिष्ठिका** नाम से, उस के आगे की **अनामिका** नाम से, मध्य की **मध्यमा** नाम से, चौथी **तर्जनी** नाम से प्रसिद्ध है, पांचवा **अंगुष्ठ** है। इन के इन नामों में भी रहस्य है। स्वयम्भू पहिला पर्व है, यह इतर चारों परमेष्ठी सूर्यादि पर्वों का अध्यक्ष है। यह प्रतिष्ठारूप त्रयीब्रह्म से युक्त है, स्थिर है, अविचाली है, शान्त है, कर्ममयविश्व का आधार बनता हुआ भी कर्म से असंगसा है। परमेष्ठी आदि इस के अंग हैं, इन को अपनी महिमा से संचालित करने वाला स्वयं स्वयम्भू बृहत्काय है। यहां कर्ममय विश्व की सीमा समाप्त है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू पर कर्ममर्यादा समाप्त होजाती है। आप का अङ्गुष्ट इसी प्रधान पर्वरूप स्वयम्भू पर्व की प्रतिकृति (नकल) है। अंगुष्ट इतर अंगुलियों से स्थूल है, यह पहिला साध-र्म्य है। अंगूठा स्वतन्त्र रहकर काम नहीं करता, इतर अंगुलियों के कर्म में सहायक मात्र है, यह दूसरा साधर्म्य है। जब कोई मनुष्य किसी कर्म के लिए मना कर देता है तो उसके लिए लोक भाषा में—"अरे! इसनें तो कोरा अंगूठा दिखला दिया" यह कहा जाता है। कारण

स्वयम्भूस्थानीय अङ्गुष्ठ वास्तव में कर्म के अवसान का द्योतक है, यह तीसरा साधर्म्य है। षोडशी पुरुष विश्वावच्छिन्न है, इधर स्वयम्भू विश्वरूप है। अंगुष्ठ इसी की प्रतिकृति है, अत एव शरीरस्थ षोडशीपुरुष की तुलना अङ्गुष्ठ से की जाती है, जैसा कि–"**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो सदा जनानां हृदि सन्निविष्टः**" इत्यादि से स्पष्ट है। तात्पर्य इसका यह है कि सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त चिदंश को यदि एकत्रित किया जाता है तो उसका आयतन अंगुष्ठमात्र होता है। प्रयाणकाल में जीवात्मा अंगुष्ठमात्र बनकर ही लोकान्तर में जाता है, यह निश्चित सिद्धान्त है, यही चौथा साधर्म्य है। इस साधर्म्य से निष्कर्ष यही निकलता है कि अंगुष्ठ पुरुष की प्रतिकृति है। पञ्चप्रकृति के सम्बन्ध से हाथों के पांचों पर्व जहां "**पञ्चाङ्गुलयः**" नाम से प्रसिद्ध हैं, वहां अंगुष्ठ पुंस्त्वभाव का समर्पक बनता हुआ पुरुषभाव का भी द्योतक बनता है। स्वयम्भू के बाद परमेष्ठी है, यह आपोमण्डल है। आप्यप्राण को असुर कहा जाता है। असुरप्राण की जन्मभूमि आपोमय वरुणदेवताक परमेष्ठीमण्डल ही है। यह असुरप्राण दिव्यकार्य का विरोधी है, क्लेशभाव का प्रवर्त्तक है, तर्जनकर्म का अधिष्ठाता है। तर्जनी अंगुली इसी की प्रतिकृति है। इस में परमेष्ठी के सम्बन्ध से आसुरभाव का विकास रहता है, अत एव जपादि जितनें भी दिव्यकर्म हैं, सब में इस तर्जनी अंगुली को पृथक् रक्खा जाता है। इस अंगुली से धन्तधावन का भी निषेध है। कारण इस में वरुण के सम्बन्ध से विषप्राण (जहरीला गेस) रहता है। यह अंगुली उक्त असुरभाव के कारण क्लेश की अधिष्ठात्री है। ताड़न-भर्त्सन आदि क्लेश के प्रवर्त्तक सारे कर्म इसी अंगुली से निर्दिष्ट होते हैं, तभी तो इस का 'तर्जनी' नाम सार्थक बनता है। किसी को आप यह अंगुली दिखा दीजिए, तत्काल 'अरे हमें यह अङ्गुली दिखा रहा है' यह कहता हुआ वह व्यक्ति कलह के लिए तय्यार होजायगा। परमेष्ठी में ही पितर प्राण प्रतिष्ठित रहता है। अत एव श्राद्धादि पितृकर्म में श्राद्ध में भोजन करने वाले ब्राह्मणों के इस तर्जनी से ही तिलक करनें का विधान है। अन्य दिव्यकर्मों में अनामिका से तिलक किया जाता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनें वाला है। तर्जनी के बाद मध्यमा अंगुली है। यह

* इस विषय का विशद विवेचन "श्राद्धविज्ञान" में देखना चाहिए।

अंगुली सब के मध्य में है, साथ ही में सब से बड़ी भी है, अत एव इस जेष्ठा-एवं श्रेष्ठा अंगुली को '**मध्यमा**' कहा जाता है। यह सूर्य की प्रतिकृति है। सूर्य पञ्चपर्वा विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित है-'**आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्**'। भूतज्योति की प्रथम विकासभूमि यही सूर्य है। व्यक्त विश्व का व्यक्तपना इसी ज्योतिर्मय सूर्य पर अवलम्बित है। सौरकाल अहःकाल, कहलाता है, यही सृष्टिकाल है। सूर्य का न रहना रात्रिकाल है, यही प्रलयकाल है। इतर पर्वों की अपेक्षा इन्द्रमूर्त्ति सूर्य का यही ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठभाव है, अत एव इतर देवताओं की अपेक्षा इन्द्र को ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ कहा जाता है। त्रैलोक्य के यच्चयावत् कर्मों का साक्षी बनता हुआ यह मध्यस्थ सूर्य-'**नैवोदेता नास्तमेता मध्ये एकल एव स्थाता**' के अनुसार स्वयं स्थिररूप से बृहती छन्द पर प्रतिष्ठित है। ज्योतिर्भाव की अपेक्षा से यह इतर पर्वों की अपेक्षा से बड़ा है, अत एव '**बृहद् दस्यौ भुवनेष्वन्तः**' इत्यादि रूप से इसे '**बृहत**' (बड़ा) कहा जाता है। यही अवस्था तत्प्रतिकृतिभूत मध्यमा अंगुली की है। यह सबसे बड़ी है, कर्म्मसहकारिणी बनती हुई भी मध्यमा अंगुली स्वस्वरूप से (स्वतन्त्ररूप से) कोई काम नहीं करती। मध्य में साक्षी रूप से प्रतिष्ठित रहती है। मध्यमा के अनन्तर "अनामिका" नाम की अंगुली है। यह सोममय चन्द्रमा की प्रतिकृति है। चन्द्रमा अन्नरूप है, अन्नादाग्नि में अन्तर्भुक्त होनें से इस की स्वतन्त्रता नहीं रहती, दूसरे शब्दों में इस अन्नरूप चन्द्रमा का स्वतन्त्र नाम ग्रहण न होकर अन्नादरूपअग्नि नाम से ही इस का ग्रहण करलिया जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर तत्स्थानीय इस अंगुली को 'अनामिका' (विना नामवाली) नाम से व्यवहृत किया है। सोम अमृत है, अत एव इस अंगुली में अमृतप्राण का विकास माना जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर '**अनया वै भेषजं क्रियते**' यह कहा जाता है। इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि यदि किसी बच्चे को औषधि देना हो तो अनामिका अंगुली से ही देनीं चाहिए। कारण 'यद् भेषजं तदमृतम्' (गो. ब्रा. ३।४) के अनुसार चिकित्सा से अमृतभाव (नैरोग्य) की की प्राप्ति होती है। इधर अनामिका चन्द्रसोम समबन्ध से अमृतमयी है। इसी अमृत भाव के कारण दिव्यकर्मो में इस का ग्रहण होता है। पांचवी कनिष्ठिका है। यह भूपिण्ड की

प्रतिकृति है। विश्वपर्वों में सब से छोटा भूपिण्ड है। अत एव तत्प्रतिकृतिभूत इसे कनिष्ठिका कहना ही न्यायप्राप्त है। इस प्रकार पञ्चांगुलियुक्त हस्त में तीन-पांच भागों में विभक्त कर्मा-व्यय का प्रत्यक्ष में विकास देखा जाता है। पुरुषात्माधिकरण में प्रधानरूप से इसी का निरू-पण किया है।

उपर्युक्त त्रिगर्भित पञ्चपर्वा विद्या को ही ब्राह्मणश्रुति ने 'पाङ्क्त (पञ्चावयव)-यज्ञविद्या' नाम से व्यवहृत किया है। प्रतिपादित स्वयम्भूआदि पांचों पर्वों की समष्टि ही ईश्वरप्रजापति (षोड-शीपुरुष) से सञ्चालित 'सर्वहुत' नाम का पांक्तयज्ञ है। इसी ईश्वरीय पांक्त सर्वहुतयज्ञ (आ-धिदैविकयज्ञ) से विश्वज्योति नाम से प्रसिद्ध आध्यात्मिकयज्ञ का स्वरूप निर्माण होता है। यह पुरुष (मनुष्य) उस यज्ञप्रजापति का ही अंशावतार है। जैसी स्थिति वहां है, ठीक वैसी ही स्थिति यहां है। इसी आधार पर "पुरुषो वै यज्ञः" (शत. १०।२।१।२।) यह वचन प्रतिष्ठित है। यज्ञ की ईश्वर-जीव इन दोनों संस्थाओं में से ईश्वरसंस्था परमेश्वर, महेश्वर, विश्वेश्वर, ईश्वर भेद से चार भागों में विभक्त है, एवं जीवयज्ञसंस्था सेन्द्रियसत्व, निरिन्द्रियसत्व भेद से दो भागों में विभक्त है। सर्वबलविशिष्टरस परमेश्वर है, मायावच्छिन्न- परमेश्वरांश मायी-भाग महेश्वर है, स्व०पर०सू०चं०-पृ-इन पांचों पर्वों की समष्टि विश्वेश्वर है, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ की समष्टि ईश्वर है, ससंज्ञ अन्तःसंज्ञजीव सेन्द्रियसत्व है, असंज्ञजीव निरिन्द्रियसत्व हैं। प्रकारान्तर से इन ६ ओं यज्ञसंस्थाओं को **अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विश्व** इन चार भागों में विभक्त किया जासकता है। एक ही अमृततत्त्व ४ स्वरूपों में परिणत होरहा है। अमृततत्त्व स्वयं आत्मा है, पुरुष है, ब्रह्मतत्त्व प्रकृति है, शुक्रतत्त्व विकृति है, विश्व विकारसंघ है। इन चारों में से प्रकृत अधिकरण में अमृतात्मा के प्रधानसंस्थाभूत अव्यय के मन-प्राण-वाक् भाग का निरूपण हुआ है। इस रूप से हम अव्यय पुरुष के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। हमारी इतिकर्तव्यता ज्ञान-क्रिया-अर्थ पर समाप्त है। हम जानते हैं, कुछ करते हैं। हमारा जानना और काम करना किसी भौतिक विषय पर अवलम्बित है। विषय को आधार बनाए बिना न कोई काम किया जासकता, एवं न बिना विषय के ज्ञान का ही विकास होता। यही तीसरा अर्थ

तत्त्व है, यह ज्ञानकर्म की आधारभूमि है। आबालवृद्ध, आपामरविद्वज्जन सब को उक्त तीनों कलाओं के ज्ञान—क्रिया एवं अर्थरूप से साक्षात् दर्शन होरहे हैं। शेष रहता है—आनन्दविज्ञानमनोमय विद्याभाग। इस विद्यामूर्त्ति अव्यय का भी एक प्रकार से हम दर्शन कररहे हैं। आनन्द (सुख) सर्वानुभूत है। विश्व में हम नाना भाव देखरहे हैं, ज्ञान की विविधता प्रत्यक्षदृष्टा है, यही विज्ञान कला के दर्शन हैं। इस प्रकार पुरुष (अव्यय) का सर्वात्मना निरूपण करता हुआ यह अधिकरण अपनें "पुरुषात्माधिकरण" नाम को सार्थक कर रहा है। पुरुषनिरूपण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त प्राकृताधिकरण आरम्भ किया जाता है। इस अधिकरण में पहिले चतुष्पाद्ब्रह्म का निरूपण होगा, अनन्तर वेद का स्वरूप बतलाते हुए क्रमशः पञ्चधाविभक्त अव्यक्त--महान्--विज्ञान आदि प्राकृतात्माओं का निरूपण किया जयगा।

इति—पुरुषात्माधिकरणम्

१

——०:*:०——

विद्याकर्ममय--अमृतात्मप्रतिपादक—

पुरुषात्माधिकरण

१

समाप्त
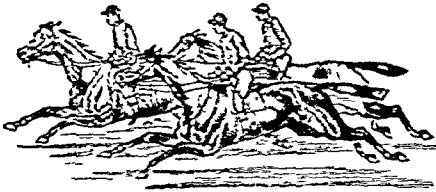
प्राकृतात्मा

२

तत्र

अव्यक्तात्माधिकरणं द्वितीयम्

अव्यक्तात्मा —
- १—१—"अनेजदेकं मनसो जवीयः"]-ब्रह्मकर्म्मात्मकः स्वयम्भूरव्यक्तः
- १—२—"तदेजति तन्नैजति"
- २—३—"यस्तु सर्वाणि भूतानि"
- ३—४—"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि"

(१—२, २—३, ३—४) }ब्रह्मकर्म्मणोः सम्बन्धः

स एष ब्रह्मकर्म्ममयः—शान्तात्मा

यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥२॥

मृत नाम से प्रसिद्ध पुरुषात्माधिकरण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त प्राकृतात्माधिकरण आरम्भ होता है। " प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः " इस कपिल सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च प्रकृति के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। पुरुष से नित्य मुक्त प्रकृति ही व्यक्त विश्व का उपादान बनती है। दूसरे शब्दों में प्रकृति की अव्यक्तावस्था ही व्यक्तरूप में परिणत होकर विश्व कहलानें लगती है। प्राधानिक दर्शन के अनुसार यद्यपि पुरुष का विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु विज्ञान सिद्धान्त (औपनिषद् सिद्धान्त) के अनुसार विना पुरुष सम्बन्ध के प्रकृति की कर्तृत्वशक्ति सर्वथा अवरुद्ध रहती है। यही नहीं, अपि तु प्रकृति-पुरुष के स्वरूप ज्ञान से यह मानलेना पड़ता है कि पुरुष ही विशेष अवस्था में परिणत होकर प्रकृति कहलानें लगता है, दूसरे शब्दों में पुरुष ही प्रकृति बना हुआ है। पुरुष और प्रकृति यह पृथक् पृथक् दो तत्त्व नहीं हैं, अपि तु एक तत्त्व की दो अवस्था विशेषों का ही नाम प्रकृति एवं पुरुष है। प्रकृति पुरुष की इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर "प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः" इस प्राधानिक सिद्धान्त का विरोध किया जासकता है। अत एव "अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त बना है, पुरुष का व्यक्त (विश्व) से कोई सम्बन्ध नहीं है" इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए भगवान् नें कहा है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (गीता. ७।२४)

जिस प्रकार पुरुष प्रकृतिरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार यह प्रकृति ही आगे जाकर विकृतिरूप में परिणत होती है । विकृति से विश्व का निर्म्माण होता है । इस प्रकार एक ही तत्त्वविशेष **पुरुष-प्रकृति-विकृति-विश्व** इन चार स्वरूपों में परिणत होरहा है । वही विश्व है, वही विकृति है, वही प्रकृति है, वही पुरुष है । पुरुष ही प्रकृति है, पुरुष ही विकृति है, पुरुष ही विश्व है । **'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्'** (यजुः सं ३१ अ० । २ मन्त्र) इस श्रौत सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है । सब कुछ पुरुष के उदर में अन्तर्भुक्त है । पुरुष की उक्त पुरुष-प्रकृति आदि चार संस्थाओं से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जैसा कि **"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"** (शाङ्खायन ब्रा. ३ अ० २ ब्रा. ।) इस अनुगम वचन से स्पष्ट है । इन चारों संस्थाओं की समुचित अवस्था का ही नाम **ईश्वर** किंवा **ईशप्रजापति** है । कहना नहीं होगा कि इस चतुःसंस्थ ईश की उपनिषत् बतलानें वाली **ईशोपनिषद्** से सब कुछ गतार्थ होजाता है ।

पुरुषसंस्था **'अमृत'** नाम से, प्रकृतिसंस्था **'ब्रह्म'** नाम से, कार्यविश्व को अपनें उदर में रखनें वाली विकृतिसंस्था **'शुक्र'** नाम से व्यवहृत हुई है । **अमृत-ब्रह्म-शुक्र** की समष्टि ही सब कुछ है । वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है । हमारी **'स एवायं-स एवायम्'** इस प्रत्यभिज्ञा को दृढ़मूल करता हुआ निम्नलिखित औपनिषत् मन्त्र हमारे सामनें आता है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव **शुक्रं**—तद् **ब्रह्म**—तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
"एतद्वै तत्" (कठोपनिषत् ६ वल्ली । १ मं.) ।

शुक्र-ब्रह्म-अमृत तीनों एक वस्तु है, एक ही तत्त्व के तीन उपबृंहित रूप हैं, इसी अद्वैत सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए श्रुति ने सर्वान्त में —"एतद्वै तत्" यह कहा है। पुरुष प्रकृति विकृति-इन तीन अवस्थाओं को तो श्रुति ने क्रमशः अमृत—ब्रह्म—शुक्र—इन नामों से से व्यवहृत किया है, एवं चौथी विश्वसंस्था के लिए "**तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे**" यह कहा है। साथ ही में हमारी दृष्टि पहिले विकृति भाव पर जाती है। विकृति के सम्यक् परिज्ञान के अनन्तर प्रकृति का बोध होता है। प्रकृतिबोध के अनन्तर पुरुषपद प्राप्त होता है। मुमुक्षु मनुष्य के इसी दृष्टिक्रम को लक्ष्य में रखने वाली श्रुतिने **स्थूलारुन्धतिन्याय** को प्रधान मानकर "**तदेवामृतं—तद् ब्रह्म—तदेव शुक्रम्**" इस स्वतःसिद्ध क्रम की उपेक्षा कर "**तदेव शुक्रं—तद् ब्रह्म—तदेवामृतमुच्यते**" इस विपरीत क्रम का आश्रय लिया है।

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व के पुरुषात्माधिकरण में कार्यकारण का रहस्य बतलाते हुए ईशप्रजापति की अमृत- ब्रह्म- शुक्र इन तीनों विभूतियों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराया था- (देखिए ई० वि० भा. पृ. सं. २४—२५-)। अव्यक्तात्मा के यथार्थ स्वरूप परिज्ञान के लिए यह आवश्यक होगया है कि उक्त विभूतियों का विशद निरूपण किया जाय। यद्यपि पूर्वप्रकरणों के विशेष विशेष स्थलों में प्रायः सभी विषयों का निरूपण आगया है। परन्तु विषय इतना दुरूह है कि जब तक विस्तार के साथ उसका उपबृंहण नहीं किया जाता, जब तक हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के लिए इन विषयों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करलेना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होजाता है। इसी कठिनता को दूर करने के लिए हमें स्थान स्थान पर पुनरुक्ति का आश्रय लेना पड़ा है। परन्तु विद्वानों को यह विदित है कि गभीराशय को स्वोदर में प्रतिष्ठित रखने वाली '**ब्रह्मविद्या**' (आत्मविद्या-उपनिषद्विद्या) के सम्बन्ध में स्वयं प्राचीन व्याख्याताओं ने पुनरुक्ति दोष को उपेक्षणीय बतलाते हुए उसे उपादेय कोटि में प्रविष्ट माना है। थोड़ी देर के लिए व्याख्याताओं को छोड़ दीजिए, स्वयं मूलग्रन्थों में (ब्राह्मण-आरण्यक-उप-

* "न मन्त्राणां जामितास्ति०" (ई. उ. शां. भा. ४ मं.)।

निषदादि वेदग्रन्थों में) ही पद पद पर पुनरुक्ति का साम्राज्य उपलब्ध होता है। अतिविस्तृत अर्थ को संक्षिप्त से संक्षिप्त बनाकर प्रतिपादन करने वाले वेदवाङ्मयशास्त्र को जब पुनरुक्ति का आश्रय लेना पड़ता है, तद्व्याख्याताओं नें अपने संस्कृतवाङ्मय निबन्धों को जहां पुनरुक्ति का कोश माना है, वहां हमारे जैसे एक साधारण व्यक्ति के द्वारा लिखे गये हिन्दीभाषामय प्रकृतभाष्य में यदि पुनरुक्ति दो । का समावेश होजाय तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं है। रही बात लोक रुचि की। इसके सम्बन्ध में हमारी ओर से- 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा' यही उत्तर पर्याप्त है। "चिरकाल से विलुप्तप्राय वैज्ञानिक (वैदिक) परिभाषाओं का सरलता से प्रचार होजाय" एक मात्र इसी लक्ष्य को मुख्य मानकर हमनें इस भाष्य में पुनरुक्तिमूलक विस्तारक्रम का समादर किया है। संक्षिप्त टिप्पणियों से ही संतुष्ट होनें वाले विद्वानों के लिए, अथवा बृहत्काय काल्पनिक उपन्यासों से मनोरञ्जन करनें वाले विवेकियों के लिए यह विस्तृतभाष्य अवश्य ही अनुपादेय है, परन्तु जो वैदिक परिभाषाओं के जिज्ञासु हैं, जो अहर्निश वेदग्रन्थि के विमन्थन में ही संलग्न रहते हैं, वे अवश्य ही इसे अपनावेंगे इस में कोई सन्देह नहीं। जिन ईश विभूतियों का इस प्रकरण में यथाक्रम विस्तार से निरूपण होनें वाला है, उन के सम्बन्ध में अबतक क्या कहागया है ? यदि आप इस प्रश्न का समाधान करनें की चेष्टा करेंगे तो आपको स्वयं विदित होजायगा कि अब तक पुरुष—प्रकृति--विकृति—विश्व इन संस्थाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह शृङ्खलाबद्ध न होनें से एवं अतिसंक्षिप्त होनें से अनुपयुक्त सा है। चलिए सिंहावलोकनन्याय से एक बार प्रतिपादित विषय की ओर आप को ले चलें।

" ईश्वर शरीर में जो तत्त्व स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध है, जीवसंस्था में वही तत्त्व 'अव्यक्त' नाम से व्यवहृत होता है। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अधिदैवत में (प्रकृति में) स्वयम्भू है, अध्यात्म में (विकृति में) वही अव्यक्त। .... । अमृत-ब्रह्म-शुक्र आत्मा के यह तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों आत्मसंस्थाओं का क्रमशः तीन प्रकरणों में निरूपण है। .... । षोडशी प्रजापति 'अमृतात्मा' है, यह विद्या-

कर्ममय है। मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण इसी का निरूपण करता है। प्राण–वाक्–अन्न–अन्नाद अक्षरानुगृहीत अत एव अक्षर नाम से व्यवहृत इन पांच प्राकृत प्राणों की समष्टि ही 'ब्रह्म' है। .... । यही पञ्चब्रह्म आगे जाकर क्रमशः पञ्चजन, पुरञ्जन के कारण बनते हुए स्व०—पर०—सूर्य—चन्द्र—पृ० रूप में परिणत होते हैं। यहीं पांचों पिण्ड 'ब्रह्मपुर' नाम से प्रसिद्ध हैं। द्वितीय प्रकरण में स्वयम्भू ब्रह्म का निरूण है। आगे के प्रकरणों में परमेष्ठी–सूर्य–आदि चारों ब्रह्मों का, एवं त्रेधाविभक्त देवसत्य का निरूपण है। **'सपर्य्यगात्०'** इत्यादि मन्त्रप्रकरण शेष तीसरे शुक्रतत्त्व का निरूपण करता है। .... ।" यह है प्रकीर्णक विषयों का सिंहावलोकन।

बात यथार्थ में क्या है। विविध भावों से नित्य आक्रान्त विश्व का मूलस्तम्भ कोई एक तत्त्व है। वह एक ही तत्त्व—**" एकं वा इदं विबभूव सर्वम् "** (ऋक् सं० ८। ४। २८) के अनुसार नानारूप में परिणत होरहा है। परन्तु बड़ा आश्चर्य ! एक ही मूल से उत्पन्न होनें वाले विश्वप्रविष्ट यच्च यावत् तूल पदार्थों के नाम–रूप–कर्म्म सब परस्पर में सर्वथा भिन्न। साथ ही में यद्यपि इन पदार्थों का स्वरूप एक दूसरे से नहीं मिलता, परन्तु इन सब का मूलभूत वह एक तत्त्व इन सब के लिए समान है। दूसरे शब्दों में मूल में सब का अभेद है, यह भी सिद्ध विषय है। उदाहरण के लिए सूर्य्य को लीजिए। सूर्य्य एक ज्योतिर्मय पिण्ड है। **" तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् "** (ऋक् सं० १० मं०। १२९ सू०। ५ मन्त्र) इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार सूर्यकेन्द्र से बद्ध होकर ऊपर नीचे–इधर–उधर–चारों ओर रश्मिएं व्याप्त होरहीं हैं। समझने के लिए अभी एक सहस्र (१०००) रश्मिएं मान लीजिए। इन सहस्रों रश्मियों का मूल एक (सूर्य) है। इस मूलरूप सूर्य्य से निकलनें वाली तूलरूपा रश्मिएं सर्वथा भिन्न हैं। सब का देश (स्थान) भेद तो सिद्ध है ही। देशभेद से रूप–कर्म्म भेद है। रूप-कर्म भेदसे नाम भेद है। यदि कोई जिज्ञासु किसी वैज्ञानिक से एक नियत देश में आनेंवाली रश्मि का स्वरूप पूंछता है तो रश्मिस्वरूप को यथावत् समझानें के लिए उस वैज्ञानिक को रश्मि के मूलभूत सूर्य्यबिम्ब का स्वरूप बतलाना नितान्त आवश्यक होजाता है। चाहे किसी

का भी स्वरूप पूछा जाय, अथवा आप किसी भी रश्मि का निरूपण करें— प्रत्येक के स्वरूप निरूपण से पहिले आप को उस के मूल (सूर्य) का स्वरूप बतलाना पड़ेगा। मूल परिज्ञान के अनन्तर ही तूलपदार्थ का स्वरूपज्ञान संभव है, यह उक्त निदर्शन से भलीभांति सिद्ध होजाता है।

यही स्थिति ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में समझिए। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, विराट्, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ आदि विश्वपर्व परस्पर में सर्वथा विभिन्न हैं। इन सब के नाम-रूप-कर्म-देश-स्थितिक्रम-में सर्वथा भेद उपलब्ध होता है। इन सब विभिन्नों का मूल वही अविभिन्न अमृत-ब्रह्म-शुक्रमूर्त्ति ईश प्रजापति है। अत एव प्रत्येक वस्तु के निरूपण से पहिले उस मूल का परिज्ञान अपेक्षित रहजाता है। आप किसी भी पर्व का स्वरूप बतलावें, परन्तु तब तक आप अपने इस प्रयास में व्यर्थ रहेंगे, जब तक कि आप उस मूल का स्वरूप जिज्ञासु के सामने उपन्यस्त न करदेंगे। प्रकरण के आरम्भ में बतलाए गए पुनरुक्तिभाव की उपादेयता का यही मौलिक रहस्य है। ऐसी अवस्था में हमारे लिए भी यह आवश्यक होजाता है कि मन्त्रार्थ से पहिले मन्त्र के रहस्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाली आत्मसंस्थाओं का विस्पष्ट निरूपण करदिया जाय। इसी भावना से भावितान्तःकरण बनकर पहिले मौलिक रहस्य, किंवा आत्मसंस्थास्वरूप रहस्य की ओर ही विद्वान् पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। अमृत–ब्रह्म–शुक्र– युक्त सत्यविश्व भेद से ईशप्रजापति को चतुःसंस्थ बतलाया गया है। इस प्रकरण में पृथक् पृथक् रूप से इन चारों संस्थाओं का ही विशद निरूपण अभीष्ट है। चारों में से क्रमप्राप्त अमृतसंस्था का ही निरूपण किया जाता है।

इति विषयोपक्रमः

——:०*०:——

तदेव शुक्रं–तद् ब्रह्म––तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥

'एतद्वै तत्'

अव्यक्तात्माधिकरणे––

'[1]अमृतं (पुरुषः)–[2]ब्रह्म (प्रकृतिः)–[3]शुक्रं (विकृतिः)–[4]विश्वम्'

इति–चतुर्द्धा विभक्तस्य चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणम्

तत्र

[1]निर्विशेष—[2]परात्पर—[3]षोडशीपुरुष—भेदेन–

त्रिसंस्थगर्भितामृतात्मसंस्थाधिकारः प्रथमः

"तदेवामृतमुच्यते"

१

तदेवामृतमुच्यते

१-(१) अमृतात्मसंस्थाधिकारे

निर्विशेषनिरुक्तिः
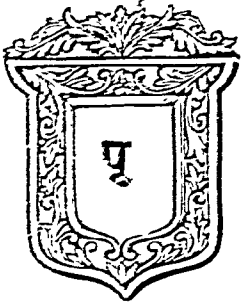
र्व के पुरुषात्माधिकरण में "अमृतात्मा" शब्द से पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, एवं अर्द्धमात्रिक परात्पर की समष्टिरूप षोडशी पुरुष का ग्रहण किया गया था। परन्तु इस प्रकरण में 'अमृतात्मा' शब्द से **निर्विशेष, परात्पर, षोडशी पुरुष** इन तीन अमृतसंस्थाओं का ग्रहण किया जायगा। अविपरिणामी, नित्य एकरसतत्त्व को ही 'अमृत' कहा जाता है। उक्त तीनों संस्थाओं में यह अमृतभाव घटित होता है। निर्विशेष, परात्पर, षोडशी यह तीनों ही अपेक्षया अविपरिणामी, नित्य एवं एकरस हैं। ब्रह्म-शुक्र की अपेक्षा से षोडशी अविपरिणामी, नित्य एवं एकरस है, षोडशी की अपेक्षा परात्पर एकरस है, सब की अपेक्षा से विशुद्धरसमूर्ति निर्विशेष एकरस है। अतः हम इन तीनों संस्थाओं को 'अमृतसंस्था' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इन तीनों में सब की मूलाधार, विशुद्धरसस्वरूप होने से वास्तव में अमृत नाम से व्यवहृत करने योग्य अमृतसंस्था निर्विशेष है। अतः (विशुद्धरसरूपा होने से सर्वथा शाब्दानविक्त होने पर भी तटस्थ लक्षण से) इसी का स्वरूप उपस्थित किया जाता है। विश्व में हम जितने भी पदार्थ देखते हैं, उन सब में परस्पर में कुछ न कुछ विशेषता है। सूर्य्य-चन्द्रमा-अग्नि-विद्युत्-नक्षत्र-आकाश-वायु-जल-पृथ्वी-ओषधि-वनस्पति-मनुष्य-पशु-पक्षि-कृमि-कीट-सुवर्ण-रजत-ताम्र-लौह-सीसक-पारद-गन्धक-अभ्रक-वन- -नदी-समुद्र-वापी-कूप-पर्वत-राष्ट्र-नगर-ग्राम-प्रासाद-वस्त्र-पुस्तक-लेखिनी-मसीपात्र-कूर्च- आसन्दी आदि आदि जितने भी असंख्य पदार्थ हैं, उन सब में प्रत्येक में अपना अपना एक एक पृथक् पृथक् स्वरूप-धर्म्म होता है। इसी प्रातिस्विक (वैयक्तिक-निजी) स्वरूपधर्म से उस पदार्थ के नाम रूप कर्म की सत्ता रहती है। यही स्वरूपधर्म्म लोक में **'अपना आपा' 'अपनापन'** आदि नामों से व्यवहृत

हुआ है। जिसे विद्वान् 'जाति' नाम से व्यवहृत करते हैं, जिस जातिभाव का '**आकृतिग्रहणा-जातिः**' यह लक्षण किया जाता है, जिस वस्तुभाव के लिए विद्वान् **घटत्व--पटत्व-मनुष्यत्व पशुत्व** इत्यादि रूप से 'त्व' का प्रयोग करते हैं, वही भाव स्वरूपधर्म्म है। मनुष्य में रहनें वाला मनुष्यत्व ही मनुष्य का स्वरूपधर्म्म है। गोपशु में रहनें वाला गोत्व ही गो का स्वरूप-समर्पक है। कम्बुग्रीवादिमत् घटत्व ही घट का स्वरूपसंपादक, एवं स्वरूपसमर्पक है। यदि-तत्तत्पदार्थो में से तत्तत् त्वभाव निकल जाता है तो तत्काल तत्तत्पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो-जाता है। मनुष्य तभी तक मनुष्य है, जब तक कि उसमें मनुष्यत्व किंवा मनुष्यता है, यही स्थिति सब पदार्थो की है। इतना और ध्यान रखिए कि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूपधर्मरूप त्वभाव पृथक् पृथक् है। मनुष्यजाति में रहनें वाले त्वभाव नें जहां मनुष्यजाति की स्वरूपरक्षा कर-रक्खी है, वहां एक मनुष्य में रहनें वाले प्रातिस्विक मनुष्यत्व ने इस एक ही की स्वरूपरक्षा कर रक्खी है। अन्य मनुष्यों का इस प्रातिस्विक (वैयक्तिक) त्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस उदाहरण से आप को यह भी विदित होगा कि यह त्वभाव सामान्य-विशेष रूप से दो भावों में परिणत रहता है। 'जीवत्व' जहां जीवमात्र के लिए सामान्यभाव है, वहां ईश्वर की अपेक्षा से वही जीवत्व विशेष कोटि में प्रविष्ट होजाता है। कारण जीवत्व ईश्वर में नहीं है। चेतनत्व चेतन जीवों के लिए जहां सामान्य हैं, वहां (जड़) पदार्थों की दृष्टि से वही विशेष है। चेतनों में भी मनुष्यत्व जहां सब मनुष्यों के लिए सामान्य है, वहां-मनुष्येतर पशु-पक्षि-आदि चेतन जीवों की अपेक्षा से विशेष है।

जो धर्म्म समानरूप से अनेक व्यक्तियों में व्याप्त रहता है, उसे सामान्य कहा जाता है। वस्तुतस्तु सामान्यधर्म्म केवल ईशतत्त्व ही है। वही-'**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' '**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**' इत्यादि सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से प्रविष्ट होरहा है। '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' यह स्मार्त्त वचन ईश के इसी सामान्य धर्म्म का स्पष्टीकरण करता है। सामान्यधर्म्म को दार्शनिकों नें 'जाति' कहा है, विशेषधर्म्म का सम्बन्ध व्यक्ति से माना है। व्यवहार सौकर्य की दृष्टि से उक्त सिद्धान्त ठीक माना जासता

है। मनुष्यत्त्व मनुष्यमात्र में है, यही मनुष्यत्त्व की सामान्यव्याप्ति है। परन्तु इस व्याप्ति का मनुष्येतर पदार्थसमष्टि में संकोच मानना पड़ता है। परमार्थतः सभी विशेषकोटि में अन्तर्भूत हैं। सामान्यभाव केवल अपेक्षाकृत है। उदाहरण के लिए मनुष्य को ही लीजिए। मनुष्यत्त्व विशेष है। एक व्यक्ति में रहनें वाला वैयक्तिक मनुष्यत्त्व मनुष्य शरीर के यच्च यावत् अवयों के लिए जहां सामान्य धर्म्म है, वही व्यापक (मनुष्यमात्र से सम्बन्ध रखने वाले) मनुष्यत्त्व की अपेक्षा विशेष बनजाता है। शरीर के अंगो में मनुष्यत्त्व विभक्त होरहा है। तत्तदङ्गों से तत्तदुचित कर्म्म करना मनुष्यता है। विरुद्ध कर्म्म करना स्वरूपधर्म से गिरना है। लोक में यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि "अमुक व्यक्ति का हृदय अच्छा है, परन्तु भाषण उत्पथ है। चाहते अच्छा हैं, मुंह से बोलते खराब हैं। अमुक व्यक्ति समझता अच्छा है, परन्तु तदनुसार करता नहीं। चाल चलन अच्छा है, परन्तु स्वभाव के बहुत क्रूर हैं।" इन लोक व्यवहारों से (**शक्तिग्राहक-शिरोमणेर्लोकव्यवहारस्य**) यह सिद्ध हो जाता है कि केवल मनुष्य शरीर में रहने वाली मनुष्यता भी सामान्य नहीं है। किसी अंग में उसका विकास है, किसी में नहीं। कहां तक कहैं यदि आप सूक्ष्मदृष्टि से विचार करेंगे तो आप को मालूम होगा कि परमाणु-परमाणु में हीं नहीं, अणुभूत का भी अति क्रमण करनें वाले गुणभूत पर्य्यन्त आप को यह विशेषभाव व्याप्त मिलेगा। प्रत्येक परमाणु-परमाणु अपनें जैसा आप ही है। व्यवहार दृष्टि से विश्व के यच्चयावत् पदार्थ अपेक्षाकृत तारतम्य से सामान्य भी हैं, विशेष भी हैं। इस सामान्यभाव का भी एक विशेष कारण है, जिस का कि स्पष्टीकरण आगे होनें वाला है। हां एक तत्त्व अवश्य ऐसा है, जो सामान्य ही है। एकतत्त्व अवश्य ऐसा है, जो विशेष ही है। मध्यपतित वस्तुजात सामान्य विशेष दोनों से (परमार्थतः विशेषभाव से ही) आक्रान्त है।

दूसरे शब्दो में यों भी कहा जासकता है कि कोई एक तत्त्व सामान्य ही है, वह कभी विशेष नहीं बनता, एकतत्त्व विशेष ही है, वह कभी सामान्य नहीं बनता, एवं इस अन्तिम सामान्य और अन्तिम विशेष के उदर में अन्तर्भुक्त यच्चयावत् पदार्थ सामान्य भी हैं, विशेष भी हैं। इन दोनों भावों की सत्ता का कारण यह है कि यह पदार्थ महासामान्य एवं परम

विशेष के मध्यपतित रहते हैं। महासामान्य का सामान्यधर्म भी इन मध्यस्थों में अनुस्यूत रहता है, परमविशेष का विशेष भी इन में अनुस्यूत रहता है। सामान्यधर्म एकत्त्व मूलक है, यही उस वस्तु का अमृतभाव है। विशेषधर्म अनेकत्त्व मूलक है, यही उस वस्तु का मृत्युभाव है। दूसरे शब्दों में अमृतरूप अभेदभाव सामान्यमूलक है, मृत्युरूप भेदभाव विशेषमूलक है। सामान्य विशेष से आक्रान्त है, विशेष सामान्य पर प्रतिष्ठित है। अमृत में मृत्युतत्त्व अनुस्यूत है, मृत्यु में अमृत अनुस्यूत है। इसी व्यापक सामान्य-विशेषभाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति स्मृति कहती हैं——

१—अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥ (श. १० कां. । १।५।४)।

२—यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ (कठ उ. ४।१०)।

३—अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (गी. ९।१९)।

४—कर्म्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गी. ४।१८)।

आप लोक में, किंवा लौकिक पदार्थों में उपर्युक्त सामान्य-विशेष दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। आप समझते हैं कि मनुष्यत्त्व एक ऐसा धर्म है—जो मनुष्यमात्र में व्याप्त है। यहां आप की दृष्टि एक व्यक्ति पर नहीं है, अपि तु मनुष्यजाति पर है। साथ ही में आप कतिपय विशेषधर्मों से प्रत्येक मनुष्य को भिन्न भी समझ रहे हैं। यही भिन्नभाव नानाभाव का कारण है। यही अमृत और मृत्युतत्त्व के साक्षात् दर्शन हैं। आप की दृष्टि में आया हुआ अभेदमूलक सामान्यभाव अमृत है, भेदमूलक नानाभाव मृत्यु है। अब इस सम्बन्ध में केवल एक प्रश्न शेष रहजाता है। वह ऐसा कौनसा सामान्य है, जो सदा सामान्य ही रहता है, एवं वह ऐसा कौन सा विशेष है जो सदा विशेष ही रहता है?। पूर्व में हमनें कहा था कि ईशप्र-

जापति विश्व के लिए अन्तिम सामान्य है, एवं गुणभूत अन्तिम विशेष है। वस्तुतस्तु परमार्थ कोटि में जाकर न ईश की सामान्यता रहती, न गुणभूत की परम विशेषता रहती। पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा का नाम ईशप्रजापति है, एवं पञ्चतन्मात्राओं की समष्टि गुणभूत है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी की समष्टि ईशप्रजापति है। उस महामायावच्छिन्न अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वर के उदर में ऐसी सहस्रवल्शा हैं। प्रत्येक वल्शा एक एक ईशसंस्था है। अतः इस महामायावच्छिन्न महेश्वर की अपेक्षा से (हमारी अपेक्षा परमसामान्यकोटि में प्रविष्ट रहता हुआ भी) ईश प्रजापति विशेष ही बनजाता है। इन विशेषभावापन्न सहस्र ईशसंस्थाओं की अपेक्षा से महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर सामान्य है। रसबलात्मक व्यापक परात्पर में मायाबल के उदय से मायी महेश्वर का उद्गम होता है। जितनी दूर में (परात्पर के उदर में) मायाबल व्याप्त होता है, तदवच्छिन्न परात्परांश ही अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वर का स्वरूप संपादक बनता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। परात्पर में असंख्य माया बल हैं। प्रत्येक माया स्वतन्त्र महेश्वर की जननी है। ऐसी अवस्था में महेश्वर स्वरूप संपादक असंख्य मायाबलों को स्वोदर में रखने वाले सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति परात्पर की अपेक्षा से (स्वमण्डल युक्त ईशसंस्थाओं की अपेक्षा परमसामान्य कोटि में प्रविष्ट रहता हुआ भी) मायी अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वर विशेष ही बनजाता है। परात्पर में रस और बल दोनों हैं। जहां रसापेक्षया परात्पर सामान्य है, वहां बलापेक्षया परात्पर विशेषभाव से भी आक्रान्त है। अतः विशुद्ध सामान्य एवंविशुद्ध विशेष परात्पर को भी नहीं माना जासकता। बाकी बचता है शुद्ध रस, और शुद्ध बल। यद्यपि परमार्थतः रस कभी बल से पृथक् नहीं होता, एवं बल कभी रस से पृथक् नहीं होता। तब भी दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार केवल बुद्धि में रस बल का पार्थक्य मानलिया जाता है। उदाहरण के लिए 'घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्' इस वाक्य को सामने रखिए। हम जानते हैं कि घट बिना घटत्व के एक क्षण भी नहीं रहसकता। कम्बुग्रीवादिमत् घटत्व ही घट पदार्थ का जीवन है। ऐसी अवस्था में ' घटे घटत्वम् ' इस वाक्य का समन्वय कैसे हो। ' घट में घटत्व है ' यह कहना है। उधर घट में घटत्व पहिले से ही विद्यमान है।

साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि "सामान्ये सामान्याभावः" इस नियम के अनुसार घटत्व में घटत्व नहीं रहता, घट में घटत्व रहता है। ऐसी परिस्थिति में घट में रहनें वाले घटत्व का बुद्धि में पार्थक्य कर — "घटत्वोपहिते घटे घटत्वम्" इसी प्रकार वाक्य समन्वय किया जाता है। यही परिस्थिति यहां समझिए। रस कभी बल के बिना नहीं रहता। फिर भी विशेष की उपेक्षा कर "बलत्वोपहिते रसे रसत्वम्" यह मानना पड़ता है। इस बौद्धक्रम के अनुसार शुद्ध रस बल से सर्वथा पृथक् मान लिया जाता है। यह शुद्ध रस परम सामान्य है, एवं शुद्धबल "रसत्वोपहिते बले बलत्वम्" के अनुसार परम विशेष है। इस शुद्ध रस की अपेक्षा और अन्य व्यापक तत्व का ऐकान्तिक अभाव है। यह रस स्वयं ऐकान्तिक है। यहां विशेष मर्यादा का सर्वथा अभाव है, अत एव इस व्यापक शुद्ध रस को 'निर्विशेष' (निर्गतविशेष भावयुक्त तत्व) नाम से व्यवहृत किया जाता है। शेष (बाकी बचे हुए अन्य) पदार्थों को इस पदार्थ से विगत (पृथक्) करनें वाला भाव ही व्यावृत्ति सम्बन्ध से 'विशेष' कहलाता है। घट में रहनें वाली विशेषता नें घट से अतिरिक्त (शेष) जितनें पदार्थ हैं, उन सब से घट को वि-(गत) कर रक्खा है। अत एव वि-शेष-भाव का प्रवर्त्तक यह धर्म्म वि-शेष नाम से व्यवहृत किया गया है।

पदार्थों में परस्पर भेद (फ़रक डिफ्रेन्स (Difference) करने वाला धर्म ही विशेष है। शुद्धरस को कोई भी धर्म्म किसी भी पदार्थ से पृथक् नहीं कर सकता। वह सर्वज्ञ सब में अवि विशेषरूप से व्याप्त रहता है, अत एव उसे- 'निर्विशेष' नाम से व्यवहृत करना न्याय प्राप्त होजाता है। ऐकांतिकरसरूप परमसामान्यरूप इसी निर्विशेष को भगवान् नें 'ऐकांतिक सुख' (नित्यानन्द-विशुद्धानन्द-निष्कैवल्यानन्द) नाम से व्यवहृत किया है। बल ही तो विशेष भाव का प्रवर्त्तक है। जब विशेषबल का वहां सम्बन्ध नहीं तो सुतरां विशुद्धरस का निर्विशेषत्त्व सिद्ध होजाता है। यह निर्विशेष भावनामात्र गम्य है। यहां शब्दशास्त्र की गति अवरुद्ध है। जो तत्त्व सर्वथा निर्धर्मक है, वहां शब्द का प्रवेश कथमपि नहीं होसकता। प्रत्येक शब्द की यत्-किञ्चित् पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति रहती है। अत एव प्रत्येक शब्द व्यावर्त्तक माना

गया है। घटशब्द घटत्वावच्छेदकावच्छिन्न घटपदार्थ के साथ ही सम्बन्ध रखता हुआ घटेतर यच्चयावत् पदार्थों का व्यावर्त्तक बनजाता है। अत एव घट शब्द से घटपदार्थ का बोध होजाता है। उधर निर्विशेषरूप रस सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। उस का व्यावर्त्तक (हटानें वाला) कोई नहीं है। अत एव सुतरां व्यावर्त्तक शब्द की गति का अवरोध सिद्ध होजाता है। मन से भी वह अगम्य है। कारण हमारा मन सीमित है। मन प्रत्यय का अधिष्ठाता है। विना विषय के मन का व्यापार असंभव है। विषयरूप प्रत्यय **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'** के अनुसार शब्द से नित्य सम्बद्ध है। जब यहां वाङ्मय शब्द की गति नहीं तो शब्दाविनाभूत मन के प्रत्यय में वह कैसे समा सकता है। अत एव इसे वाङ्मनसगोचर कहा जाता है। निर्विशेष की इसी अविज्ञेयता, एवं अनिर्वचनीयता का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> संवदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
> यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥१॥
>
> यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥२॥ (केनोपनिषत् २।११)

इसी श्रौति अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए उपासक पुष्पदन्त कहते हैं—

> "अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो—
> रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
> स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः। (न कस्यापीत्यर्थः)
> ...." (महिम्नस्तोत्र)

विशेष निबन्धन, विभिन्न गुण, एवं विभिन्न क्रियाएं ही भेद का मूल कारण हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से विविध आकारों का जन्म होता है। यह निर्विशेष गुण–क्रियातीत होन से कभी विविधाकार में परिणत नहीं होता, अत एव इसे **"अव्याकृत"** नाम से व्यवहृत किया जाता है।

अग्नि सम्बन्ध किंवा अग्निलेप से वायु गरम, सोमसम्बन्ध से वायु शीतल होजाता है। पार्थिवक्षार के सम्बन्ध पानी खारा, अम्भ सम्बन्ध से मीठा बन जाता है। इस प्रकार वायु--पानी आदि में विजातीय पदार्थ का लेप होजाता है। परन्तु उस असंग निर्विशेष में किसी का लेप संभव नहीं है, अत एव वह " **निर्लिप्त** " नाम से प्रसिद्ध है। शरीरसंस्था रस—असृक्—मांस—मेद—अस्थि—मज्ज--शुक्र आदि धातुओं के सम्बन्ध से अनेक कल होती हुई सकल बन रही है। उस निर्विशेष में कलभेद करने वाले कोई अन्य धातु नहीं है। अत एव यह निर्विशेष—'**निष्कल**' कहलाता है। स्फटिकमणिपर जपापुष्प का वर्ण (रंग) प्रतिविम्बित होजाता है। दर्पण मुखाकृति से रञ्जित होजाता है। परन्तु निर्विशेष में किसी अन्य का रञ्जन संभव नहीं है, अत एव इसे " **निरञ्जन** " कहा जाता है। प्रत्येक द्रव्य में (भौतिक पिण्ड में) गुण—क्रिया—जाति—गुरुत्व—द्रवत्व—समीरत्व—पृथक्त्व—अपरत्व—आदि विविध कल्पनाओं का समावेश रहता है। वह इन सब से पृथक् है, अत एव इसे " **निर्विकल्पक** " कहा जाता है। आम्रवृक्ष और नारिकेल वृक्ष में परस्पर में "**विजातीय**" भेद है। आम्र—आम्र के वृक्ष में परस्पर में "**सजातीय**" भेद है। शाखा—पल्लव—मञ्जरी—फल—स्कन्द आदि आम्रवृक्ष के प्रत्येक अंग परस्पर में विभिन्न स्वरूप वाले हैं। एक ही आम्रवृक्ष में रहने वाला यही भेद " **स्वगत** " भेद है। निर्विशेष से अतिरिक्त दूसरे स्वरूप वाला कोई अन्य निर्विशेष नहीं है, इसलिए इस में विजातीय भेद नहीं है। निर्विशेष जैसा ही कोई अन्य निर्विशेष नहीं है, अतः इसमें सजातीय भेद का भी अभाव है। एवं एकरसमूर्त्ति स्वयं निर्विशेष के आम्रवृक्षवत् अंगविभाग भी नहीं है। अतः इसमें स्वगत भेद भी नहीं है। जब भेद ही नहीं तो द्वैत कैसा। अतएव यह निर्विशेष " **अद्वय** " नाम से भी प्रसिद्ध है।

पदार्थतत्त्व के वास्तविक स्वरूपज्ञान के अभाव से आज सारा आत्मप्रपञ्च साङ्कर्यदोष से संक्रान्त होरहा है। सभी शब्द आत्मपरक मानलिए जाते हैं। वस्तुतः वस्तुस्थिति की दृष्टि से सब व्यवहार पृथक् पृथक् हैं। उक्त निर्विशेष शास्त्रों में जिन नामों से व्यवहृत हुआ है, प्रायः वे नाम पृथक्रूप से निर्दिष्ट कर दिए जाते हैं। जहां कहीं— जिस वचन में निम्न नामों में से किसी

नाम का उल्लेख हो, उस प्रकरण को उस वचन को एकमात्र निर्विशेष का ही प्रतिपादक समझना चाहिए।

१–निर्विशेष के नामान्तर

१—अखण्ड	११—अलक्षण	२२—निश्चिय
२—अद्वय	१२—विश्वातीत	२३—निर्भय
३—शान्त	१३—गुणातीत	२४—निर्ध्रुव
४—निरवद्य	१४—सर्वोपाधिविनिर्मुक्त	२५—निरुपद्रव
५—निरञ्जन	१५—अवाङ्मनसगोचर	२६—निर्विद्वेष
६—निर्विकार	१६—नेतिनेति	२७—निर्निमेष
७—निराकार	१७—सर्वाधार	२८—अव्याकृत
८—नित्यशुद्ध	१८—निराधार	२९—निर्लिप्त
९—नित्यबुद्ध	१९—स्वमहिमप्रतिष्ठ	३०—निष्कल
१०—नित्यमुक्त	२०—दिक्कालाद्यनवच्छिन्न	३१—निर्विकल्पक
	२१—ऐकान्तिकसुख	३२—अद्वय

यह है निर्विशेष नाम की पहिली अमृतसंस्था का निरूपण। यद्यपि इसे हम आत्मा नहीं कह सकते। कारण आत्मशब्द शरीरसापेक्ष है। तथापि आत्मा इस विभूति से पृथक् नहीं रहता, अत एव तद्ग्रहणन्याय से इस का अमृतात्मसंस्था में अन्तर्भाव मानलिया गया है। यह निर्विशेषतत्त्व अन्य किसी आधार की अपेक्षा न रखता हुआ, स्वयं आप ही अपना आधार बनता हुआ, दूसरे शब्दों में अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित रहता हुआ, अत एव निराधार

बनता हुआ, आगे के सारे प्रपञ्च की आधारभूमि बनता हुआ 'सर्वाधार' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। जो स्वयं निराधार होता है, वही सर्वाधार बनसकता है, यह सिद्धान्तनिश्चय है। प्रथम आत्मसंस्थाप्रकरण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त "परात्पर" नाम की दूसरी अमृतात्मसंस्था का संक्षिप्त निरूपण किया जाता है।

इति–निर्विशेषनिरुक्तिः

१–(१)
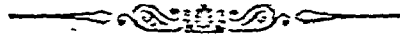
१–(२) अमृतात्मसंस्थाधिकारे

परात्परनिरुक्तिः

जिस शुद्धरसरूप निर्विशेषतत्त्व का पूर्व में निरूपण किया गया है, वही आगे जाकर 'परात्पर' रूप में परिणत होजाता है। एक प्रकार से यों समझना चाहिये कि बल से कभी पृथक् न रहनें वाला रसमूर्त्ति निर्विशेष ही परात्पर है। पूर्व में यह बतलाया जाचुका है कि अमृतरूप रस मृत्युरूप बल से, मृत्युरूप बल अमृतरूप रस से नित्ययुक्त रहते हैं। केवल भावनामात्र से रस का पार्थक्य मान लिया जाता है। जब तक यह भावना है, तब तक वह शुद्ध रस 'निर्विशेष' है। यदि वस्तुस्थिति का विचार किया जाता है तो बल से नित्य युक्त निर्विशेषाख्य वही रस परात्पर है। निर्विशेष एक प्रकार से भातिसिद्ध (खयाली) पदार्थ है। **"रस बल से सर्वथा पृथक् है, बलशून्य वही-विशुद्ध रस निर्विशेष है"** यह हमारा खयाल ही तो है। सत्ता की दृष्टि से इस प्रत्यय का (ख़याल का) कोई मूल्य नहीं है। कारण सत्तादृष्ट्या न कभी बल रस से पृथक् होता, एवं ऐसी अवस्था में न कभी शुद्ध रस को स्वतन्त्र रहनें का अवसर मिलता। उपलब्धि जब भी होगी बलबद्रस की ही होगी। यही उपलब्धि **"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" "यदि स्यादुपलभ्येत"** इत्यादि के अनुसार सत्ताभाव है। इस का सम्बन्ध बलबद्रसरूप परात्पर के साथ ही है। अतः हम निर्विशेष रस की अपेक्षा 'परात्पर' को ही 'सत्तासिद्ध' पदार्थ माननें के लिए तय्यार हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में कहीं कहीं परात्पर–निर्विशेष शब्दों का संकर व्यवहार प्रचलित है।

ज्ञान–कर्म्ममयी सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में अमृत और मृत्यु इन दो भावों का आप साक्षात्कार करते हैं। प्रत्येक वस्तु नित्य–अनित्यभाव से नित्य आक्रान्त है। प्रतिक्षण होंने वाले परिवर्त्तन से वस्तु के स्वरूप में परिवर्त्तन होता है। नित्यप्रतिष्ठित अपरिवर्त्तनीय भाव के कारण **'स एवायम्'** (यह वही है) यह बोध होता रहता है। उदाहरण के लिए मनुष्य को लीजिए। मनुष्य के अस्थिमांसादि धातु प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। शरीर का प्रत्येक पर्व नया बनता

रहता है। आप को यह मानना पड़ेगा कि ५ वर्ष के बालक में जिन अस्थिमांसरक्त आदि शरीर धातुओं की सत्ता थी, १० वर्ष की अवस्था आनें पर वे पूर्वधातु सर्वथा नष्ट होजाते हैं, नवीन धातु उत्पन्न होजाते हैं। 'वही हड्डी-मांस-रक्तादि बढ़ गए' यह कभी नहीं माना जासकता, कारण स्पष्ट है। हम प्रतिदिन सायं प्रातः जो अन्न खाते हैं, उसी से अस्थिमांसादि का निर्म्माण होता है। अपनी आयु के १०० वर्षों में हम सैंकडों मन अन्न खाजाते हैं। पूर्व धातु ही उत्तरोत्तर बढ़ै तो शरीर को एक महा आकार में परिणत होजाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। शरीर का आयतन अवस्था प्राप्त होनें पर नियत बनजाता है, फिर वृद्धि नहीं होती। इस के पहिले भी जो वृद्धि है, उस का महानात्मा के आकृतिभाव से सम्बन्ध है। पूर्व धातुओं के बढ़नें से शरीरवृद्धि हो यह तो कथमपि संभव नहीं है। बचपन की हड्डी का सांचा नियत है, वह रबर नहीं जो घट बढ़ जाय। इसी प्रकार सभी धातुओं का सांचा नियत रहता है। उस का बढ़ना सर्वथा असंभव है। बात यह है कि एक ऐसा सरोवर जिस में एक ओर से निरन्तर पानी आरहा है, दूसरी ओर से निरन्तर उसी मात्रा से निकल रहा है तो इस समान आदान विसर्ग से वह बदलतासा नहीं दिखलाई देता। २५ वर्ष तक आदान अधिक होता है, विसर्ग कम होता है, यही पुष्टि का कारण है। २५ से ५० तक आदान विसर्ग समान रहता है। अनन्तर विसर्ग की वृद्धि होनें लगती है, आदान के एकान्ततः उच्छिन्न होजानें पर शरीरयष्टि नष्ट होजाती है। कहना यही है कि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप (भौतिक परमाणु) प्रतिक्षण निरन्तर बदलता रहता है। पहिले के अवयव नष्ट होते रहते हैं, नवीन नवीन अवयवों का आगमन होता रहता है। यद्यपि इस क्षणिक परिवर्त्तन का तत्काल ही प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु कालान्तर में स्थूल अवस्था आजानें पर परिवर्त्तन का प्रत्यक्ष होजाता है। इसी लिए वस्तु पुरानी बनती है। इस परिवर्त्तन के साथ साथ ही "यह वही मनुष्य है, यह वही वस्त्र है" इत्याकारक अपरिवर्त्तनीयभाव का भी हम साक्षात्कार कर रहे हैं। यह "वही" भाव दर्शन में "अस्ति" (है) नाम से व्यवहृत हुआ है। पदार्थ बदलते हैं-- अस्तित्व नहीं बदलता। आज मनुष्य "है" कल मनुष्य नहीं "है" इस अस्ति-नास्तिरूप दोनों व्यवहारों में अस्तित्व सामान्यरूप से विद्यमान है। इस प्रकार कार्य-

विश्व में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से नित्य-अनित्य दोनों भावों का एक ही वस्तु में साक्षात्कार हो रहा है। जब कार्य में उक्त दो धर्म्म हैं, तो कारणभूत ब्रह्म में भी दो विरुद्ध भावों की सत्ता माननी पड़ती है। वे ही दोनों तत्त्व पूर्वप्रतिपादित रस बल हैं। क्षणिक कार्य का कारण बलतत्त्व है, नित्यकार्य का कारण रसतत्त्व है। रस अमृत है, शान्त है, नित्य है, व्यापक है, अपरिवर्त्तनीय है, संख्या से एक, दिग्देशकालसे अनवच्छिन्न है। बल मृत्यु है, अशान्त है, अनित्य है, व्याप्य है, परिवर्त्तनीय है, दिग्देशकाल से अवच्छिन्न किन्तु संख्या से अनन्त है। तमःप्रकाशवत् दोनों अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी एक ही स्थान में समाविष्ट हैं। क्षणिक बल यों तो असंख्य एवं विविध हैं, परन्तु इन सब बलों की जातिएं कुल १६ ही हैं। यही षोडश "**बलकोश**" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सोलह में १५ बलकोश अविद्या प्रधान हैं, एक बलकोश विद्यारूप है। बलों की इसी विजातीयता से विश्व के पदार्थों में वैचित्र्य उत्पन्न होता है। इन बलों का विजातीय बलों के साथ, एवं बलों का रस के साथ जो सम्बन्ध तारतम्य है, वही विश्व का विश्वत्व है। ब्रह्मरूप रस, कर्मरूप बल के सम्बन्ध रहस्य के सम्यक् परिज्ञान से सब कुछ विदित होजाता है। प्रकृत में ब्रह्मकर्म के सम्बन्धों का निरूपण करना अप्राकृत है। यहां केवल उन का नाम निर्देश कर दिया जाता है।

१—अलक्षण सम्बन्ध	७—समवायवृत्तिसम्बन्ध	१३—ग्रहोद्ग्रहभावसम्बन्ध
२—विभूति	८—आसङ्गवृत्ति	१४—अन्तर्याम
३—योग	९—अध्यूढ	१५—बहिर्याम
४—बन्ध	१०—सन्धि	१६—उपयाम
५—अमितवृत्ति	११—दहरोत्तरभाव	१७—उद्याम
६—उदारवृत्ति	१२—ओतप्रोतभाव	१८—आप्तोर्याम
		१९—यातयाम

पूर्व में १६ बलकोश बतलाए गए हैं। इन सब का विशद विवेचन "उपनिषद् भाष्य भूमिका" के "उपनिषद् हमें क्या सिखाती है?" इस प्रकरण में किया गया है। जिज्ञासुओं को वह प्रकरण देखना चाहिए। यहां उन बलकोशों के नाम मात्र उपन्यस्त कर दिए जाते हैं। १६ बल कोशों में १—४—४—४—३ यह क्रम है। विद्या[१] नाम का बलकोश स्वतन्त्र है। माया[२], जाया[३], धारा[४], आप[५], यह चार बलकोश सहचारी हैं। हृदय[६], भूति[७], यज्ञ[८], सूत्र[९], यह चार बलकोश सहचारी हैं। सत्य[१०], यज्ञ[११], अभ्व[१२], मोह[१३], यह चार बलकोश सहचारी हैं। वय[१४], वयोनाध[१५], वयुन[१६], यह तीन बलकोश सहचारी हैं। इन सोलहों में विद्या ज्योतिर्मय है, शेष १५ हों बल तमोमय हैं। ज्योतिर्मयी विद्या के आनन्द, चेतना, सत्ता, प्रतिष्ठा, यह चार विवर्त्त हैं। मायाबल के महामाया, योगमाया, विष्णुमाया, शिवमाया भेद से चार विवर्त्त हैं। माया के साथ ही 'नोदना' नाम के एक विशेष बल का उदय और होता है। इस नोदना बल के स्तम्भन, दम्भन, घातप्रतीघात, अप्यय, यह चार विवर्त्त हैं। माया बल की कृपा से ही वासना नाम के महाभयावह बल का उदय होता है। इस के इच्छा, क्रिया, आवरण यह तीन विवर्त्त हैं। स्थिति, गति-आगति, सूत्र, यज्ञ इन चारों का हृदयबलकोश में अन्तर्भाव है। इन विविध बलकोशों में व्याप्त रहने वाले विविध बलों के परस्पर के विविध सम्बन्धों से ही विविध प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक बलकोश में तज्जाति के असंख्य बल प्रतिष्ठित होरहे हैं। इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि विद्याबल के अतिरिक्त शेष मायादि १५ बलकोशों की आधारभूमि मायाबलकोश ही है। दूसरे शब्दों में मायाबलकोश के उदर में जाया-धारा आदि शेष चौदह बलकोश अन्तर्भुक्त हैं। पहिले मायाबल कोश में से सीमाभाव सम्पादक मायाबल का उदय होता है, अनन्तर जाया धारा आदि इतर बलकोश अपने अपने बलों को सृष्टिधारा में नियुक्त करते हैं। मायाबलकोश में इतर सब बलकोश समा रहे हैं, यही कारण है कि विविध बलयुक्त विश्व के वैचित्र्य के लिए "यह सब माया का प्रभाव है" "यह सब भगवान् की माया है" इत्यादि रूप से केवल माया शब्द का ही व्यवहार किया जाता है।

बलकोशाभिज्ञानपरिलेख [षोडशकलं वा इदं सर्वम्]

१ विद्याबलकोशः				
	२—माया		१०-सत्यम्	
	३—जाया	६—हृदयम्	११-यक्षम्	१४-वयः
	४—धारा	७—भूतिः	१२-अभ्वम्	१५-वयोनाधः
	५—आपः	८—यज्ञः	१३-मोहः	१६-वयुनम्
		९—सूत्रम्		
इति केवलमन्यत्	इति सध्रीचीनानि चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि त्रीणि-अन्यानि
१	४	४	४	३

तमसो मा ज्योतिर्गमय

विद्या	कर्म	कर्म	कर्म	कर्म	ब्रह्मकर्मणी
ज्योतिः	माया	नोदना	वासना	हृदयम्	तमःप्रकाशौ
१--आनन्दः	१--महामाया	१--स्तम्भनम्	१--ज्ञानम्	१--स्थितिः	ब्रह्मकर्मविवर्तम्
२--चेतना	२--योगमाया	२--दम्भनम्	२--इच्छा	२--गत्यागती	
३--सत्ता	३- विष्णुमाया	३--घातप्रतीघातौ	३--क्रिया	३--सूत्रम्	
४--प्रतिष्ठा	४--शिवमाया	४--अव्ययः	४--आवरणम्	४--यज्ञः	

उपर्युक्त कुर्वद्रूप अत एव सर्वथा अशान्त असंख्य यच्चयावत् (वलकोशानुग्रहीत) वलों को अपनें उदर में रखनें वाला शान्तमूर्ति रसतत्त्व ही 'परात्पर' है। धर्मस्वरूप संपादक सभी वल इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं, अत एव इसे 'सर्वधर्मोपपन्न' नाम से व्यवहृत किया जाता है। निर्विशेषवत् यह व्यापक है, अत एव इसे 'विश्वातीत' कहा जाता है। यही परात्परतत्त्व 'ब्रह्मवन' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि पूर्व के पुरुषात्माधिकरण में बतलाया जाचुका है-(ई.-वि. भा. पृ. २३-२४-२५-)। सृष्टितत्त्व पांच भागों में विभक्त है। वे पांचों सृष्टिएं **आदिसृष्टि, परासृष्टि, भूतसृष्टि, उत्तरसृष्टि, अनुग्रहसृष्टि,** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। शुद्धरस के साथ अनन्त यच्चयावत् वलों का सम्बन्ध हो जाना '**आदिसृष्टि**' है, यही परात्परसृष्टि है। वल कभी रस से पृथक् नहीं होते, अत एव यह सृष्टि '**नित्यसृष्टि**' कहलाती है। मायावलावच्छिन्न रस '**परासृष्टि**' है। यही '**पुरुषसृष्टि**' किंवा '**षोडशीसृष्टि**' कहलाती है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पञ्चपर्वा सृष्टि '**भूतसृष्टि**' कहलाती है। इसी को '**पुरसृष्टि**' कहाजाता है। सौर-पार्थिव संवत्सर सृष्टि "**उत्तरसृष्टि**" कहलाती है। इसी को "**यज्ञसृष्टि**" कहा जाता है। **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्** एवं '**प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर**' की समष्टिरूपा सृष्टि '**अनुग्रहसृष्टि**' कहालाती है। इसी अग्नि-वायु आदित्यमयी (अत एव अग्नि सोम) मयी अनुग्रहसृष्टि को '**विराट्सृष्टि**' कहाजाता है। यही 'देवसत्यसृष्टि' 'जीवसृष्टि' आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। अमृतरूप रस में मृत्युरूप

१	आदिसृष्टिः →→→	परात्परसृष्टिः →→→	सर्वबलवद्रससृष्टिः
२	परासृष्टिः →→→	पुरुषसृष्टिः →→→	मायावच्छिन्नरसवद्रससृष्टिः
३	भूतसृष्टिः →→→	पुरसृष्टिः →→→	पञ्चपर्वासृष्टिः
४	उत्तरसृष्टिः →→→	यज्ञसृष्टिः →→→	सौ॰ पार्थिवसंवत्सरसृष्टिः
५	अनुग्रहसृष्टिः →→→	विराट्सृष्टिः →→→	स.हि.वि.प्रा.तै.वै.सृष्टिः

बल का मिलना ही, दूसरे शब्दों में रस बल की संसृष्टि (मेल- योग) ही सृष्टि है। अमृत रस के साथ ५ प्रकार से बलका संसर्ग होता है। अतः सृष्टिधारा भी उक्त पांच विभागों में परिणत होजाती है।

एक ही तत्त्व शुद्धरस, बलवद्रस भेद से दो भागों में विभक्त होरहा है। विशेषशून्य शुद्ध रस निर्धर्मक बनता हुआ जैसे **निर्विशेष** कहलाता है, वही निर्विशेष विशेषभाव सम्पादक बलों से युक्त रहता हुआ, अत एव सर्वधर्मोपपन्न बनता हुआ **'परात्पर'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। निर्विशेष एक कल था, परात्पर रस-बलभेद से द्विकल, सत्तैक्य से अकल किंवा निष्कल है। नित्य अशान्त गर्भित नित्य शान्त तत्त्व ही परात्पर है। क्षरपुरुष **अवर** नाम से, अक्षरपुरुष **परावर** नाम से, एवं अव्ययपुरुष **पर** नाम से प्रसिद्ध है। परात्पर के उदर में मायाबल युक्त अनेक पर (अव्यय) समा रहे हैं। अत एव **"परान् (मायावच्छिन्नानव्ययपुरुषान्) स्वोदरे अत्ति-इव"** इस व्युत्पत्ति से सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति वह अमायी तत्त्व **"परात्पर"** नाम से प्रसिद्ध है। अपि च वह तत्त्व पर से भी (अव्यय से भी) परे है, अत एव **"परादपि-(अव्ययादपि) परः"** इस व्युत्पत्ति से इसे **परात्पर** कहा जाता है। अपि च सबसे परे होनें से यह तत्त्व भी अव्ययवत् पर नाम से व्यवहृत किया जासकता है। यह दोरूप से व्याप्त है। सम्पूर्ण विश्व में व्याप्तरहना इस का पहिला रूप है, विश्व से बाहर भी व्याप्त रहना दूसरा रूप है। वह तत्त्व अपनें पररूप विश्वस्वरूप से भी पर (विद्यमान) है, अतः **'परात् (विश्वावच्छिन्नस्वस्वरूपात्) अपि परः (अवशिष्टरूपेण विद्यमानः)"** इस व्युत्पत्ति से भी इसे **परात्पर** कहा जाता है। मायी अव्यय ईश्वर है। अनन्त मायाओं से परात्पर के उदर में अनन्त मायी ईश्वर प्रतिष्ठित रहते हैं। यह अव्ययमूर्त्ति सब ईश्वरों का परम (अन्तिम) आधार है। अत एव इसे **'परमेश्वर'** कहा जाता है। ईश्वर सावच्छिन्न होते हुए असंख्य हैं। परात्पररूप परमेश्वर व्यापक, अत एव अनवच्छिन्न होता हुआ एक है। विज्ञानदृष्टि से परमेश्वर पृथक्तत्त्व है, ईश्वर भिन्न वस्तु है। परमेश्वर अजन्मा है, ईश्वर जन्म-मरणचक्र से आक्रान्त है। परमेश्वर व्यापक है, ईश्वर परिच्छिन्न है। परमेश्वर सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् है, ईश्वर परिमितज्ञ, परिमितश-

क्तिमान् है। परमेश्वर सर्वधर्मा, सर्वकर्मा है, ईश्वर नियतधर्मा, नियतकर्मा है। परमेश्वर नाम रूप से अव्यावृत्त है, ईश्वर नाम रूप से व्यावृत्त है। परमेश्वर विभिन्न खण्डात्माओं का एक आत्मा है, ईश्वर केवल अपने विश्व का प्रभु है। व्यापकधर्मा, एकरूप होने से परात्पर भी निर्विशेषवत् सजातीय–विजातीय–स्वगतभेदशून्य है, अवाङ्मनसगोचर है, नेति–नेति शब्द से निर्वीत है, अत एव निर्विशेषवत् 'शान्तानविकृत' है। कुछ एक विशेषताओं को छोड़कर निर्विशेष के सारे लक्षणों का इस परात्पर में अन्तर्भाव है।

इस परात्पर के **भूमा, विश्व, अणिमा** यह तीन विवर्त्त हैं। बड़े से बड़ा भाव भूमा है, छोटे से छोटा भाव अणिमा है। इस भूमा–अणिमा के मध्य में रहने वाला, भूमाणिमा दोनों भावों से आक्रान्त तत्त्व विश्व है। वह व्यापक परात्पर आत्यन्तिक निःसीम है। परात्पर के इसी भूमाभाव को लक्ष्य में रख कर इसे **अत्यनपिनद्ध** कहा जाता है। इसी भाव के लिए 'इन-डेफिनेट्' (Indefinite) शब्द प्रयुक्त हुआ है। भूत से व्यापक प्राण, प्राण से व्यापक मन, मन से व्यापक विज्ञान, विज्ञान से व्यापक मायावच्छिन्न आनन्द, इस से व्यापक परात्पर है। यहां आकर हमारी बुद्धि का व्यापार रुक जाता है। यही परात्पर का भूमाभाव है। यहां अवच्छेदकभाव नष्ट होजाता है। यही अवस्था शून्यविन्दु की है। हृदयविन्दु के लिए कोई आकार नहीं बनाया जासकता। जैसे भूमाभाव निःसीम होने से अनिर्वचनीय है, एवमेव हृद्-विन्दुरूप अणिमाभाव भी निःसीन होने से अनिर्वचनीय है। जो तत्त्व इस छोर में भूमा है, वही इस छोर में अणिमा है। एक तत्त्व की दो अवस्थाएं हैं। मध्यस्थ सारे पदार्थ अपेक्षया भूमा भी हैं, अणिमा भी हैं। जो तत्त्व अपने प्रातिस्विक रूप से विशुद्ध भूमा, विशुद्ध अणिमा में परिणत रहता है, विश्वापेक्षया जो भाव प्रत्येक पदार्थ में भूमा अणिमा अपने इन दोनों रूपों से प्रतिष्ठित रहता है, वही तत्त्व 'परात्पर' है। यह परात्पर व्यापक होने से 'ऋतमूर्त्ति' है। **'ऋतं नात्येति किञ्चन'** के अनुसार सब कुछ इस ऋत परात्पर के गर्भ में प्रविष्ट है। यह **'सर्वम्'** का एक मात्र अधिनायक है। विश्वरचना से इस का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिस प्रकार एक पट में अनन्त विन्दुएं व्याप्त रहती हैं, एवमेव पटरूप बलवरसमूर्ति इस परात्पर में महामायारूप अनन्त मायाबल समाविष्ट होरहे हैं। एक एक माया से एक एक विश्वेश्वर का स्वरूप निष्पन्न होता है। परात्पर परमेश्वर का एक एक रोम एक एक ब्रह्माण्ड है। वह इन अखिल ब्रह्माण्डों का अन्यतम स्वामी है। रस और बल की भांति से यह दो कलाभेद हैं, सत्तादृष्टि से दोनों एक हैं। अत एव अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण रहता है। व्यापक होने से ही यह परात्पर हमारे लिए सर्वथा अनुपास्य एवं अविज्ञेय है। यद्यपि इसे भी हम निर्विशेषवत् आत्मा नहीं कह सकते। कारण आत्मशब्द शरीर सापेक्ष है, एवं शरीर मायिक है, परात्पर मायाबंधन से पृथक् रहता है। तथापि इसी परात्पर का एक अंश मायी बन कर आत्मरूप में परिणत रहता है, एवं स्वांशभूत मायी आत्मा व्यापक परात्पर से भी अनुग्रहीत रहता है, अत एव इसे भी आत्मसंस्था में अन्तर्भूत मान लिया जाता है। इस प्रकरण की समाप्ति के साथ साथ ही यह विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए कि निर्विशेष-और परात्पर कहने को दो तत्त्व हैं, कारण शुद्धरस कभी रहता नहीं। अत एव तुरीयमात्रा से परात्पर का ही ग्रहण किया जाता है। दूसरे शब्दों में निर्विशेष-परात्पर एक वस्तु है। आगे के प्रकरणों में विश्वातीत शब्द से निर्विशेष का ग्रहण न कर परात्पर का ही ग्रहण किया जायगा। आत्मसंस्था में भी परात्पर की ही गणना की जायगी। 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस श्रौत वचन में पुरुष को भी परात्पर कहा है। पुरुष ससीम होता है। इधर परात्पर को हमने असीम कहा है। इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करने वाले जीवाव्यय और ईश्वराव्यय हैं। जीवाव्यय 'पर' है। ईश्वराव्यय इस जीवाव्यय से भी परे है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर उक्त श्रुति ने ईश्वरपुरुष (ईश्वराव्य) को 'परात्पर' कह दिया है। ऐसे कतिपय विशेषस्थलों को छोड़कर परात्पर शब्द से सर्वत्र सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति विश्वातीत परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिए।

परात्पर के नामान्तर

१—परात्परः	५—परोभूमा	९—अद्वयः
२—परमेश्वरः	६—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः	१०—सर्वाधारः
३—अनन्तजगदाधारः	७—अव्याकृतः	११—शाश्वतधर्मः
४—सर्वधर्मोपपन्नः	८—अखण्डः	१२—अत्यन्तपिनद्धः Infinite

इति—अमृतात्मसंस्थाधिकरणे
परात्परनिरुक्तिः

१—(२)

१–(३) अमृतात्मसंस्थाधिकरणे

षोडशीपुरुषनिरुक्तिः

दो वस्तुओं का 'चितिसम्बन्ध' नाम से प्रसिद्ध रासायनिक संयोग से मिलना सृष्टि है । यह सृष्टिव्यापार एक प्रकार का कर्म है, कर्म का मूलप्रभव काम (कामना इच्छा) है, कामना मन पर प्रतिष्ठित रहती है, मन हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, हृदय सीमाभाव से सम्बन्ध रखता है। पूर्व प्रतिपादि परात्पर व्यापक है । व्यापक में 'केन्द्र' (हृदय) नहीं होता । जब परात्पर में हृदय नहीं तो मन नहीं, मन के अभाव से कामना नहीं । कामना के अभाव से संसृष्टिरूप सृष्टि का प्रवर्त्तक कर्म नहीं । अत एव हम परात्पर को नाम मात्र की 'आदिसृष्टि' का प्रवर्त्तक होते हुए भी संसृष्टिलक्षण सृष्टि मर्य्यादा से सर्वथा बहिर्भूत मानने के लिए तय्यार हैं। मायाबल से सीमित षोडशी पुरुष ही हृदयबल से युक्त होता हुआ समनस्क अत एव सकाम अत एव च सृष्टिकर्म का अधिष्ठाता है । अतः हम विश्वसृष्टि का अधिष्ठाता एक मात्र इस षोडशी पुरुष को ही कहेंगे । दो विजातीय पदार्थों की संसृष्टि ही सृष्टि कहलाती है । सजातीय पदार्थों के मेल से कोई अपूर्वभाव उत्पन्न नहीं होता । पानी-पानी के समन्वय से कोई अपूर्व सृष्टि नहीं होती । आग-पानी के मिथुनभाव से फेनरूप नया पदार्थ उत्पन्न होता है। एवमेव शुक्र-शुक्र के संयोग से, शोणित-शोणित के संयोग से, वृषा-वृषा के संयोग से, योषा-योषा के संयोग से, पुरुष-पुरुष के संयोग से, स्त्री-स्त्री के संयोग से कभी अपूर्वसृष्टि नहीं होती । अपि तु शुक्र शोणित के मिथुनभाव से ही नवीन सृष्टि होती है। रस सर्वथा असंग है, अत एव वह संगलक्षण सृष्टिमर्यादा से पृथक् है । सृष्टि संसृष्टिरूप स्नेहभाव से सम्बन्ध रखती है । यह स्नेहधर्म्म एक मात्र बल का ही स्वभाव है । यह संसर्ग बल ही सृष्टि का आधार बनता है, परन्तु साथ ही में यह भी निश्चित है कि बल कभी रस के विना स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । अत एव अ-

पना कोई भी स्वतन्त्र आकार न रखता हुआ पानी जिस प्रकार तत्तत् विशेष आकार युक्त तत्तद् विशेष पात्रों से युक्त होकर स्वयं भी तत्तद् विशेष आकारों जैसा बनजाता है, एवमेव अपना कोई भी स्वतन्त्र आकार न रखता हुआ, अत एव सर्वथा निराकार असंग रसतत्त्व भी वलसाहचर्य से तत्तद्‌वल विशेष से निर्मित तत्तत् विशेष पदार्थों के आकार से आकारित होता हुआ-'सगुण-साकार' कोटि में प्रविष्ट होजाताहै। रस-बल के इस विचित्र सम्बन्ध से यहां हमें यही कहना है कि सृष्टि का मूल कारण दो अथवा अनेक विजातीय रसवद्‌बलों का योग ही है। बलों का सम्बन्ध अनेक प्रकार का है। इन में से **'योग-याग'** नाम से दो सम्बन्धों की ओर ही विशेषरूप से आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस सम्बन्ध से किसी अपूर्वभाव का उदय न हो वह योगसम्बन्ध है। जिस सम्बन्ध से किसी अपूर्वभाव का उदय हो, वह याग सम्बन्ध है। दो विजातीय बल परस्पर में युक्त होकर किसी अपूर्वभाव के कारण बनते हुए स्वस्वरूप मे ज्यों के त्यों बने रहें, यह सम्बन्ध योग है। दो विजातीय बल परस्पर में मिलकर अपूर्वभाव के जनक बनते हुए अपने कारण स्वरूप को खो बैठें, वह सम्बन्ध याग है। योग सम्बन्ध विज्ञान परिभाषानुसार **'संशरबन्ध'** (श्लथबंधन-ढीलाबंधन) नाम से प्रसिद्ध है, एवं यागसम्बन्ध **'चितिबन्ध'** (दृढ़बंधन -ग्रन्थिबन्धन) नाम से व्यवहृत होता है। पानी में विजातीय अग्नि प्रविष्ट होजाता है, पानी के परमाणु परमाणु के साथ अग्नि का सम्बन्ध होजाता है, पानी गरम होजाता है। परन्तु इस सम्बन्ध से कोई अपूर्वता उत्पन्न नहीं होती। पानी-अग्नि मिलते हुए भी न मिलने के समान हैं। दोनों का स्वरूप ज्यों का त्यों सुरक्षित है। थोड़ी देर में वह अप्प्रविष्ट अग्नि वाष्परूप में परिणत होकर निकल जाता है, फिर पानी ठंडे का ठंडा, कोई अपूर्वता नहीं। यही बहिर्याम नाम का संशरबंधन योग-बंधन है। जब तक शुक्रशोणित में योग बन्धन रहता है, तब तक शुक्रशोणित का सम्बन्ध प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बन सकता। आप्यपरमाणु और आग्नेय परमाणुओं का ग्रन्थिबंधन रूप अन्तर्याम सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध से **'अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्'** (वैशेषिक दर्शन) इस सिद्धान्त के अनुसार दोनों अपने पूर्वरूप का परित्याग करते हुए

तरल पानी के रूप में परिणत होजाते हैं। बहता हुआ पानी आप्य-आग्नेय परमाणुओं का समन्वितरूप है। दूध में अग्नि प्रवेश करता है, दूध अग्नि दोनों मर जाते हैं, तीसरा अपूर्व-भाव उत्पन्न होजाता है, जो कि शर (थर- मलाई- बालाई) नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र शोणित का मिथुनभाव अपनें पूर्वरूप का परित्याग कर संततिरूप में परिणत होजाता है। यही चिति सम्बन्ध है। इसी याग नाम के चितिसम्बन्ध से संसृष्टिलक्षणा सृष्टि होती है।

परात्पर पर दृष्टि डालिए। वह सर्वबलविशिष्टरसरूप है। इस का इन बलों के साथ नित्य सम्बन्ध है। साथ ही में बलों में भी परस्पर सम्बन्ध-वियोग होता रहता है। बल संख्या में अनन्त हैं। उन में कितनें ही बल विजातीय हैं, कितनें ही बल सजातीय हैं। दोनों का परात्पर में मेल होता रहता है। समुद्रगत वीचिवत् (लहरों की तरह) वे बल परस्पर में मिलते रहते हैं, बिछुड़ते रहते हैं। यह सब कुछ होने पर भी (परात्परस्थित) उन बलों के समन्वय से अपूर्वसृष्टि नहीं होती। कारण इन बलों का यह सम्बन्ध केवल योग (संशर) बंधन है। इसीलिए हमनें परात्पर को विश्वातीत कहा है। परात्पर असीम है। इसी असीमभाव के कारण (उसमें रहनें वाले) बलों का ग्रन्थिबंधनरूप सृष्टिमूलक चितिसम्बन्ध कथमपि संभव नहीं है। कारण स्पष्ट है। बलों के ग्रन्थिबंधन के लिए नियत सीमाभाव अपेक्षित है। एक कुम्भकार (कुम्हार) नियत चक्रपर मृत्पिण्ड रख कर ही घट बनानें में समर्थ होता है। यदि मृत्परमाणु नियत प्रदेशमें न मिलें तो घट निर्म्माण असंभव है। यद्यपि कुर्वद्रूपता बलों का स्वाभाविक धर्म है। इसी स्वभावधर्म से प्रेरित होकर बल एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु एक बल के आघात से दूसरा बल आगे निकल जाता है। सब बलों में यही क्रीड़ा होती रहती है। असीम परात्पर में बलों को दौड़ लगानें के लिए असीम धरातल मिल जाता है। अत एव इनमें ग्रन्थिबंधन होनें का अवसर नहीं मिलता। अत एव परात्परस्थ बलों का सम्बन्ध सृष्टिनिर्म्माण में असमर्थ रहता है। बड़ी विषम समस्या उपस्थित है। परात्पर असीम होनें से निष्काम है। साथ ही में उसके बलों का सम्बन्ध केवल संशरबंधन होनें से विश्वरचना में असमर्थ है, फिर विश्व रचना हुई कैसे! इस विषम समस्या के निराकरण के लिए हमें उस जगज्जननी महामाया की ही शरण में जाना

चाहिए। जिसनें जगत् को अपनें उदर में प्रतिष्ठित कर रक्खा है, जिस की भ्रूभङ्गीमात्र से अज कहलानें वाला शाश्वतब्रह्म जन्म-मरण के चक्र में फंस रहा है, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुणादि देवता जिसके क्रीतदास हैं, जो समस्त विश्व की जननी, रक्षिका, संहारकारणी है, वही जगन्माया भगवती उक्त प्रश्न का समाधान करनें में समर्थ है।

परात्पर के निर्वचन करते समय सब बलों के अधिष्ठाता **मायाबलकोश** का दिग्दर्शन कराया गया है। नारङ्गी की प्रत्येक कलिका में अनन्त रसतन्तु हैं। ऐसी अनेक कलिकाओं को अपनें उदर में रखनें - वाला ऊपर का पीत आवरण है। यही परिस्थिति यहां समझिए। १४ बलकोश चोदह कलिकाएं हैं। प्रत्येक कलिका में अनंन्त बल हैं। अनन्त बलयुक्त इन १४ कलिकाओं का महाआवरण वही मायाबलकोश है। ईश्वर (अव्यय), ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवि, चर, अचर सब इस के गर्भीभूत बनते हुए इस के पुत्र हैं। यही अपनी अवान्तर शक्तियों से उक्त देवताओं की पत्नी बन रही है, महारूप से यही सबकी जननी है। यही अव्यक्तावस्था में परिणत होकर रात्र्यागम में प्रलयमूर्त्ति बन कर सब को महानिद्रा में निमग्न कर देती है। इस महामाया का एक मात्र काम है—असीमभाव को ससीम बना डालना। **"मीयते अनया' 'मितकरणी सा' 'मिमीते सा'** इत्यादि निर्वचनों से वह बलतत्त्व 'माया' नाम से व्यवहृत किया जाता है। मायाबल बल है। जैसे रस सल्लक्षण होता है, तथैव बल असल्लक्षण है। इस बल के स्वाभाविक असत्भाव के कारण तो उक्त मायाबल को '**सत्**' नहीं कहा जासकता। प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुतत्त्व का अपलाप भी नहीं किया जासकता। ऐसी अवस्था में छन्द (सीमा—परिणाह—घेर—आयतन—ढांचा) रूप से उपलब्ध होनें वाले, दूसरे शब्दों में सद्रूप से प्रतीत होनें वाले मायाबल को सर्वथा **'असत्'** शब्द से भी व्यवहृत नहीं किया जासकता। सत् और असत् का परस्पर में आत्यन्तिक विरोध है। अतः इस माया को **'सदसती'** (उभयात्मिका) भी नहीं कहा जासकता। इस प्रकार सद्रस—असद्बल की समष्टिरूप परात्पर की तरंह यह भी सद्रूपा, असद्रूपा, सदसद्रूपा बनती हुई, अत एव अव्यावर्त्तक कोटि में आती हुई सर्वथा अनिर्वचनीया बनजाती है। ब्रह्म यदि अनिर्वचनीय है तो माया भी अनिर्वचनीया ही है।

यह सब कुछ होनें पर भी तटस्थ लक्षण द्वारा जैसे अनिर्वचनीय परात्पर ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है, एवमेव इस सत्–असत्–सदसत्–से सर्वथा भिन्न, अत एव विलक्षण माया वस्तु की सत्ता स्वीकार करनीं पड़ती है। माया के इसी अद्भुत स्वरूप का तटस्थलक्षण से निर्वचन करते हुए आप्त पुरुष कहते हैं—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते ॥

श्लोकगत '**काचित**' शब्द तटस्थ लक्षण की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इस विलक्षण मायाबलकोश में अनन्त माया बलप्रतिष्ठित रहते हैं, यह पूर्व में कहा जाचुका है। एक एक मायाबल से एक एक विश्वावच्छिन्न षोडशी पुरुष का स्वरूप निष्पन्न होता है। अनन्त मायाओं के कारण अनन्त पुरुष उद्भूत होजाते हैं। एक एक पुरुष एक एक महेश्वर है। यद्यपि पूर्व में हमनें इस महामायावच्छिन्न तत्त्व को ईश किंवा ईश्वर नाम से व्यवहृत किया है, परन्तु वस्तुतः इस मायी को महेश्वर कहना चाहिए। जैसा कि '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**' इत्यादि रूप से प्रसिद्ध है। यह मायी महेश्वर अश्वत्थमूर्त्ति है। इस अश्वत्थमूर्त्ति मायी महेश्वर के उदर में स्वयम्भू–परमेष्ठी आदि पांच पांच पर्वों को स्वोदर में रखनें वाले एक सहस्र उपेश्वर हैं। स्वयम्भूरूप इन एकसहस्र उपेश्वरों में से प्रत्येक के उदर में चार चार प्रतिमेश्वर हैं। प्रत्येक प्रतिमेश्वरचतुष्टयी के उदर में सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्मूर्त्ति देवसत्यात्मक एक एक ईश्वर है। प्रत्येक ईश्वर के उदर में प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर मूर्त्ति अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीवसंस्था में अनन्त कीटाणु हैं। अनन्त कीटाणुओं का शास्ता जीवप्रजापति है। अनन्त जीवप्रजापतियों का शास्ता ईश्वरप्रजापति है। अनन्त ईश्वरप्रजापतियों का शास्ता प्रतिमाप्रजापति है। अनन्त प्रतिमाप्रजापतियों का शास्ता उपेश्वर प्रजापति है। अनन्त उपेश्वर प्रजापतियों का शास्ता महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर है। परात्पर में ऐसे (महेश्वर स्वरूप संपादक) अनन्त मायाबल हैं। इस प्रकार परात्पर के उदर में मायोपाधिकृत ऐसे अनन्त महेश्वर हैं। इन सब का अन्यतम शास्ता वही परमेश्वर परात्पर है। परात्पर में प्रतिष्ठित केवल एक मायी

महेश्वर का हमारे साथ सम्बन्ध है। इतर मायापुरों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। एक माया के आवरण से हमारा बंधन है, एक के हटजानें से हम बन्धनमुक्त हैं। अत एव और अन्य मायाओं के सम्बन्ध में सर्वथा तटस्थ रहते हुए केवल एक मायाबल से सम्बन्ध रखनें वाली सृष्टिधारा का ही प्रकृत में विचार किया जायगा।

मायाबल बल है, एवं कुर्वद्रूपता बल का स्वाभाविक धर्म है। इस स्वभाव के कारण बलवद्रस में माया बल उदय-अस्त,उदय-अस्त (व्यक्त-अव्यक्त) निरन्तर यह व्यापार करता रहता है। रसग्रहणावस्था मायाबल का उदयकाल है, रसपरित्यागावस्था इस का अस्तकाल है। उदयकाल सृष्टिकाल है, अस्तकाल प्रलयकाल है। मायाबल नष्ट नहीं होता, अपि तु रससमुद्र में लीन होता है। अत एव सृष्ट्यभाव काल को 'प्रलय' शब्द से व्यवहृत किया गया है। मायाबल के उदयकाल से आरम्भ कर अस्तकाल पर्य्यन्त मायी महेश्वर एवं उस के ब्रह्माण्ड की सत्ता रहती है। यह है सृष्टि का अनाद्यनन्त नित्य प्रवाह। कल्पना करलीजिए-अभी उस परात्पर में हमारे विश्व का स्वरूप सम्पादक मायाबल अस्त होरहा है। उस समय क्या परिस्थिति रहती है? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है—

"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् ...." ॥

(ऋक्सं० १० मं० । १२ सू० । १-२-३-मन्त्र)

" मायाबल अपनें लयलक्षण में लीन है। सत्,असत्,रज,व्योम,अम्भ,मृत्यु, अमृत, रात्रि, दिन आदि किसी का पता नहीं है। उस एक अनिर्वचनीय (परात्पर) तत्त्व से अतिरिक्त कुछ

नहीं है । वह (अव्यक्तरूप) अन्धकार उस बलान्धकार से गुहानिहित बन रहा है। तुच्छ नाम से प्रसिद्ध मायाबल नें अपनें अस्तभाव के साथ साथ आभू नाम से प्रसिद्ध रसतत्त्व को भी आवृत कर रक्खा है । न रस का पता है, न बल का पता है । आज सृष्टिकाल में प्रतिष्ठित रहते हुए हम (वेदमहर्षि) उस पूर्वावस्था के सम्बन्ध में अपनी तटस्थबुद्धि के आधार पर कह सकते हैं कि उस समय किसी अनिर्वचनीय (परात्पर) एक तत्व के अतिरिक्त और कुछ न था "।

फिर क्या हुआ ? इस का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है---

"..................................तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् ।

रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥"

(ऋक्सं० १० मं० । १२९ सू० । ३-४-५-मन्त्र)

जिस प्रकार अपनें स्वभावधर्म से प्रेरित होकर मायाबल किसी समय अस्त होगया था, उसी स्वभावधर्म से प्रेरित होकर वह अपनें आप उद्भूत होगया । व्यक्त का अव्यक्त रूप में परिणत होजाना, अव्यक्त का व्यक्त रूप में परिणत होजाना, पुनः व्यक्त का अव्यक्त रूप में, अव्यक्त का व्यक्त रूप में परिणत होजाना यह तो बल का नित्यधर्म है । इस परिवर्त्तन के लिए अन्य की प्रेरणा कोई अपेक्षा नहीं रखती । सुप्त मायाबल कैसे, किसी की प्रेरणा से उदित हुआ ? यह प्रश्न ही निरर्थक है । बल ही स्वयं अपनें तपोलक्षण व्यापार से अपनी स्वरूप महिमा से जैसे अस्त हुआ था, वैसे ही उदित होजाता है। सुप्तावस्था में जो तत्त्व 'बल' कहलाता है, जाग्रदवस्था किंवा कुर्वद्रूपलक्षण उदयावस्था में वही बल '**प्राण**' नाम से व्यवहृत होनें लगता हैं, एवं प्राणव्यापार ही ' तप ' कहलाता है । बल का प्राणदशा में परिणत होजाना ही इस का तप है । यही इस की स्वमहिमा है । इसी से वह अपनें अव्यक्त बलरूप को प्राण

रूप में परिणत कर अपने आप उत्पन्न होजाता है। बल का प्राणरूप में परिणत होजाना इस की महिमा (स्वभाव- स्वरूपधर्म) है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर **'तपस्तन्महिमा (महिम्ना) जायतैकम्'** यह कहा गया है। हां इस सम्बन्ध में एक प्रश्न अवश्य उठाया जासकता है। उस प्रश्न का स्वरूप यही है कि—"बल क्रियारूप अवश्य है। परन्तु क्रिया विना कामना के नहीं। विना इच्छा के क्रिया कथमपि संभव नहीं है। इच्छा विना ज्ञान के अनुपपन्न है। सृष्टिकर्म हो, अथवा सृष्टि में होने वाला कोई अवान्तर कर्म हो उसमें- **'ज्ञान से इच्छा, इच्छा से यत्न, यत्न से क्रिया, क्रिया से कर्मसिद्धि'** यह क्रम अवश्य मानना पड़ेगा। इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार सृष्टिप्रवर्त्तक मायाबल का उदय असंभव बन जाता है। कारण परात्पर का रसभाव ज्ञानमूर्ति होता हुआ भी व्यापक है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना का जन्म होता है। व्यापक परात्पर के लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। जब उस के लिए कुछ प्राप्तव्य ही नहीं तो वहां कामना कैसी। कामना का मूल मन, मन की प्रतिष्ठा हृदय (केन्द्र) बतलाया गया है। व्यापक में हृदय भाव नहीं होता। ऐसी अवस्था में किसी की कामना से अस्त मायाबल अपने क्रियालक्षण स्वरूपधर्म को व्यक्त करने में समर्थ हुआ। तैललिप्त दीपवर्त्ती का जल उठना स्वधर्म है, इसका कौन प्रतिवाद करता हैं। परन्तु उस अव्यक्त ज्योति के व्यक्तभाव में आने के लिए तो अन्य (दीपशलाका आदि) की प्रेरणा अपेक्षित रहती है। तथैव हम यह अवश्य मान ते हैं कि अस्त मायाबल का उदयभाव में आना स्वरूपधर्म है। परन्तु विना काम युक्त ज्ञानप्रेरणा के वह कैसे व्यक्त होसकता है। उधर परात्पर कामनाशून्य है ? इसी असमाधेय प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर वेदमहर्षि कहते हैं:—

> "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
> अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाया को वेद यत आबभूव ॥ १ ॥

१—अकामस्य क्रिया का चिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ (मनुः २। ४।)।

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ २ ॥"

(ऋक्सं. १०।१२९ सू. मं. ।६–७–मन्त्र)

"जिस प्रकार हम लौकिक घट पटादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से निश्चित कार्यकारणभाव (इस से यह इस तरह उत्पन्न हुआ इस रूप से) बतलानें में समर्थ होजाते हैं; तद्वत् उस माया रूपा आदिसृष्टि के कार्यकारण के सम्बन्ध में अद्धारूप से (इदमित्थं–इस प्रकार स्पष्टरूप से) कौन जानता है, एवं जान कर किसनें आजतक इस विषय का वाणी द्वारा स्पष्टीकरण किया है ? (किसीनें नहीं) । यह सृष्टि किस उपादान कारण से उत्पन्न हुई ? किस निमित्त कारण से सृष्टिव्यापार संचालित हुआ । यह किसनें जाना, एवं किसनें कहा है ? (किसीनें नहीं) । सौरदेवताओं नें सृष्टि उत्पन्न की होगी, अतः संभवतः वे इस सम्बन्ध में कुछ जानते होंगे, यह संभव नहीं है । कारण मायासृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न होनें वाले देवता उस आदिसृष्टि के उत्पन्न करनें में सर्वथा अनाथ (असमर्थ) हैं । सृष्टि के अनन्तर उत्पन्न होनें वाले देवता भी उस आदि रहस्य को कैसे जान सकते हैं । जब देवता ही नहीं जानते तो 'यह सृष्टि जिस से उत्पन्न हुई है' इस गुप्त रहस्य को मनुष्य कैसे जान सकते हैं । विविधभावापन्ना अत एव विसृष्टि नाम से प्रसिद्धा यह सृष्टि जिस अलौकिक तत्त्व से उत्पन्न हुई है, उसनें इसे धारण कर रक्खा है, या सृष्टि यों ही निरावलम्ब ही ठहरी हुई है ? यह भी नहीं कहा जासकता । (कहां तक कहें) इस सृष्टि का परमाकाशरूप जो अध्यक्ष (आदिकारण) है, वह भी उक्त रहस्यों को जानता है या नहीं, यह भी नहीं कहा जासकता" । सृष्टि कैसे बनी ? इस के सम्बन्ध में कैसा समीचीन उत्तर है । सचमुच परात्पर की इस मायासृष्टि का निर्वचन करना असंभव है । यदि एक पुत्र अपने मातापिता की उत्पत्ति निश्चित रूप से बतलाना चाहे तो क्या वह बतला सकेगा ? अनुमान लगा सकता है, इसी लिए ऋषि नें 'अद्धा' पद का समावेश कर दिया है । **"स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया"** । तेल में ही जलनें का धर्म क्यों हैं, पानी क्यों नहीं जलता, तेल में हीं स्नेहगुण क्यों है–पानी में स्नेहनधर्म क्यो नहीं ? यह अतिप्रश्न है। इस का

कोई समाधान नहीं। ऐसे विषयों में तर्कबुद्धि सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। जब ऋषियों से ऐसे प्रश्न किए जाते थे तो—'**मातिप्राक्षीः, मूर्द्धा ते विपतिष्यति**' यह कह कर वे रोक दिया करते थे। इसी अभिप्राय से आप्त पुरुष कहते हैं—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

आप उस अद्वैतमूला आदिसृष्टि का कार्यकारणभाव जानना चाहते हैं, यह कैसे संभव होसकता है, जब कि "मैं यह जानना चाहता हूँ" इस द्वैतभाव को आप सामने रख रहे हैं। क्या विश्व में रहते हुए विश्वातीत के गुहानिहित रहस्यों को (जिन की कि अविज्ञेयता पद पद पर घोषित की गई है) आप जानना चाहते हैं? ध्यान में रखिए ऋषि के निम्न लिखित आदेश को—

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा किं स्तूयसे तदा ॥१॥
यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पाति यो जगत् ।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥२॥
अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥३॥

(सप्तशती)

महामाया के गुप्तरहस्य की अविज्ञेयता का निरूपण होचुका। अब पुनः प्रकृत पर आइए। अपनी तपोमयी स्वाभाविक महिमा से मायाबल का उदय हुआ, जैसा कि '**तपसस्तन्महिमा जायतैकम्**' इत्यादि रूप से बतलाया जाचुका है। व्यापक परात्पर के जिस प्रदेश में माया का उदय हुआ, परात्पर का वह प्रदेश मितकारिणी माया से उसी प्रकार सीमित होगया, जैसे एक पत्र (कागज) पर परकाल से बनाए हुए रेखारूप वृत्त से पत्र का प्रदेश सीमित होजाता है। यही मायावृत्त एक रेखात्मक सीमाभाव है। रेखा किंवा लेखा ही 'पुर' है, जैसा कि—

"लेखा हि पुरः" इस निगम वचन से स्पष्ट है। इस लेखात्मक मायापुर में सीमित होता हुआ वह परात्पर का भाग 'पुरि शेते' इस व्युत्पत्ति से 'पुरिशयः' नाम से प्रसिद्ध होजाता है। यही शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'पुरुष' नाम से व्यवहृत होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

१—"स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः" (शत. १४।५।५।१८।)।

२—"इमे वै लोकाः पूः। अयमेव पुरुषो योऽयं—
पवते। सोऽयं पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः" (शत. १३। ६। २। १।)।

३—"स पुरि शेते–इति पुरुशयं संतं "पुरुष"
इत्याचक्षते" (गो. ब्रा. पू. १। ३९।)।

सुषुप्तिकाल में पुरुष अपनापन भूल जाता है। इन्द्रियों के व्यापार अवरुद्ध होजाते हैं। तथैव परात्पर भी मायापुर से सीमित बन कर (तत्प्रदेशापेक्षया) अपना व्यापकरूप खो बैठता है, परतन्त्र बनजाता है, यही इसका शयन है। इसी पारतन्त्र्यरूप शयनभाव को लक्ष्य में रखकर "शेते" कहागया है। मायाबल से सीमित परात्पर रस-बलमूर्त्ति ही है। रस-बल से अतिरिक्त तीसरी वस्तु हो कैसे सकती है। जिस समय मायाबल का घेरा लगता है, तद्व्यवहितोत्तरकाल में ही हृदयबल उदय होजाता है। सीमा होते ही केन्द्र बनजाना- यह पदार्थों का नित्यधर्म है। इसी हृदयबल का नाम प्रकृति है। यद्यपि सामान्यदृष्टि से माया और प्रकृति को एक वस्तु मानलिया जाता है, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर दोनों का पार्थक्य सिद्ध होजाता है। जो अन्तर माता और पत्नी में है, वही अन्तर माया और प्रकृति में है। माया पुरुष की माता है, प्रकृति पुरुष की पत्नी है। प्रकृति को पुरुषपुरातन की वधु माना जाता है। प्रकृति सहचारिणी है, यही प्रकृतिभाव आगे जाकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र (इन्द्र) भेद से महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली इन तीन स्वरूपों में परिणत होकर जगत् का संचालन करता है। हृदयबल को प्रकृति कहा है। हृदय में हृ-द-य इन तीन बलों का अन्तर्भाव है। हृ विष्णु-

बल है, द इन्द्र (रुद्र) बल है। य ब्रह्मबल है, ह-य की समष्टि सोमबल है, ह-द की समष्टि अग्निबल है, पांचो की समष्टि " हृदयम् " है। जब बल कभी रस के बिना नहीं रहता तो सुतरां हृदयबल भी रस युक्त मानना पड़ता है। इस प्रकृतिरूप रसबलात्मक हृदय की दो अवस्थाएं हैं। " बलगर्भितरसवद्हृदय " पहिली अवस्था है, " रसगर्भितबलवद्हृदय " दूसरी अवस्था है। पहिली अवस्था अमृतप्रधान है, दूसरी अवस्था मृत्युप्रधान है। व्यापार से पहली अवस्था अमृतावस्था है, यही प्रकृति की अव्यक्तावस्था है। इस अवस्था में रस की प्रधानता से बल निर्बल अत एव प्रसुप्त सा रहता है। व्यापारावस्था मृत्युअवस्था है, यही प्रकृति की व्यक्तावस्था है। इस अवस्था में बल की प्रधानता से रस गौण बन जाता है। इस प्रकार रस बल की प्रधानता अप्रधानता से हृदयरूपा एक ही प्रकृति की अमृत-मृत्यु भेद से अव्यक्त-व्यक्त यह दो अवस्थाएं होजातीं हैं। अव्यक्तावस्था को अमृतप्रधान होनें से, अत एव क्षीयमाण न होनें से " अक्षर " कहा जाता है, व्यक्तावस्था को मृत्युप्रधान होनें से, अत एव क्षीयमाण होनें से " क्षर " कहा जाता है। अक्षर " पराप्रकृति " नाम से, एवं क्षर " अपरा-प्रकृति " नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मादि अमृतभावापन्न पांचकलाएं अक्षर कीं हैं, ब्रह्मादि मृत्युभावापन्न पांच कलाएं क्षर कीं हैं। १० कलावच्छिन्न व्यक्ताव्यक्तमूर्त्ति यही प्रकृतिभाव पुरुष-समन्वय से सृष्टि का संचालन करता है, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं--

> "सर्वभूतानां कारणमकारणं, सत्त्व-रज-स्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुः—" अव्यक्तं " नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानम्। तस्मादव्यक्तात्-महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाहङ्कार उत्पद्यते। स त्रिविधः—तैजसो भूतादिः........................ "।
>
> (सुश्रुत—शारीरस्थान १ अध्याय)।

प्रकृति के इस अमृतमय अक्षरभाग को 'चेतना' कहा जाता है। दर्शनव्यवहार में यद्यपि आज दिन चित्—चेतना को एकवस्तु माना जाता है, परन्तु वस्तुतः दोनों के स्वरूप में महा

अन्तर है। चिति करनें वाला तत्त्व चेतना है, जिस की चिति होती है वह तत्त्व चित् है। चेतना से चित् (चिदात्मा) का स्वरूप संपन्न होता है। चीयमान तत्त्व चित् है, चिति करनें वाला तत्त्व चेतना है। मायी सीमित तत्त्व पर ध्यान दीजिए। प्रकृतिरूप हृदयवलावच्छिन्न रसवलमूर्ति उसी मायी तत्त्व का नाम 'पुरुष' है। अभी किसी प्रकार की चिति नहीं हुई है। अभी वह पुरुष शुद्धरसवलमय है। इसी निष्कल किंवा एककल अवस्था को। (हृदयवल से अवच्छिन्न होनें के कारण) **'मन'** कहा जाता है। यही मन **'श्वोवसीयस'** 'श्वोवस्यसब्रह्म' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। अब तक जो परात्पर व्यापक होता हुआ अत एव हृदयावच्छिन्न मनोभाव से शून्य रहता हुआ सर्वथा निष्काम था, आज वही (उसी का एक प्रदेश) माया से सीमित वनकर हृदयावच्छिन्न मनोभाव में परिणत हुआ पुरुषनाम से प्रसिद्ध होता हुआ सकाम वनगया है। इस मनोमयपुरुष का पहिला रेत (वृत्ति) यही काम (कामना) है। व्यापक परिच्छिन्न वनगया। आज वह उसी व्यापक स्वरूप में आनें की इच्छा कर रहा है। यही इस की पहिली इच्छा है। जिस का कि अभिनय—**'एकोऽहं वहुस्याम्'** इत्यादि रूप से किया जाता है। मायावच्छिन्न मनोमयपुरुष के इसी इच्छाभाव का निरूपण करते हुए ऋषिनें कहा है—

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"।

कामना किससे निकली? उत्तर है **'मन'**। मन का क्या स्वरूप है? उत्तर है-**रसवल का समुच्चय**। इस वल के द्वैभाव से उक्थरूप मन से निकलनें वाली कामना के भी दो रूप होजाते हैं। मन से निकलनें वाली इच्छा एक प्रकार का निराकार प्राणसूत्र है। ऐसे दो सूत्र मन से निकलते हैं। रससूत्र-वलसूत्र यही कामना के दो रूप हैं। दोनों ही वल-रस से युक्त हैं। कारण न रस वल के विना रह सकता, एवं न वल रस के विना रहसकता। ऐसी अवस्था में रससूत्र का अर्थ है-वलगर्भितरससूत्र, एवं वलसूत्र का अर्थ है रसगर्भितवलसूत्र। यही दोनों इच्छासूत्र शास्त्रों में मुमुक्षा-सिसृक्षा इन दो नामों से व्यवहृत हुए हैं। वलानुग्राहिणी रसवती कामना मुमुक्षा है, रसानुग्राहिणी वलेच्छा सिसृक्षा है। रस असंग है, वंधन से पृथक् रहना इस का स्वरूपधर्म है, अत एव एतन्मयी इस मुमुक्षा से हृद्ग्रन्थिविमोकपूर्वक मुक्तिभाव संपन्न होता है। वल ससंग है, वंधन

करना इस का स्वरूपधर्म, है अत एव एतन्मयी सिसृक्षा हृद्ग्रन्थिप्रवृत्तिपूर्वक सृष्टि का कारण बनती है। इस प्रकार रस- बल के गौण-मुख्यभाव से मनोमयी कामना दो भागों में विभक्त होजाती है। मुमुक्षाबल निवर्त्तकबल है, सिसृक्षाबल प्रवर्त्तकबल है। वह दोनों की दृष्टि से समतुलित है। **'समत्वं योग उच्यते'**। इसी समता से रहता हुआ भी द्वन्द्वभाव उस का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। **" योगः कर्मसु कौशलम् "** यह सिद्धान्त इसी रहस्य को प्रकट करता है।

काममय पुरुष (मन) से मन का उदय हुआ। फिर आगे क्या हुआ ? पूर्वप्रतिपादित प्रकृति से इस प्रश्न का उत्तर पूछिए। कामना के अनन्तर प्रकृति रूपा वही चेतनामयी इच्छाक्ति किंवा हृदयबल अपना कार्य आरम्भ कर देता है। आदान-विसर्ग-स्तम्भन यह तीन कर्म इस के प्रधान हैं। अपने क्षरगर्भित अक्षरभाग से प्रकृति मायापरिधि तक व्याप्त रहने वाले रस की उस मनपर चिति करती है, एवं वही प्रकृति अपने क्षरप्रधान अक्षर भाग से बल की चिति करती है। दूसरे शब्दों में यों कहा जासकता है कि मन की मुमक्षामयी कामना से अक्षरद्वारा मनपर रस की चिति होती है, एवं मन की सिसृक्षामयी कामना से अक्षरद्वारा मन पर बल की चिति होती है। रसचिति अन्तश्चिति है, बलचिति बहिश्चिति है। रस ज्ञानप्रधान होते हुए विद्याभाग है, बल क्रियाप्रधान होता हुआ कर्म्मभाग है। इस प्रकार इन दो चितियों से वह निष्कल मनोमय पुरुष **विद्यात्मा-कामात्मा-कर्म्मात्मा** इन तीन कलाओं में परिणत होजाता है। इस प्रकार अक्षरप्रकृति ने मन की उभयकामना से प्रेरित होकर सत् रस का असद्बल के साथ ग्रन्थिबंधन कर दिया। इसी सदसद्बन्धनलक्षण चिति से वह पुरुष **' चिदात्मा '** नाम से प्रसिद्ध होगया। उक्त रसचिति के रस-बल के क्रमिक तारतम्य से दो भेद होजाते हैं। किसी हद तक रस के साथ बल भी उदित रहता है। अन्तश्चितिरूप रसचिति की यही प्रथमावस्था है। इसी को **"विज्ञानचिति"** कहा जाता है। आगे जाकर बलभाग सर्वथा रस में लीन होजाता है, विशुद्धरस की (बलगर्भितरस की) प्रधानता रहजाती है, यही अवस्था **"आनन्दचिति"** नाम से प्रसिद्ध है, यही रसचिति की दूसरी अवस्था है। इसी प्रकार बलचिति की भी बलरस के तारतम्य से दो अवस्थाएं होजाती हैं। बल में रस का आंशिक रूप से

उदित रहना पहिली अवस्था है , यही "**प्राणचिति**" है । जब रस सर्वथा लीन होजाता है, केवल बलभाग की ही प्रधानता रहजाती है तो वह चिति–"**वाक्चिति**" नाम से व्यवहृत होती है । इस प्रकार रस–बलचिति के द्वैवीभाव से वह पुरुष आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् इन पांच कलाओं में परिणत होजाता है । आनन्द–विज्ञान मन मुमुक्षा की विभूति है , मन–प्राण वाक्–यह सिसृक्षा की विभूति है । अपनी आनन्द–विज्ञान–मनो कला से पुरुष प्रत्येक पदार्थ में विभूति सम्बन्ध से व्याप्त है, एवं मन–प्राण–वाक् कला से वही सब में योगसम्बन्ध से व्याप्त है । आनन्द विज्ञान–मन की अपेक्षा से सर्वथा उदासीन बनता हुआ, मन–प्राण–वाक् की अपेक्षा से वह सर्वत्र आसीन है— (उदासीनवदासीनम्) ।

पुरुष का पांच कलाओं में परिणत होजाना बल की कृपा है । वस्तुतः यह कलाविभाग बलों से ही सम्बन्ध रखता है । बलदृष्टि से जहां वह विभक्त है, रसदृष्टि से वह सर्वथा अविभक्त है- (**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्**) । वही आनन्द है, वही विज्ञान है, वही मन है, वही प्राण है, वही वाक् है । इसी निष्कलभाव का निरूपण करनें वाली तैत्तिरीयश्रुति नें कोशब्रह्म का निरूण करते हुए उक्त पांचों कोशों के साथ—" **तेनैष पूर्णः । स एष पुरुषविध एव, तस्य पुरुषविधतामनु–अयं पुरुषविधः** " (तै. उ. **ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाक**) इस रूप से एक ही पुरुष को अवारपारीण (**इस छोर से उस छोर तक व्याप्त**) बतलाया है । अपि च यह पुरुष प्रकृति द्वारा लिङ्गभेद (**स्त्री-पुम्-नपुंसक**) से युक्त प्रजा में किसी लिङ्गभेद की अपेक्षा न रखता हुआ सर्वत्र समानरूप से व्याप्त रहता है । घट-पट-मठ-आदि अभिव्यक्तिरूप जितनी विभक्तिएं(**व्यक्तिएं—विभक्तपदार्थ**) हैं, उन सब में यह अविभक्तरूप से व्याप्त रहता है । इसी प्रकार अर्थसृष्टिवत् वचनरूप शब्दसृष्टि में भी वह समानरूप से ही व्याप्त रहता है । इसीलिए " **न कुत्रापि केनापि प्रकारेण वैविध्यं याति, विविधतां गच्छति** " इस व्युत्पत्ति से बलोपाधिकृतपञ्चकल, किन्तु रसदृष्ट्या सर्वथा निष्कल रस-बलमूर्ति वह मायी पुरुष " **अव्यय** " नाम से प्रसिद्ध है । अव्ययपुरुष की इसी अव्ययता का निरूपण करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥"

(गो०ब्रा०पू०१प्र०। २७ ब्रा०)।

पञ्चकल अव्ययपुरुष की पञ्चकलता प्रकृतिरूप अक्षर के आधार पर निर्भर है। वही चिति का प्रवर्त्तक बना है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। जबतक प्रकृति है-तभी तक पुरुष है, दोनों नित्य सहचारी हैं। मायाबल की अनादिता से दोनों ही अनादि-नित्य हैं-जैसा कि 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इत्यादि स्मार्त्त वचनों से स्पष्ट है। पूर्वप्रतिपादनानुसार प्रकृति के अक्षर-क्षर दो विवर्त्त हैं, दोनों ही पञ्चकल हैं, इन दोनों की समष्टि अन्तरंगप्रकृति है। यही पुरुष का स्वभाव (स्व-(अपना) भाव) है। यह कभी पुरुष से पृथक् नही होसकती। अत एव (अक्षर-ओर क्षर के प्रकृति रूप होने पर भी) इन्हें-'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इत्यादि रूप से व्यवहृत कर दिया जाता है। जिस प्राकृतात्मा का हम इस प्रकरण में निपरूण करने वाले है, उस का इन अक्षर-क्षरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह दोनों तो अमृतकोटि में ही (पुरुष-आत्मा-कोटिमें ही) प्रविष्ट हैं। "आत्मा अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है। इधर क्षर को हमनें क्षीयमाण बतलाया है। ऐसी अवस्था में क्षर कैसे आत्मकोटि में प्रविष्ट माना जा सकता है"? यदि आत्मस्वरूपानभिज्ञ कोई व्यक्ति यह प्रश्न करे तो उत्तर में हम यह कहेंगे कि अवश्य क्षर से विकार निकलते हैं। परन्तु अनन्त-विकारों के निकल जाने पर भी क्षर अपनें उसी अविकृतरूप में रहता है, जो कि उस का अविकृतरूप विकारसृष्टि से पहिले था। विकारउत्पादकता ही अनात्मभाव का कारण नहीं है। अपि तु कार्योत्पत्ति के अनन्तर जो कारण अपनी कारणता खो बैठता है-वही कारण अनात्मा माना जासकता है। क्षर का परिणामवाद केवल परिणामवाद नहीं है, अपि तु अविकृतपरिणामवाद है। अतः इस अन्तरङ्गप्रकृतिभूत क्षर को (आत्मक्षर को) आत्मकोटि से बाहर नहीं निकाला जासकता। अब तक के सन्दर्भ से पाठकों

को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि मायी परात्परतत्त्व ही आरम्भ में निष्कल रहता हुआ हृदयवलरूप प्रकृति द्वारा होनें वाले सदसत् के सम्बन्धतारतम्य से प्रकृतिपुरुषरूप में परिणत होजाता है। प्रकृति की अमृत-मृत्यु भेद से १० कलाएं हैं। स्वयं पुरुष इसी प्रकृति की कृपा से पञ्चकल है। जिस प्रकार सूर्य्य के अंश से निष्पन्न सूर्यप्रतिबिम्ब व्यापक सूर्यसत्ता से पृथक् नहीं माना जासकता, एवमेव परात्पर के प्रवर्ग्यांश से निष्पन्न उक्त पञ्चदशकल आत्मा भी व्यापक परात्पर के अनुग्रह से रहित नहीं माना जासकता। यही सोलहवीं परात्परकला है। इस परात्पर के सम्बन्ध से ही सदसन्मूर्ति वह पुरुष "**षोडशी पुरुष**" किंवा "**षोडशी प्रजापति**" नाम से व्यवहृत होता है। षोडशीप्रजापति का परात्परभाग अमात्ररूप अर्द्धमात्रिक है, अव्यय अकार है, अक्षर उकार है, आत्मक्षर मकार है, समष्टि ओङ्कार है। "**तस्य वाचकः प्रणवः**" यह पातञ्जल सिद्धान्त सर्वविदित है। अतीतानागतज्ञ महर्षियोंनें अपनी सूक्ष्मबुद्धि से सत् का असत् के साथ बंधन देखा, एवं उन्होंनें ही उक्त पुरुषसृष्टि का रहस्य हमारे सामनें रक्खा। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है—

"सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा"

जिज्ञासु नचिकेता के—

"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥१॥

यह प्रश्न करनें पर—

"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥
"**ओम्**"—इत्येतत् ॥" (कठोपनिषत् १।२।१४-१५)।

यमराजनें प्रणवमूर्त्ति उक्त षोडशी पुरुष को ही सामनें रक्खा है। यह पुरुष (पुर से-अवच्छिन्न) पुरुष है, अत एव नियतधर्मा है, अत एव सर्वथा निर्वचनीय है। असीमभावापन्न

परात्पर जहां अव्यावर्त्तक वनता हुआ सर्वथा प्राचीन होनें से अनिर्वचनीय था, यह पुरुष ससीम अत एव अर्वाचीन होता हुआ सर्वथा निर्वचनीय है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर पुष्पदन्त कहते हैं—

".. ।
.... ॥
.... ।
पदे त्ववर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः" ॥

(महिम्नस्तोत्र)

क्षर **प्रथमपुरुष** है, इस पर अव्यय के वाक्भाग का अनुग्रह रहता है। अक्षर **मध्यमपुरुष** है, इस पर अव्यय के प्राणभाग का अनुग्रह रहता है। अव्यय **उत्तमपुरुष** होता हुआ **पुरुषोत्तम–पुराणपुरुष** नामों से प्रसिद्ध है, इस में मन की प्रधानता रहती है। इस पुरुष के विद्याभाग को लेकर अक्षर सृष्टिबंधन तोड़ता है, एवं कर्म्मभाग को लेकर सृष्टि (बंधन) का कारण वनता है। अक्षर आनन्दमय है, विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, वाङ्मय है। अव्यय आनन्दघन, विज्ञानघन, मनोघन, प्राणघन, वाग्घन है। जहां अव्यय सृष्टि का आलम्वन है, वहां अक्षर सृष्टिकर्त्ता है। सृष्टिकर्त्ता अक्षर अपनें जिस मर्त्यभाग से सृष्टि का उपादान वनता है, वही तीसरा आत्मक्षर है। अमृत ब्रह्मा–विष्णु आदि पांचों अक्षर निमित्त कारण हैं, मर्त्य ब्रह्मा-विष्णु आदि पांचों क्षर उपादान कारण हैं। **"क्षरः सर्वाणि भूतानि"** के अनुसार क्षर विश्व वना है, अक्षर निर्म्माता है, आलम्वन अव्यय है। विश्वालम्वन वनता हुआ अव्यय विश्व में रहता हुआ भी विश्व से वाहर है। कर्त्ता अक्षर विश्व से संलग्न है, विश्व का किनारा है। कार्यक्षर विश्वरूप में परिणत होता हुआ विश्व है। मायामय विश्व की अपेक्षा मायी अव्यय यद्यपि विश्वसीमा के भीतर की वस्तु है, तथापि वैकारिकक्षर से उत्पन्न वैकारिक विश्व की अपेक्षा से आलम्वनरूप अव्यय को विश्वातीत माना जासकता है। एक छोर में विश्वा-

तीत अव्यय है, एक ओर में विश्वरूप क्षर है, दोनों का सीमाविभाजक मध्यस्थ अक्षर है। वह विश्व के उस पार है, अत एव इसे "पर" कहा जाता है। क्षर उस पर से इस ओर है, अत एव इसे "अवर" कहा जाता है। मध्यस्थ अक्षर अवरक्षर की अपेक्षा से पर, पर अव्यय की अपेक्षा से अवर होता हुआ "परावर" है। क्षररूप विश्वसमुद्र की सीमा अक्षर है। अत एव "यः सेतुरीजानानाम्" इत्यादि रूप से अक्षर को सेतु कहा जाता है। यही सेतु हृद्ग्रन्थि-विमोक का कारण बनता हुआ मुक्ति का कारण बनता है। अक्षर के इसी सेतुभाव का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं:—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"
(मुण्डकोपनिषत् २।२।८।)

कहना नहीं होगा कि 'सेतु' शब्द की व्याख्या में प्राचीनों नें जोकुछ कहा है, विज्ञानदृष्टि से उन का कथन अविचारितरमणीय ही है। प्रकरणोपसंहार में यही और समझलेना चाहिए कि उक्त षोडषी प्रजापति सम्पूर्ण विश्व की अपेक्षा से सर्वथा नित्य है, अत एव हम इसे अवश्य ही 'अमृतात्मा' कहनें के लिए तय्यार है। यह अमृतात्मा वैकारिक भौतिक जगत् के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में अन्तर्निगूढ है, अत एव इसे 'गूढोत्मा' नाम से व्यवहृत किया जाता है। जैसा कि श्रुति स्मृति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (कठ. १।३।१२)
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ (गी. ७।२५)

यही प्रकरणप्राप्त तीसरी अमृतात्मसंस्था है। यही आरम्भ में प्रतिज्ञात 'अमृतम्' का का संक्षिप्त निदर्शन है। अब क्रम प्राप्त 'ब्रह्म' रूप प्रकृति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है।
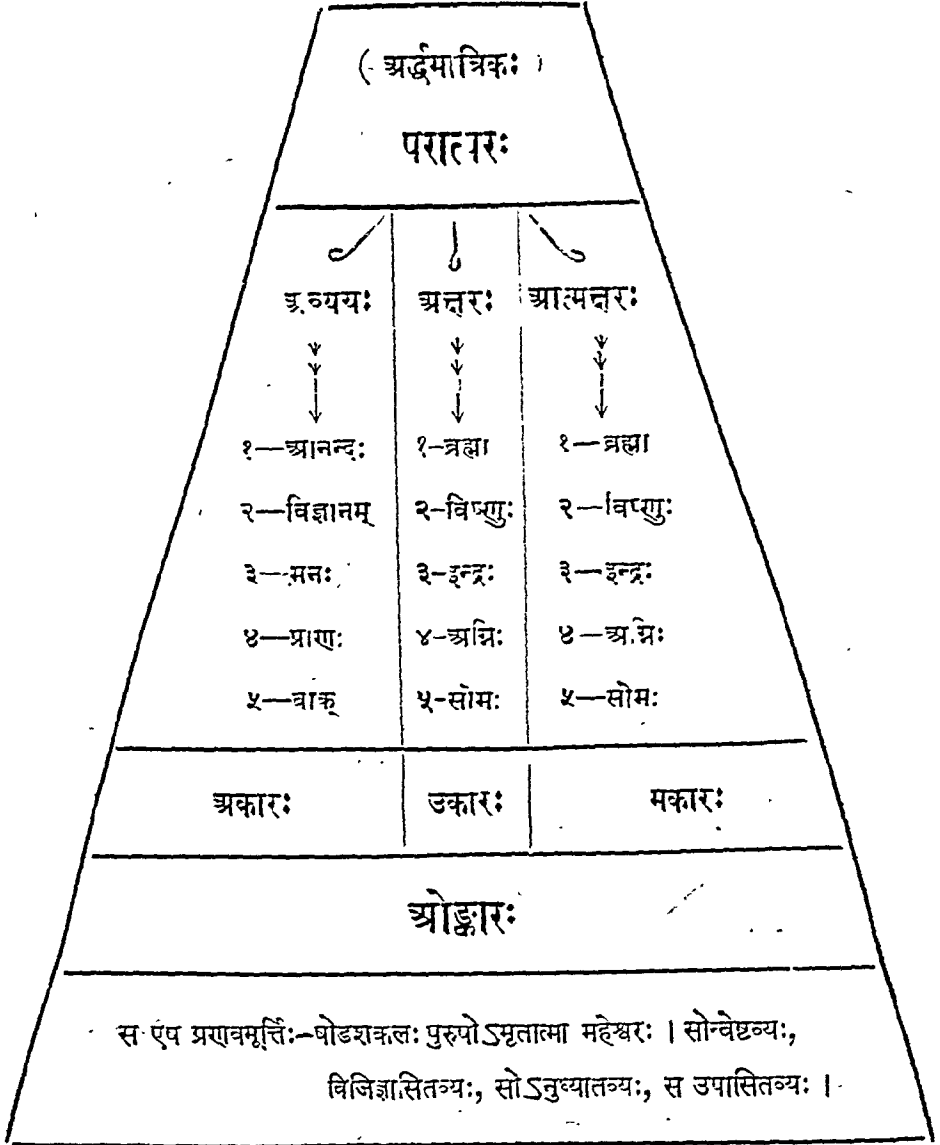
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केन० २।५)

अव्ययपुरुष के नामान्तर

१—आदिपुरुषः	९—धाता	१७—गतिः	२५—बीजम्
२—अनादिपुरुषः	१०—साक्षी	१८—प्रभुः	२६—उपद्रष्टा
३—पुरुषोत्तमः	११—परात्परः	१९—निवासः	२७—अनुमन्ता
४—पुराणपुरुषः	१२—परः	२०—शरणम्	२८—भोक्ता
५—यज्ञपुरुषः	१३—अव्ययः	२१—सुहृत्	२९—महेश्वरः
६—सच्चिदानन्दः	१४—सत्यस्यसत्यम्	२२—प्रभवः	३०—मायी
७—अधियज्ञः	१५—अतिष्ठाता	२३—प्रलयस्थानम्	(इत्यादि)
८—अजः	१६—भर्त्ता	२४—निधानम्	

अक्षरपुरुष के नामान्तर

१—अमृतम्	४—सेतुः	७—अन्तर्यामी	१०—स्रष्टा
२—परावरः	५—अव्यक्तः	८—नियतिःसत्यम्	११—भूतभावनः
३—पराप्रकृतिः	६—परागतिः	९—सूत्रात्मा	१२—विधाता
			(इत्यादि)

आत्मक्षरपुरुष के नामान्तर

१—मृत्युः	४—ब्रह्म	७—विश्वयोनिः	१०—वेदैकवेद्यः
२—अक्षरः	५—अव्यक्तः	८—विश्वात्मा	११—पशुपतिः
३—अपराप्रकृतिः	६—भूतयोनिः	९—भूतात्मा	१२—महादेवः
			(इत्यादि)

इति—अमृतात्मसंस्थाधिकारे
षोडशीपुरुषनिरुक्तिः

१—(३)

इति--अमृतात्मसंस्थाधिकारः प्रथमः

१

—— :०*०: ——

अव्यक्तात्माधिकरणान्तर्गत-

चतुष्पादब्रह्मनिरूपणे

"ब्रह्मा"धिकारो द्वितीयः

"तद्ब्रह्म"

२

—∞○∞—

१—चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणे

ब्रह्म निरुक्तिः (तद्ब्रह्म)

र्व के षोडशीपुरुष निरूपण में अव्यय को विश्व का आलम्बन अत एव विश्वातीत, अक्षर को विश्व का निमित्त कारण अत एव सेतु, एवं आत्मक्षर को विश्व का उपादान कारण अत एव विश्व बतलाया गया है। आज हम इस से विपरीत कहना चाहते हैं। वैकारिक विश्व की अपेक्षा से अव्ययवत् अक्षर और क्षर भी विश्वातीत (विश्व से पृथक्) तत्त्व ही हैं। षोडशीपुरुष विश्व का आत्मा है, विश्वेश्वर है, विश्व इस षोडशी पुरुष का शरीर है। शरीर मर्त्य है, आत्मा अमृत है। अमृतात्मा मर्त्यशरीर में प्रविष्ट रहता है। अमृतात्मरूप षोडशीपुरुष वैकारिक विश्व में प्रविष्ट रहता है, अत एव "विशत्यस्मिन् आत्मा" इस व्युत्पत्ति से इस लोकसमष्टि को 'विश्व' कहा जाता है। षोडशी पुरुष की अव्ययकला आलम्बनरूप से विश्वातीत है, अक्षर की विश्वातीतता सेतुभाव से सम्बन्ध रखती है, एवं आत्मक्षर का विश्वातीततत्त्व मर्त्य वैकारिक विश्व की भिन्नता से सम्बन्ध रखता है। महामाया की अपेक्षा आलम्बन अव्यय विश्व में प्रविष्ट है, विश्वापेक्षया अव्यय अप्रविष्ट है, इसलिए विश्वातीत है। विश्वापेक्षया अक्षर विश्व की सीमा है, अत एव यह विश्व का सेतु (किनारा) कहलाता है। वैकारिक विश्व अपेक्षा से आत्मक्षर विश्व का उपादान है, अत एव वस्तुतः आत्मक्षर ही विश्वप्रविष्ट है। यह आत्मक्षर अक्षर एवं अव्यय से नित्य युक्त है, अत एव अन्ततो गत्वा षोडशीपुरुष ही "विश्वप्रविष्ट" मान लिया जाता है। विश्वप्रविष्ट, अत एव विश्व से पृथक्, अत एव च विश्वातीत षोडशी पुरुष ही विश्वसृष्टि का कारण बनता है। यह बतलाया जाचुका है कि अव्यय आलम्बन है, धरातल है। अक्षर असमवायी कारण है, आत्मक्षर समवायी कारण है। मनप्रधान अव्यय ज्ञानमूर्त्ति है, प्राणप्रधान अक्षर क्रियामूर्त्ति है, एवं वाक्प्रधान आत्मक्षर अर्थमूर्त्ति है। ज्ञानमय अव्ययधरातल पर प्रतिष्ठित हो-

कर अव्यय के ज्ञान से सर्वज्ञ बनता हुआ प्राणमय अक्षर अर्थमूर्त्ति आत्मक्षर के अर्थभाग से विश्वरचना करता है। आत्मक्षर की ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम यह पांच मर्त्य कलाएं बतलाई गई हैं। अक्षर के व्यापार से इन पांचों विपरिणामी आत्मक्षर कलाओं से क्रमशः सर्वप्रथम प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न यह पांच विकार क्षर उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मादि उक्त पांचों अक्षर कलाओं में से ब्रह्मकला मूलरूप है, विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम यह चार कलाएं तूलरूपा हैं। अपनी इन चारों तूलकलाओं को अपने गर्भ में रखती हुई वह मूलकला (ब्रह्मा) ही प्राणादि उक्त पांच विकार कलाओं को आगे कर विश्वनिर्माण में समर्थ होती है। तूलकलागर्भित मूलकला (ब्रह्मा नाम के आत्मक्षर) के प्राणादि पांच मुख हैं। इन पांचों में अन्नाद अग्नि, अन्न सोम दोनों मिलकर- "अत्तैवाख्यायते नाद्यम्" इस सिद्धान्त के अनुसार केवल अन्नादकला नाम से ही व्यवहृत होती है। इस प्रकार पांच मुखों के स्थान में प्राण-आप्-वाक्-अन्नगर्भितअन्नाद-यह चार ही मुख रहजाते हैं। अन्नादाग्नि रुद्र है। इसी की कृपा से अन्नसोम की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो जाती है। अन्नसोम का अन्नादअग्निरूप रुद्र में अन्तर्लीन हो जाना ही अन्नसोम का ग्रीवाकृन्तन (गला कटजाना) है। इस प्रकार जिस ब्रह्मा के आरम्भ में प्राणादि पांच मुख थे, रुद्राग्निद्वारा सोममुख के कृन्तन से आगे जाकर चार ही मुख रहजाते हैं। यही चतुर्मुख ब्रह्मा (चार तूलकलाओं से युक्त आत्मक्षर की ब्रह्मकला) सम्पूर्ण विश्व का मूल है। इन चारों मुखों से क्रमशः प्राणमुख से "ऋषिसृष्टि" आपोमुख से "लोक सृष्टि" वाङ्मुख से 'देवसृष्टि' एवं अग्निगर्भित अन्नादमुख से "भूतसृष्टि" होती है। पशुसृष्टि का भूतसृष्टि में ही अन्तर्भाव है।

पूर्व के प्रकरणों में यह बतलाया जाचुका है कि ग्रन्थिबन्धन नाम से प्रसिद्ध चितिबन्धन (यागसम्बन्ध) ही संसृष्टिलक्षण सृष्टि का कारण है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर इन तीनों में ही सृष्टि का सम्बन्ध माना जासकता है। आनन्दादि अव्यय की पांचों कलाओं का विकास मुमुक्षामूला अन्तश्चिति, एवं सिसृक्षामूला बहिश्चिति से हुआ है। यही पांच कलाएं इस चितिसम्बन्ध से 'अव्ययसृष्टि' कहला सकती है। इसी प्र-

कार अमृत ब्रह्मादि पांचों कलाएं अक्षरसृष्टि, एवं मर्त्य ब्रह्मादि पांचों कलाएं आत्मक्षरसृष्टि कहला सकतीं हैं। तात्पर्य यही है कि महामाया की सीमा में अन्तर्भुक्त रस का दलों के साथ, दलों का दलों के साथ जो चितिसम्बन्ध होता है, वह सृष्टिप्रवर्त्तक है। अतः मायापुर में होनें वाले यच्चयावत् चितिदलों को हम 'सृष्टि' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। मायापुर में ऐसी अनन्त सृष्टिएं होतीं हैं। चितिसम्बन्धोपलक्षित उन सब अवान्तर सृष्टियों का १२ सृष्टियों नें अन्तर्भाव माना जासकता है। इन सब के वास्तविक स्वरूपज्ञान के लिए तो 'पुराणरहस्य' ग्रन्थ का सृष्टिप्रकरण ही देखना चाहिए। यहां केवल इन के नामों का दिग्दर्शन करादिया जाता है।

द्वादशधा (१२) विभक्त इस सृष्टि के प्रथम—मध्यम—उत्तर यह तीन सामान्यभेद हैं। प्रथमा सृष्टि ४ भागों में, मध्यमासृष्टि ५ भागों में, अन्तिमसृष्टि ३ भागों में विभक्त है। संकलन से १२ सृष्टिएं होजातीं हैं। चतुर्द्धाविभक्त प्रथमासृष्टि **'तात्त्विकीसृष्टि'** कहलाती है, पञ्चधाविभक्त मध्यमासृष्टि आधियाज्ञिकी सृष्टि कहलाती हैं, एवं भागत्रयविभक्ता उत्तरासृष्टि **'आधिभौतिकी'** नाम से प्रसिद्ध है। क्रमप्राप्त पहिले तात्त्विकीसृष्टि कोही लीजिए। इस केअवान्तर चार विभाग बतलाए गए हैं। पहिला विभाग **'मायासृष्टि'** है। व्यापक परात्पर में मायाबल का उदय हुआ, परात्पर का प्रदेश सीमित होगया। यह सीमाभाव ही सृष्टि का पहिला रूप है। इस की जननी माया है। अत एव विशुद्ध आयतनरूप इस पहली तात्त्विकीसृष्टि को अवश्य ही **'मायासृष्टि'** कहा जासकता है। आगे होनें वाली सभी सृष्टियों की मूलभूता सृष्टि यही मायासृष्टि है। इस सृष्टि का कर्त्ता वही परात्पर है, यही आदिसृष्टि है- (देखिए ई.वि.भा.२६०पृ.)। दूसरी तात्त्विकीसृष्टि है—**'मानसीसृष्टि'**। मायावच्छिन्न परात्पर को हमनें 'श्वोवसीयसमन' नाम से व्यवहृत किया है। इस मन के काम (इच्छा)-रूप रेत से अन्तश्चिति वहिश्चिति द्वारा वही एक कल अव्ययमन आनन्दादिभेद से पञ्चकल बन जाता है। इस अव्ययकलासृष्टि के अव्यवहितोत्तरकाल में ही हृदयबलावच्छिन्न पञ्चकलअक्षर, पञ्चकल क्षरमूर्ति दशकल प्रकृतिभाव का उदय होजाता है। यह सब अव्यय के मनोभाव से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि है। इस सृष्टि में भूतभाग

का सर्वथा अभाव है। केवल भाव (ज्ञान) की प्रधानता है। अत एव अव्ययमन से होने वाली इस सृष्टि को "भावसृष्टि" भी कहा जासकता है। यही परअव्यय के सम्बन्ध से "..रा-सृष्टि" भी कहलाती है—(देखिए ई० वि० भा० २६० पृ०)। षोडशीपुरुषरूपा "आत्मसृष्टि" भी यही मानसीसृष्टि है।

तीसरी तात्त्विकीसृष्टि है "याज्ञिकीसृष्टि"। प्राणादि पांच विश्वसृट्, पञ्चीकृत प्राणादि पांच पञ्चजन-इन की समष्टि (विश्वसृट्-पञ्चजन सृष्टि) याज्ञिकीसृष्टि है। इस का प्रवर्त्तक अक्षरतत्त्व है। अत एव इसे "अक्षरसृष्टि" कहा जाता है। इसे "गुणसृष्टि" भी कहा जासकता है।

चौथी तात्त्विकीसृष्टि मैथुनीसृष्टि है। पञ्चीकृत आप और द्विब्रह्म के समन्वय से मैथुनीसृष्टि का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस सृष्टि का प्रवर्त्तक भी अक्षर ही है। अत एव इसे भी गुणसृष्टि कहा जासकता है। इस प्रकार माया, मानसी, याज्ञिकी, मैथुनी भेद से तात्त्विक सृष्टि चार भागों में विभक्त होजाती है। मायासृष्टि का अधिष्ठाता परात्पर है, भाव नाम से प्रसिद्ध मानसीसृष्टि का अधिष्ठाता अव्ययपुरुष है, गुणनाम से प्रसिद्ध याज्ञिकी एवं मैथुनी सृष्टि का अधिष्ठाता अक्षरपुरुष है।

१—तात्त्विकीसृष्टिःप्रथमा-(चतुर्विधा)

१→→→	कामसृष्टिः (आदिसृष्टिः) सावच्छिन्नरसवद्बलवतीसृष्टिः	—मायासृष्टिः [१]
२→→→	१आनन्दः,विज्ञानम्,मनः,प्राणः,वाक्-पञ्चकलोपेताव्ययसृष्टिः २-ब्रह्मा,विष्णुः,इन्द्रः,अग्निः,सोमः,-पञ्चकलोपेताऽक्षरसृष्टिः ३-ब्रह्मा,विष्णुः,इन्द्रः,अग्निः,सोमः,-पञ्चकलोपेतात्मक्षरसृष्टिः	—मानसीसृष्टिः [२]
३→→→	१-प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नम् -विश्वसृजः २-पञ्चीकृतप्राणः,आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्-पञ्चजनाः	—याज्ञिकीसृष्टिः [३]
४→→→	१-पञ्चीकृतापः-द्विब्रह्म (यजुर्ब्रह्म)—ब्रह्मसुब्रह्मणोःसमष्टिः	—मैथुनीसृष्टिः [४]

१-मायासृष्टिः— (विश्वोदयः)···परात्परकृता।
२ मानसीसृष्टिः—अव्ययकृता।
३-याज्ञिकीसृष्टिः }
४-मैथुनीसृष्टिः } -(गुणसृष्टिः)···अक्षरकृता।
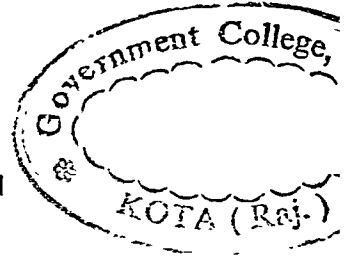
दूसरी मध्यमासृष्टि है। इसी को आधियाज्ञिकीसृष्टि कहा गया है। यह सृष्टि पिण्डात्मिका होने से 'मूर्त्तिसृष्टि' 'सत्यसृष्टि' आदि नामों से प्रसिद्ध है। स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा-पृथिवी भेद से इस सृष्टि के अवान्तर पांच विभाग हैं। यह क्षरमूला सृष्टि है, अत एव वैकारिकीसृष्टिरूप इस मध्यमासृष्टि को 'क्षरसृष्टि' भी कहाजाता है।

२—आधियाज्ञिकीसृष्टिर्मध्यमा (पञ्चविधा)

५—१—स्वयम्भूः (प्राणप्रधानासृष्टिः)
६—२—परमेष्ठी (अप्प्रधानासृष्टिः)
७—३—सूर्य्यः (वाक्प्रधानासृष्टिः)
८—४—चन्द्रमाः (अन्नप्रधानासृष्टिः)
९—५—पृथिवी (अन्नादप्रधानासृष्टिः)

}—क्षरकृता-विकारसृष्टिः

तीसरी है उत्तरासृष्टि। पूर्व में विकृतिरूप जिस मूर्त्तिसृष्टि का दिग्दर्शन कराया गया है, उत्तरासृष्टि की जननी वही मूर्त्तिसृष्टि है। इस सृष्टि के चेतन-अर्द्धचेतन—अचेतन यह तीन विभाग हैं। यही अधिभौतिकी नाम से प्रसिद्ध जीवसृष्टि है। यद्यपि 'सन्त्ययोनिजाः' के अनुसार एक अयोनिज नाम की भौतिकीसृष्टि और मानी जाती है, परन्तु इस का चेतनसृष्टि में ही अ-

न्तर्भाव मानना उचित होता है। पूर्व की साधारणी विकारसृष्टि, एवं इस विकारसंघसृष्टि दोनों का क्षरसृष्टि में ही अन्तर्भाव मान लियाजाता है। अत एव इसे भी 'क्षरसृष्टि' शब्द से व्यवहृत करसकते हैं।

आधिभौतिकीसृष्टिरुत्तरा त्रिविधा

१०—१— { चेतनसृष्टिः (ससंज्ञजीवसृष्टिः—कृमि-कीट-पक्षि-पशु-मनुष्यविधा)
अयोनिसृष्टिः (यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-पैत्र्य-ऐन्द्र-प्राजापत्य- आ. विधा) }

११—२———अर्द्धचेतनसृष्टिः (उद्भिज्जसृष्टिः (औषधिवनस्पत्यादिस्तम्बपर्यन्ता)

१२—३———अचेतनसृष्टिः (धातुसृष्टिः—शिपिविष्टः)

——:०:——

सृष्टिर्द्वादशधा भाव्या चतुर्धा (४), पञ्चधा (५), त्रिधा (३)।
चतुर्धा पञ्चधा तु मध्यमाथोत्तरा त्रिधा ॥

——:०:——

इस प्रकार सृष्टिएं १२ विभागों में विभक्त मानीं जातीं हैं। १२ अक्षर के छन्द का नाम जगती है। जगतीछन्द ही जगत् (सृष्टि) की प्रतिष्ठा है। जगत्रूप विश्वसृष्टि में १२-विभाग हैं, इस द्वादशाक्षर जगतीछन्द के सम्बन्ध से ही तो विश्व को जगत् कहा जाता है। जगती में ही जगत् प्रतिष्टित है। उक्त सृष्टिविभाग निरूपण से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि भावसृष्टि का अव्यय से सम्बन्ध है, अमृतप्रकृतिरूप अक्षर से गुणसृष्टि होती है, एवं मर्त्यप्रकृतिरूप आत्मक्षर से विकारसृष्टि होती है। भावसृष्टि को ही मानसींसृष्टि कहा गया है। भावात्मिका ऋषिप्राणसृष्टि, चतुर्विधमनुसृष्टि का भी इसी अव्ययकृता भावसृष्टि में अन्तर्भाव है। इसी सृष्टिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ (गी. १०।६।)
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ (गी. १०।५।)
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ (गी. १३।१९।)

विकारसृष्टि और गुणसृष्टि दोनों का मूलाधार क्षर-अक्षर प्रकृति है । क्षराक्षर अव्ययपुरुष का स्वभाव है, अपना भाव है, अत एव वह इस से पृथक् नहीं रह सकता । अत एव परमार्थतः प्रकृतिद्वारा क्रियमाण गुण-विकारसृष्टि का मूल धार मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय ही बन जाता है । अव्यय सब का अन्तिम प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण है । सब कुछ इसी में से निकला है । रात्र्यागम में अव्यक्तरूप में परिणत होता सब कुछ इसी में लीन होता जाता है । विश्व का विकारक्षर में, विकारक्षर का आत्मक्षर में, आत्मक्षर का अव्यय में लय होजाता है-"**सा काष्ठा सा परा-गतिः**" । अव्यय की इसी सर्वधर्मोपपन्नता का निरूपण करती हुई श्रुति स्मृति कहती है--

" एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१॥ (कठोपनिषत् १।२।१७)।
गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठां देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥ २ ॥
यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ३ ॥
(मुण्डकोपनिषम् ३ । २ । ७-८) ।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्या ऽस्तंगच्छन्ति,
भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टु-
रिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति,

भिद्यते तासां नाम रूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते । स एषोऽकलो-
ऽमृतोभवति ॥ ४ ॥ (प्रश्नोपनिषत् ६ प्रश्न । ५ कं०) ।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ५ ॥ (गी० ९।१८)
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ६ ॥ (गी० ७।७ ।"

पूर्व में जिस तात्त्विकीदृष्टि का दिग्दर्शन कराया गया है, विश्वदृष्टि से उस का रूपान्तर समझना चाहिए । भौतिक विश्व के मौलिक तत्त्वों का अन्वेषण करने पर तात्त्विकीसृष्टि तीन भागों में विभक्त मिलती है । वही तीनों तात्त्विक विभाग—"**गुणभूत, अणुभूत, रेणुभूत.**" इन नामों से प्रसिद्ध हैं । सांख्यदर्शनानुसार "**पञ्चतन्मात्रा**" नाम से प्रसिद्ध शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श इन पांचों तत्त्वों की समष्टि "**गुणभूत**" है । ऐसे सजातीय गुणभूतों के समन्वय से उत्पन्न (कणाददर्शन के अनुसार अणुभूत नाम से प्रसिद्ध) पांच तत्व अणुभूत हैं, एवं कम से कम त्रिंशत् (३०) विजातीय अणुसंघों से निष्पन्न (न्यायमतानुसार परमाणु नाम से प्रसिद्ध) पांच तत्व रेणुभूत हैं । यह तीनो सृष्टिएं (गुण-अणु-रेणु) अमूर्त हैं, अपञ्चीकृत हैं, अत एव हम इन्हें भी पुरुषसृष्टिवत् तात्विकसृष्टि ही माननें के लिए तय्यार हैं । यही पांचों तत्त्व आगे जाकर पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाशरूप स्थूल भूतों में परिणत होते हैं । अत एव "**तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्**" इस न्याय के अनुसार पृथिव्यादि महाभूतों के जनक इन मौलिक पांच तत्त्वों को भी पृथिव्यादि नामों से व्यवहृत करदिया जाता है । प्रत्यक्षदृष्ट भूत पञ्चीकृत हैं । अनेक तात्विकभूतों के मिथुनभाव से इन का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, अत एव इन्हें "**पञ्चमहाभूत**" कहा जाता है । इन का मूल रेणुभूत है, रेणुभूत का आधार अणुभूत है, सर्वाधार गुणभूत (पंचतन्मात्राएं) हैं । यह तीनों ही (तत्त्वरूप होनें से) प्रत्यक्ष से परे हैं । वैदिकविज्ञान की परिभाषाओं के स्पर्शमात्र से भी वञ्चित रहनें वाले पाश्चात्य वैज्ञानिक

कहते हैं कि " भारतीयों नें पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश इन पांच भूतों को तत्त्व माना है। जिन उपलब्ध पांचों भूतों की यौगिकता प्रत्यक्ष सिद्ध है, आर्यसाहित्य उन्हें तत्त्व (Attempts) मानरहा है। इससे विदित होता है कि आर्यसाहित्य विज्ञान से सर्वथा शून्य है।" कहना नहीं होगा कि आर्य साहित्य पर पाश्चात्य विद्वानों का यह आक्षेप बालचपलता मात्र है। स्वयं भारतीय ही इन प्रत्यक्षदृष्ट पांचों भूतों को 'महाभूत' शब्द से व्यवहृत करते हुए इन की यौगिकता स्वीकार कर रहे हैं। तत्त्वों को पृथिवी-जल-आदि महाभूतनामों से क्यों व्यवहृत किया जाता है? इस का उत्तर पूर्व में दिया ही जाचुका है। जिस अमृतात्मतत्त्व का साक्षात्कार करनें में पश्चिमी विद्वानों को अभी कई शताब्दियों तक माथापच्ची करनी पड़ेगी, उस दुर्विज्ञेय सुसूक्ष्मतम आत्मतत्त्व का साक्षात् करनें वाले आर्यमहर्षियों नें भौतिकतत्त्व को पहिचाननें में गलती की-यह कहना केवल मत्तप्रलाप है, अत एव सर्वथा उपेक्षणीय है। अस्तु बतलाना यही है कि तात्त्विकसृष्टि के अन्तिम रेणुभूत से ही यौगिकी मूर्त्तसृष्टि होती है। इस सृष्टि के भूत भूत-भौतिक भेद से दो भेद हैं। पञ्चीकृत पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश रूप पञ्चमहाभूतसृष्टि 'भूतसृष्टि' है, एवं इस भूतसृष्टि से उत्पन्न होनें वाली चेतन-अर्द्धचेतन-अचेतन--अयोनिज भेदभिन्न जीवरूपा सृष्टि 'भूतभौतिकी' सृष्टि है।

तात्त्विकीसृष्टिस्त्रिविधा—

अमूर्त्तसृष्टिः

- १—गूणभूतसृष्टिः—रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दरूपा तन्मात्राभिधा सांख्यमतानुसारिणी प्रथमा
- २—अणुभूतसृष्टिः—सजातीयगुणभूतैर्निष्पद्यमाना वैशेषिकमतानुसारिणी परमाणुसृष्टिर्मध्यमा
- ३—रेणुभूतसृष्टिः—विजातीयत्रिंशत्परमाणुसंयोगजा न्यायमतानुसारिणी परमाणासृष्टिरुत्तरा

मूलसृष्टिः
१—भूतसृष्टिः— पृ०-जल-तेज-वायु० आकाशात्मिका पञ्चीकृतरूपा महाभूत-सृष्टिः प्रथमा।
२—भूतभौतिकीसृष्टिः-महाभूतेभ्यः संपद्यमाना चे०-अर्द्धचे०-अचे०-अयो०-भेदभिन्ना भूतभौतिकी जीवसृष्टिर्द्वितीया।

भौतिक सृष्टि के ग्रन्थिबन्धन तोड़दीजिए वह पञ्चमहाभूत रूप में परिणत हो जायगी, पञ्चमहाभूत के बन्धन तोड़दीजिए पञ्चीकृत भूतावस्था का उदय होजायगा। इस बन्धन को तोड़दीजिए रेणुभूत का विकास होजायगा। यही रेणुभूत एकसृष्टि धारा की (पञ्चभूतसृष्टि की) प्रथम सीमा है। इसी विद्या को सिखाने के लिए न्यायदर्शन नें रेणुरूप परमाणु को निरवयव माना है। कारण भूतभौतिक प्रपञ्च की अन्तिम अवस्था यही परमाणु हैं। परमाणु के ग्रन्थि बन्धन तोड़िए अणुभूत प्रकट होगा, अणु की चरमावस्था गुणभूत होंगे। यही गुणभूत (पञ्चतन्मात्राएं) विज्ञान परिभाषा के अनुसार 'विश्वसृट्' नाम से प्रसिद्ध विकारक्षर हैं। इन की चरमावस्था आत्मक्षर है, आत्मक्षर का अप्ययस्थान अक्षर है, अक्षर का अप्ययस्थान अव्यय है, अव्यय का अन्तिम परायण परात्पर है। इस प्रकार संचरक्रम के अनुसार मायाबल के प्रभाव से परात्पर अव्यय बनता है, अव्यय अक्षररूप में परिणत होजाता है, अक्षर क्षररूप में विकसित होता है, क्षरविकार रूप गुणभूतरूप में, गुणभूत अणुभूतरूप में, अणुभूत रेणुभूतरूप में, रेणुभूत पञ्चीकृतभूतरूप में, पञ्चीकृतभूत पञ्चमहाभूतरूप में, पञ्चमहाभूत भौतिकसृष्टिरूप में परिणत होते हैं। वही एक ब्रह्म संचरकाल में एक से नाना बन गया है। इसी अभिप्राय से **'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** यह कहा जाता है। यह वचन ब्रह्म को उद्देश्य मानकर सर्वत्व का विधान करता है। **'ब्रह्म ही यह सब कुछ है'** इस का तात्पर्य्य है कि एक ब्रह्म ही नाना भावात्मक विश्वरूप में परिणत होगया है। प्रतिसंचरकाल में यह सारा प्रपञ्च उसी एकावस्था में परिणत होजाता है। इसी प्रतिसंचर पक्ष का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"**। यहां उद्देश्य **'सर्वम्'** है, विधेय **'ब्रह्म'** है। सर्वोद्देश्येन ब्रह्मत्त्व का विधान है।

उक्त परात्पर अव्ययादि सृष्टिधाराओं में पूर्व-पूर्व की सृष्टिधारा उत्तर-उत्तर की सृष्टिधारा की अपेक्षा उक्थ (मूलप्रतिष्ठा) है, एवं उक्थरूप पूर्वभाव की अपेक्षा उत्तर-उत्तर भाव अर्करूप है, जैसा कि नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट होजाता है।

पूर्वसृष्टिः			उत्तरसृष्टिः		
१	१—परात्परः —	उक्थम्	५	१—गुणाः—	उक्थम्
	२—अव्ययः—	अर्काः		२—रेणवः—	अर्काः
२	१—अव्ययः—	उक्थम्	६	१—रेणवः—	उक्थम्
	२—अक्षरः—	अर्काः		२—पञ्चीकृतभूतानि—	अर्काः
३	१—अक्षरः—	उक्थम्	७	१—पञ्चीकृतभूतानि—	उक्थम्
	२—क्षरः (गुणाः)—	अर्काः		२—पञ्चमहाभूतानि—	अर्काः
४	अर्णवः—	उक्थम्	८	१—पञ्चमहाभूतानि—	उक्थम्
	गुणाः—	अर्काः		२—भौतिकसर्गः—	अर्काः

परात्परब्रह्म से आरम्भ कर भौतिकसर्ग पर्य्यन्त प्रपञ्च के लिए अबतक जो कुछ कहा है, उस का प्रकारान्तर से विचार करिए। सामान्यदृष्टि से सारा प्रपञ्च विश्वातीत विश्व भेद से दो भागों में विभक्त समझिए। जो कुछ सृष्ट है, एवं जो इस सृष्ट में प्रविष्ट है, दोनों की समष्टि 'विश्व' है। यह उस अनादि ब्रह्म का एक रूप है। एवं जो तत्त्व माया से पृथक् रहता हुआ, अतएव सृष्ट-प्रविष्टरूप विश्व से विभक्त बनता हुआ स्वतन्त्र व्यापक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, वही

* और सभी अवयवों में उक्थ-अर्क क्रम में समानता है, परन्तु गुण गुणार्णव में यह क्रम बदल जाता है, जिस की कि उपपत्ति विस्तारभय से प्रकृत में नहीं बतलाई जासकती।

विश्वातीत ब्रह्म है। वह व्यापक होने से अनेजत् (कम्पनरहित) है। स्थानविच्युति कम्पन है। व्यापक में स्थानविच्युति कथमपि संभव नहीं है. यही इस का अनेजत्भाव है। कम्पन ही भय है। वह भय रहित है, अत एव उसे 'अभय' नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिस प्रकार अव्यय के लिए 'पर' शब्द नियत है, एवमेव इस व्यापकतत्त्व के लिए अभय शब्द नियत है। श्रुति में जहां कहीं अभयशब्द आवे सर्वत्र निःसंदिग्ध होकर इससे इस व्यापक ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए। यही अभयब्रह्म पूर्वप्रतिपादित सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति परात्पर है, इसी को प्रविविक्तब्रह्म भी कहा जाता है। यही उस ब्रह्म की दूसरी अवस्था है।

मायावच्छिन्न परात्पर ही विश्व में प्रविष्ट होकर विश्वेश्वर कहलाने लगता है। यह प्रविष्टतत्त्व ही भौतिक विश्व का आत्मा है। इसी विश्वात्मा का पूर्वप्रकरण में 'षोडशीपुरुष' रूप से निरूपण किया गया है। प्रविष्ट षोडशी आत्मा के उपभोग से प्राणादि जितने विकार उत्पन्न होते हैं, उन सब विकारों का संघात (समष्टि) ही विश्व है। जिस प्रकार परात्परब्रह्म की रसबल कलाएं अन्योऽन्य अविनाभूत रहतीं हैं, एवमेव विश्वात्मा से (विश्वात्मा के उप भाग से) उत्पन्न होने वाला विश्व, एवं विश्वात्मा दोनों अविनाभूत हैं। वही एकांश से सृष्ट बनकर शेषांश से उस अपने ही सृष्टरूप में प्रविष्ट होकर उस का आत्मा बनता हुआ 'विश्वात्मा' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। इसी अविनाभाव रहस्य को लक्ष्य में रखकर विश्व को 'आत्मन्वी' कहा जाता है। यही आत्मन्वी (आत्मविशिष्टविश्व किंवा विश्वविशिष्ट आत्मा) ईश्वर (महेश्वर) प्रजापति है। षोडशीपुरुष भी ईश्वर नहीं है, विश्व भी ईश्वर नहीं है, समष्टि ईश्वर है। ईश्वरप्रजापतिमूर्त्ति यह आत्मन्वी विश्व १२ भागों में विभक्त है। यह १२ कलाएं हीं पृथक् पृथक् "द्वादशब्रह्म" है। पूर्व कथनानुसार यही द्वादशाक्षरा जगती है। अत एव (द्वादशाक्षरात्मक) यह प्रपञ्च (जगती छन्द के सम्बन्ध से) जगत् नाम से प्रसिद्ध होरहा है।

द्वादशकल—आत्मन्वीविश्व		
१–अव्ययः	५–पञ्चजनः	९—मनः
२–अक्षरः	६–पुरञ्जनः	१०—भूतम्
३–परिणामी	७–महत्	११—जीवः
४–विश्वसृट्	८–बुद्धिः	१२—शिपिविष्टः

उपर्युक्त आत्मन्वी की द्वादशकलाओं में आरम्भ की (अव्यय–अक्षर) इन दो कलाओं का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं शेष परिणामी–विश्वसृट् आदि १० कलाओं का एक स्वतन्त्र विभाग है। यह दशकल समष्टि क्षरविवर्त्त है। इन में परिणामी नाम का पहिला क्षर आत्मक्षर है, विश्वसृट् विकारक्षर है, पञ्चजन यज्ञक्षर है, पुरंजन सत्यक्षर है, महद्ब्रह्म परमेष्ठी है, बुद्धिक्षर सूर्य है, मन चन्द्रमा है, भूत पृथिवी है, जीव सेन्द्रियसत्व (ससंज्ञजीव) है, शिपिविष्ट निरिन्द्रियसत्व (असंज्ञजीव) है। इन १० क्षरों की समष्टि ही विराट्पुरुष है। विराट् मूर्त्ति इस दशाक्षर कूटपर प्रतिष्ठित रहने वाला वही कूटस्थ अक्षर है। भौतिकक्षर-कूटस्थ अक्षर का आलम्बन अव्यय है। वही अव्ययप्रभु कूटस्थ अक्षरावच्छिन्न क्षरकूटरूप विराट्पुरुष का अपने मन–प्राण–वाङ्मय सृष्टिसाक्षी कर्मभाग से संचालन करता है। अक्षर क्षरकूट का शास्ता है, अव्यय अनुशास्ता है। इस प्रकार षोडशीपुरुष अव्यय–अक्षरावच्छेदेन प्रविष्ट है, आत्मक्षरावच्छेदेन विश्व है। आत्मक्षर परिणामी है, इसलिए तो इसे विश्व में अन्तर्भूत मान लिया जाता है, एवं परिणामी होते हुए भी यह स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, इस लिए इस आत्मक्षर को आत्मा में अन्तर्भूत मानलिया जाता है। इस प्रकार यह विपरिणामी आत्मक्षर आत्मा और विश्व दोनों का अनुग्राहक बना हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

तदिदं सर्वम्

सैषा द्वादशात्तरा जगती, जगत्यां जगत्। 'ईशावास्यमिदं सर्वं— यत्किञ्च—जगत्यां जगत्'

१—अव्ययः .... आलम्बनः
२—अक्षरः .... कूटस्थः
३— { आत्मक्षरः .... अविकृतः
　　 { आत्मक्षरः .... परिणामी
४—विश्वसृट् .... विकारक्षरः
५—पञ्चजनः .... यज्ञक्षरः
६—पुरञ्जनः .... सत्यक्षरः—स्वयम्भूः
७—महत् .... महद्ब्रह्म—परमेष्ठी
८—बुद्धिः .... हिरण्यगर्भः—सूर्यः
९—मनः .... देवसत्यः—चन्द्रमाः
१०—भूतम् .... चित्याग्निः—पृथिवी
११—जीवः .... चेतनसत्त्वकर्मा
१२—शेषविष्टः .... अचेतनसत्त्वकर्मा

(१–२) षोडशीपुरुषः (विश्वात्मा)

(३–१२) विश्वात्मनः शरीरम् (विराट्)

——:०:——
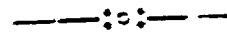
उक्त क्रमानुसार आत्मा-शरीर भेद से १२ कलात्मक सर्वप्रपञ्च आत्मा-शरीर इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा भोक्ता है, दशकल विश्वरूप शरीर भोगायतन बनता हुआ भोग्य है। दूसरे शब्दों में आत्मा 'अत्ता' (खाने वाला) है, विश्व 'आद्य' (खाया जाने वाला) है। इस दृष्टि से वास्तव में अत्ता-आत्मा, आद्यविश्व से अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का सर्वथा अभाव है। सर्वप्रपञ्च की द्विकलात्मिका आत्मकला, दशकलात्मिका विश्वकला इन दो प्रधान कलाभेदों की अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, अत्ता चैवाद्यं च ।
तद्यदोभयं समागच्छति-अत्तैवाख्यायते, नाद्यम्" ।
(शत. १० कां । ६ । ३ । १ ।) ।

विश्व आद्य है, परन्तु वह अत्ता षोडशी पुरुष के साथ समन्वित होरहा है । अत एव उक्त श्रुति के अनुसार 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से सर्वत्र अत्तारूप आत्मपुरुष शब्द की ही व्याप्ति हो रही है ।

प्रकारान्तर से उक्त सर्वप्रपञ्च को चार भागों में देखा जासकता है । यह चार विभाग अनेक प्रकार से किए जासकते हैं । उन में से दो तीन प्रकारों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है । इस विभाग का मूल 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' यह अनुगम वचन है । अव्यय अक्षर इन दो कलाओं का एक स्वतन्त्र विभाग है, जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है । और १० कलाओं में से परिणामी (आत्मक्षर), विश्वसृट् (विकारक्षर), पञ्चजन (यज्ञक्षर) इन तीन क्षर कलाओं का एक स्वतन्त्र विभाग है । आत्मा- और पिण्डसृष्टि दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहते हुए यह पिण्डसृष्टि के स्वरूप सम्पादक बनते हैं । परिणामी विश्वसृट् रूप में परिणत होता है, विश्वसृट् पञ्चजन रूप में परिणत होता है । यही पञ्चजन पुरञ्जनोत्पादक बनता हुआ स्वयम्भू आदि पुरसृष्टि (पिण्डसृष्टि) का कारण बन जाता है । पिण्डसृष्टि की अपेक्षा से उक्त तीनों पुरसृष्टियों का हम अवश्य ही एक स्वतन्त्र विभाग मान सकते हैं, यही दूसरी सृष्टि है । पुरञ्जन (स्वयम्भू) महत् (परमेष्ठी), बुद्धि (सूर्य), मन (चन्द्रमा), भूत (पृथिवी) इन पांचों पुरकलाओं का पिण्डापेक्षया एक स्वतन्त्र विभाग है, यही तीसरी सृष्टिधारा है । सेन्द्रिय सत्त्वरूप जीव, निरिन्द्रिय सत्त्वरूप शिविविट इन दो कलाओं का (जीवसृष्टिरूप) एक स्वतन्त्र विभाग है । यह चौथी सृष्टिधारा है । इस प्रकार २-३-५-२-इस क्रम से उक्त द्वादशकलात्मक सर्व प्रपञ्च चार भागों में विभक्त होजाता है ।

१—अव्ययः[1], अक्षरः[2] — सैषा प्रथमासृष्टिः	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्
२—परिणामी[3], विश्वसृट्[4], पञ्चजनः[5], सैषा द्वितीयासृष्टिः	
३—पुरञ्जनः[6], महत्[7], बुद्धिः[8], मनः[9], भूतम्[10], सैषा तृतीयासृष्टिः	
४—जीवः[11]—शिपिविष्टः[12]—सैषा चतुर्थीसृष्टिः	

प्रकारान्त से विचार करिए। उक्त १२ कलाओं में से आरम्भ की अव्यय, अक्षर, परिणामी नाम से प्रसिद्ध आत्मक्षर इन तीन कलाओं की समष्टि तो कारण ब्रह्म है, एवं शेष कलाओं की समष्टि कार्यब्रह्म है। कारणब्रह्म आत्मा है, कार्यब्रह्म शरीर है। कारणब्रह्म की कारणता आलम्बनता, निमित्तकारणता, उपादानकारणता भेद से तीन भागों में विभक्त है। तीनों कारणों के अनन्तर कार्यब्रह्म का विकास होता है। कार्य-कारण के यही चारों पर्व वैदिक साहित्य में **अधिष्ठान-ईहा-आरम्भण-आरब्ध** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अव्ययपुरुष अधिष्ठान (आलम्बन कारण) ब्रह्म है, अक्षरपुरुष ईहाब्रह्म (निमित्तकारण) है, आत्मक्षरपुरुष आरम्भण ब्रह्म (उपादान कारण) है, एवं विश्वसृट्—पञ्चजनादि शेष ९ क्षरकलाओं की समष्टि आरब्ध ब्रह्म (कार्यब्रह्म) है। इस दृष्टि से भी उक्त १२ कलाओं के चार विभाग किए जासकते हैं।

१—अव्ययः[1]	अधिष्ठान ब्रह्म	आत्मा
२—अक्षरः	ईहाब्रह्म	
३—आत्मक्षरः	आरम्भण ब्रह्म	
४—विश्वसृट्[4]—पञ्चजन[5]—पुरंजन[6]—महत्[7]—बुद्धि[8]—मन[9]—भूत[10]—जीव[11]—शिपिविष्ट[12],	आरब्धब्रह्म	शरीरम्

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'	१—अधिष्ठानब्रह्म	(आलम्बनकारण)	कारणब्रह्म—'आत्मा'
	२—ईहाब्रह्म	(निमित्तकारण)	
	३—आरम्भणब्रह्म	(उपादानकारण)	
	४—आरब्धब्रह्म	(कार्य-विश्व)	कार्यब्रह्म—'शरीरम्'

इन द्वादश कलाओं में परस्पर में साधर्म्य और वैधर्म्यमात्र का समावेश है। कितने ही अंशों में इन में समानता है, कितने ही अंशों में विभिन्नता है। सृष्टिरहस्य के यथावत् परिज्ञान के लिए इन का साधर्म्य वैधर्म्य जानना भी परम आवश्यक है। अतः प्रसंगोपात्त इन का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करादिया जाता है।

पुरञ्जन–महत्–बुद्धि–मन–भूत–जीव–शिपिविष्ट इन सात कलाओं का परस्पर में **व्यक्त-ब्रह्मत्व** साधर्म्य है। व्यक्तब्रह्मत्वेन सातों समानधर्म्मा हैं, अर्थात् सातों ही व्यक्तरूप हैं। पञ्चजन, विश्वसृट्, परिणामी, अक्षर, अव्यय इन पांच कलाओं का परस्पर में **'अव्यक्तब्रह्मत्व'** साधर्म्य है। यह पांचों (व्यक्त-पुरञ्जनादि सप्तकल) विश्व की अपेक्षा से सदा अव्यक्त ही रहते हैं। परस्पर में सर्वथा अविनाभूत अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर इन तीन कलाओं का परस्पर में **आत्मत्व, षोडशकलत्व, एकत्व** साधर्म्य है। विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–महत्–बुद्धि–मन–भूत–जीव–शिपिविष्ट इन नौ कलाओं का परस्पर में **'विश्वत्व'** साधर्म्य है। कारण इन नौ कलाओं की समष्टि का नाम ही विश्व है। १२ कलाओं का (विश्वविशिष्ट षोडशीपुरुष का)**' प्रजापतित्व '** साधर्म्य है। १२ की समष्टि ही **प्रजापति** नाम से व्यवहृत होती है। अव्यय नाम की प्रथम कला से आरम्भ कर भूत नाम की १० वीं कलापर्यन्त १० कलाओं का परस्पर में **'ईश्वर-प्रजापतित्व'** साधर्म्य है। क्यों कि भूत (पृथिवी) पर ईश्वर संस्था समाप्त होजाती है। भूत से आगे जीवसंस्था का आरम्भ होजाता है। महत् से आरम्भ कर भूत पर्य्यन्त (परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी) इन चार कलाओं का परस्पर में **'प्रतिमाप्रजापतित्व'** साधर्म्य है। इन्हीं चारों कलाओं के **दहरप्रजापतित्व, ईश्वरानुगतत्व, जीवानुगतप्रजापतित्व** यह तीन साधर्म्य और समझने चाहिएं। अभय (परात्पर)– अव्यय–अक्षर आत्मक्षरसमष्टिरूप षोडशकल पुरुष **'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'** के अनुसार समष्टि व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्त है। अत एव **अभयत्व, अव्ययत्व, अक्षरत्व, आत्मक्षरत्व** यह चार साधर्म्य अव्ययादि शिपिविष्टान्त १२ कलाओं के समझने चाहिएं। इसी प्रकार स्वयं अव्यय की आनन्दादि पांचों कलाओं में **पुरुषत्व** साधर्म्य है। अक्षर की अमृत ब्रह्मादि पांचों कलाओं में **पराप्रकृतित्व** साधर्म्य है। आत्मक्षर की

मर्त्य यज्ञादि पांचों कलाओं में अपराप्रकृतित्व साधर्म्य है। विश्वसृट्-पञ्चजन इन दो कलाओं में प्रकृतिविकृतित्व साधर्म्य है, आगे की पुरञ्जनादि शिपिविष्टान्त सब कलाओं में विकृतित्व साधर्म्य है । जीव-शिपिविष्ट का जीवत्व साधर्म्य है। जिन का परस्पर में साधर्म्य नहीं है, उन का वैधर्म्य तो स्वतः एव सिद्ध है। अतः वैधर्म्य के पृथक् निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं है। इस परस्पर के साधर्म्य वैधर्म्यभाव से चार संस्थाओं का स्वरूप संपन्न होजाता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है——

१—ईश्वरप्रजापतिः*

१—अव्ययः २—अक्षरः ३—आत्मक्षरः ४—विश्वसृडादि-भूतपर्यन्तम्	"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"-१-ईश्वरः

२—ईश्वराधियज्ञात्मकप्रतिमाप्रजापतिः

१—महत् = परमेष्ठी २—बुद्धिः = सूर्यः ३—मनः = चन्द्रमाः ४—भूतम् = पृथिवी	"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"-२-प्रतिमेश्वरः

* एकावस्थत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, पूर्णेन्द्रत्व, सर्वेन्द्रियत्व, क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टत्व, यह धर्म ईश्वरप्रजापति के माने जाते हैं।

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, अत्ता चैवाद्यंच ।
तद्यदोभयं समागच्छति-अत्तैवाख्यायते, नाद्यम्" ।
(शत. १० कां । ६ । २ । १ ।) ।

विश्व आद्य है, परन्तु वह अत्ता पोडशी पुरुष के साथ समन्वित होरहा है । अत एव उक्त श्रुति के अनुसार 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से सर्वत्र अत्तारूप आत्मपुरुष शब्द की ही व्याप्ति हो रही है ।

प्रकारान्तर से उक्त सर्वप्रपञ्च को चार भागों में देखा जासकता है । यह चार विभाग अनेक प्रकार से किए जासकते हैं । उन में से दो तीन प्रकारों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है । इस विभाग का मूल 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' यह अनुगत वचन है । अव्यय[1] अक्षर[2] इन दो कलाओं का एक स्वतन्त्र विभाग है, जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है । शेप १० कलाओं में से परिणामी[1] (आत्मक्षर), विश्वसृट्[2] (विकारक्षर), पञ्चजन[3] (यज्ञक्षर) इन तीन क्षर कलाओं का एक स्वतन्त्र विभाग है । आत्मा- और पिण्डसृष्टि दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहते हुए यह पिण्डसृष्टि के स्वरूप समर्पक बनते हैं । परिणामी विश्वसृट् रूप में परिणत होता है, विश्वसृट् पञ्चजन रूप में परिणत होता है । यही पञ्चजन पुरञ्जनोत्पादक बनता हुआ स्वयम्भू आदि पुरसृष्टि (पिण्डसृष्टि) का कारण बन जाता है । पिण्डसृष्टि की अपेक्षा से उक्त तीनों क्षरसृष्टियों का हम अवश्य ही एक स्वतन्त्र विभाग मान सकते हैं, यही दूसरी सृष्टि है । पुरञ्जन[1] (स्वयम्भू) महत्[2] (परमेष्ठी), बुद्धि[3] (सूर्य), मन[4] (चन्द्रमा), भूत[5] (पृथिवी) इन पांचों क्षरकलाओं का पिण्डापेक्षया एक स्वतन्त्र विभाग है, यही तीसरी सृष्टिधारा है । सेन्द्रिय[1] सत्त्वरूप जीव, निरिन्द्रिय[2] सत्त्वरूप शिविविट इन दो कलाओं का (जीवसृष्टिरूप) एक स्वतन्त्र विभाग है । यह चौथी सृष्टिधारा है । इस प्रकार २-३-५-२-इस क्रम से उक्त द्वादशकलात्मक सर्व प्रपञ्च चार भागों में विभक्त होजाता है ।

१ —अव्यय:[1], अक्षर:[2] — सैषा प्रथमासृष्टि:
२—परिणामी[3], विश्वसृट्[4], पञ्चजन:[5] सैषा द्वितीयासृष्टि:
३—पुरञ्जन:[6], महत्[7], बुद्धि:[8], मन:[9], भूतम्[10], सैषा तृतीयासृष्टि:
४—जीव:[11]–शिपिविष्ट:[12]–सैषा चतुर्थीसृष्टि:

} चतुष्टयं वा इदं सर्वम्

प्रकारान्त से विचार करिए। उक्त १२ कलाओं में से आरम्भ की अव्यय, अक्षर, परिणामी नाम से प्रसिद्ध आत्मक्षर इन तीन कलाओं की समष्टि तो कारण ब्रह्म है, एवं शेष कलाओं की समष्टि कार्यब्रह्म है। कारणब्रह्म आत्मा है, कार्यब्रह्म शरीर है। कारणब्रह्म की कारणता आलम्बनता, निमित्तकारणता, उपादानकारणता भेद से तीन भागों में विभक्त है। तीनों कारणों के अनन्तर कार्यब्रह्म का विकास होता है। कार्य-कारण के यही चारों पर्व वैदिक साहित्य में **अधिष्ठान-ईहा-आरम्भण-आरब्ध** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अव्ययपुरुष अधिष्ठान (आलम्बन कारण) ब्रह्म है, अक्षरपुरुष ईहाब्रह्म (निमित्तकारण) है, आत्मक्षरपुरुष आरम्भण ब्रह्म (उपादान कारण) है, एवं विश्वसृट्–पञ्चजनादि शेष ९ क्षरकलाओं की समष्टि आरब्ध ब्रह्म (कार्यब्रह्म) है। इस दृष्टि से भी उक्त १२ कलाओं के चार विभाग किए जासकते हैं।

१—अव्यय:[1] ....अधिष्ठान ब्रह्म
२—अक्षर:[2] ....ईहाब्रह्म
३—आत्मक्षर:[3] ....आरम्भण ब्रह्म
} आत्मा

४—विश्वसृट्[4]–पञ्चजन[5]–पुरंजन[6]–महत्[7]–बुद्धि[8]–मन[9]–भूत[10]–जीव[11]–शिपिविष्ट[12], आरब्धब्रह्म } शरीरम्

'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'	१–अधिष्ठानब्रह्म	(आलम्बनकारण)	कारणब्रह्म–'आत्मा'
	२–ईहाब्रह्म	(निमित्तकारण)	
	३–आरम्भणब्रह्म	(उपादानकारण)	
	४–आरब्धब्रह्म	(कार्य-विश्व)	कार्यब्रह्म–'शरीरम्'

इन द्वादश कलाओं में परस्पर में साधर्म्य और वैधर्म्यभाव का समावेश है। कितने ही अंशों में इन में समानता है, कितने ही अंशों में विषमता है। सृष्टिरहस्य के यथावत् परिज्ञान के लिए इन का साधर्म्य वैधर्म्य जानना भी परम आवश्यक है। अतः प्रसंगोपात्त इन का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करादिया जाता है।

पुरञ्जन–महत्–बुद्धि–मन–भूत–जीव–शिपिविष्ट इन सात कलाओं का परस्पर में व्यक्त-ब्रह्मत्व साधर्म्य है। व्यक्तब्रह्मत्वेन सातों समानधर्मा हैं, अर्थात् सातों ही व्यक्तरूप हैं। पञ्चजन, विश्वसृट्, परिणामी, अक्षर, अव्यय इन पांच कलाओं का परस्पर में 'अव्यक्तब्रह्मत्व' साधर्म्य है। यह पांचों (व्यक्त पुरञ्जनादि सप्तकल) विश्व की अपेक्षा से सदा अव्यक्त ही रहते हैं। परस्पर में सर्वथा अविनाभूत अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर इन तीन कलाओं का परस्पर में आत्मत्व, षोडशकलत्व, एकत्व साधर्म्य है। विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–महत्–बुद्धि–मन–भूत–जीव–शिपिविष्ट इन नौ कलाओं का परस्पर में 'विश्वत्व' साधर्म्य है। कारण इन नौ कलाओं की समष्टि का नाम ही विश्व है। १२ कलाओं का (विश्वविशिष्ट षोडशीपुरुष का) 'प्रजापतित्व' साधर्म्य है। १२ की समष्टि ही प्रजापति नाम से व्यवहृत होती है। अव्यय नाम की प्रथम कला से आरम्भ कर भूत नाम की १० वीं कलापर्यन्त १० कलाओं का परस्पर में 'ईश्वर-प्रजापतित्व' साधर्म्य है। क्यों कि भूत (पृथिवी) पर ईश्वर संस्था समाप्त होजाती है। भूत से आगे जीवसंस्था का आरम्भ होजाता है। महत् से आरम्भ कर भूत पर्य्यन्त (परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी) इन चार कलाओं का परस्पर में 'प्रतिमाप्रजापतित्व' साधर्म्य है। इन्हीं चारों कलाओं के दहरप्रजापतित्व, ईश्वरानुगतत्व, जीवानुगतप्रजापतित्व यह तीन साधर्म्य और समझने चाहिएं। अभय (परात्पर)– अव्यय–अक्षर आत्मक्षरसमष्टिरूप षोडशकल पुरुष 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' के अनुसार समष्टि व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्त है। अत एव अभयत्व, अव्ययत्व, अक्षरत्व, आत्मक्षरत्व यह चार साधर्म्य अव्ययादि शिपिविष्टान्त १२ कलाओं के समझने चाहिएं। इसी प्रकार स्वयं अव्यय की आनन्दादि पांचों कलाओं में पुरुषत्व साधर्म्य है। अक्षर की अमृत ब्रह्मादि पांचों कलाओं में पराप्रकृतित्व साधर्म्य है। आत्मक्षर की

मत्ये ब्रह्मादि पांचों कलाओं में अपराप्रकृतित्व साधर्म्य है। विश्वसृट्-पञ्चजन इन दो कलाओं में प्रकृतिविकृतित्व साधर्म्य है, आगे की पुरञ्जनादि शिपिविष्टान्त सब कलाओं में विकृतित्व साधर्म्य है। जीव-शिपिविष्ट का जीवत्व साधर्म्य है। जिन का परस्पर में साधर्म्य नहीं है, उन का वैधर्म्य तो स्वतः एव सिद्ध है। अतः वैधर्म्य के पृथक् निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं है। इस परस्पर के साधर्म्य वैधर्म्यभाव से चार संस्थाओं का स्वरूप संपन्न होजाता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होता है——

१—ईश्वरप्रजापतिः*

१—अव्ययः
२—अक्षरः
३—आत्मक्षरः
४—विश्वसृडादि–भूतपर्यन्तम्

} "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"–१–ईश्वरः

२—ईश्वराधियज्ञात्मकप्रतिमाप्रजापतिः

१—महत् = परमेष्ठी
२—बुद्धिः = सूर्यः
३—मनः = चन्द्रमाः
४—भूतम् = पृथिवी

} "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"-२–प्रतिमेश्वरः

* एकावस्थत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, पूर्णेन्द्रत्व, सर्वेन्द्रियत्व, क्लेशकर्मविपाकाशयापरामृष्टत्व, यह धर्म ईश्वरप्रजापति के माने जाते हैं।

३-जीवप्रजापतिः

१—अव्ययः २—अक्षरः ३—आत्मक्षरः ४—विश्वसृडादि जीवपर्यन्तम्	"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"-३-जीवः

४-शिपिविष्टप्रजापतिः

१—अव्ययः २—अक्षरः ३—आत्मक्षरः ४—विश्वसृडादि(जीवविरहितं) शिपिविष्टपर्यन्तम्	"चतुष्टयं वा इदं सर्वम्"-४-शिपिविष्टः

अव्यय से आरम्भ कर शिपिविष्ट पर्यन्त सारा प्रपञ्च " सृष्ट " रूप है, यह कहा गया है। अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर इन तीनों का "मानसीसृष्टि" के कारण सृष्टत्व है, पञ्चजन पुरञ्जन इन दोनों का " याज्ञिकीसृष्टि " से सृष्टित्व है, एवं महत् से आरम्भ कर शिपिविष्टपर्यन्त भाग का " मैथुनीसृष्टि " से सृष्टत्व है। इन्हीं मन-यज्ञ-मिथुनभावों की अपेक्षा से १२ कलाओं का सृष्टत्व किं वा सृष्टित्व उपपन्न होता है।

" द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च " इस अनुगमश्रुति के अनुसार इस दृश्य प्रपञ्च को सत्य और अनृत भेद से दोभागों में विभक्त माना जासकता है। पूर्वप्रतिपादित षोडशी आत्मा (प्रविष्ट-ब्रह्म) " सत्य " है, विराट्विश्व " अनृत " है। अनृत से मिथ्या-

* अष्टावस्थत्व, षडूर्म्मित्व, अर्द्धेन्द्रत्व, नियतेन्द्रियत्व, क्लेशकर्मविपाकाशयपरामृष्टत्व, दाम्पत्य यह जीव प्रजापति के प्रातिस्विक धर्म माने जाते हैं।

भाव कदापि अभिप्रेत नहीं है, जैसा कि "उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका" के "सत्यानृतविवेक" प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । नामरूपकर्मात्मक विश्व अनृत है, मन-प्राण-वाक्प्रधान विश्वसाक्षी षोडशी पुरुष सत्य है । यह सत्यात्मा इस अनृतविश्व का आत्मा बनरहा है । सत्यात्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित रहनें के कारण ही अनृतविश्व भी सत्यस्वरूप बनरहा है । आत्मसत्य से अनुगृहीत विश्व भी सत्य ही है, अत एव आगे जाकर सत्य-अनृत रूप द्वैतभाव का उन्मूलन कर आत्मविश्व की समष्टि को ही 'सत्य' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है, जैसा कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'ब्रह्मेदं सत्यम्' इत्यादि श्रौतप्रमाणों से स्पष्ट है। विश्व ब्रह्म है, ब्रह्म ही विश्व बना है । आत्मा (आत्मा का क्षरभाग) ही विश्व बना है, प्रतिसंचरकाल में विश्व आत्मरूप में ही परिणत हो जाता है । दूसरे शब्दों में सत्य ही विश्व बना है, इसलिए सत्यकारण से उत्पन्न होनें वाला कार्यरूप विश्व अवश्य ही सत्य है । यह 'सत्य' क्या वस्तु है ? सत्य का शब्दार्थ क्या है ? इस जिज्ञासा को पूरी करनें के लिए कृष्णसंहिता का 'सतियम्' शब्द हमारे सामनें आता है ।

वस्तुतः शब्द है-'सत्यम्' । इस सत्यम् के 'सत्-यम्' यह दो विभाग कर के मध्य में इकार का सन्निवेश करते हुए 'सत्-यम्' को 'सतियम्' बना दिया गया है । यह इकार 'इदं' (विश्वम्) शब्द से विश्व का अभिनय कर रहा है । 'सत्-यम् के मध्य में इदंशब्दवाच्य अनृत विश्व प्रतिष्ठित है' मध्यपतित इकार यही सूचित करता है । विश्व में बल की प्रधानता है । बल क्षणिक है, नास्ति-अस्ति-नास्ति (अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त) लक्षण बनता हुआ बलप्रधान विश्व नास्तिसार है । नास्तिसार क्षणिक बलधारा की समष्टि अत एव ऋतरूप विश्व ही अनृत है । जिस प्रकार सर्वस्वरूप संपादक प्राण 'प्राणे प्राणाभावः' इस सिद्धान्त के अनुसार 'असत्' नाम से व्यवहृत होता है, एवमेव ऋतमूर्त्ति विश्व 'ऋते ऋताभावस्तस्मादृ ऋतं विश्वमनृतम्' इस निर्वचन के अनुसार विश्व अनृत कहलाता है । आत्मा सद्रूप रसप्रधान है । अत एव 'सति (रसे) भवम्' इस व्युत्पत्ति से आत्मा को सत्य कहा जाता है । विश्व स्वयं ऋतरूप है । ऋत में ऋत नहीं रहता, अत एव ऋतरूप विश्व अनृत है, नास्तिलक्षण

है। इस का यह अर्थ नहीं है कि विश्व मिथ्या है। बल का स्वरूप ही नास्तिरूप है–अनृत-भाव का यही तात्पर्य है। इस प्रकार 'सत्यम्' (आत्मा) में इकार (विश्व) नहीं है (नास्ति-रूप है), फिर भी इकार सुनाई पड़ता है, अर्थात् आत्मा के मध्यपतित विश्व नास्तिसार होता हुआ भी आत्मानुग्रह से सद्वत् प्रतीत होरहा है, इसी रहस्य को सिखानें के लिए ऋषनें-सत्य के गर्भ में इकार का सन्निवेश कर इसे–'सतियम्' बनाडाला है। सत्यानुगृहीत अनृतभाव सत्य बनरहा है। पूर्व कथनानुसार यह अनृतविश्व सत्यात्मा का भोग्य (अन्न) बनता हुआ उसके गर्भ में प्रविष्ट होरहा है, अन्न अन्नाद के गर्भ में प्रतिष्ठित है। उधर विश्वविशिष्ट आत्मा को 'प्रजापति' कहा जाता है। अन्नरूप विश्व सत्य अन्नाद आत्मा में जाकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखता हुआ सत्यभाव में परिणत होरहा है, इसी आधार पर–"सत्यमु वै प्रजापतिः" **'प्रजा .ति'रवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** इत्यादि वचन प्रतिष्ठित हैं। आत्मा (आत्मा का आत्मक्षर भाग) ही तो विश्व बना है। सत् में 'स्-अ-त्' यह तीन विभाग हैं। सकार अक्षर का वाचक है, अकार अव्यय का वाचक है, तकार आत्मक्षर का वाचक है। यही सकार–अकार–तकार समष्टिरूप 'सत्' अमृतात्मा है। १२ कलाओं का निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि अव्यय अक्षर दोनों का एक विभाग है, इसे ही आत्मविभाग कहते हैं, एवं आत्मक्षरादि शिपिविष्टान्त १० कलाओं की समष्टि विश्व है। आत्मक्षर अविकृतरूप से आत्मस्वरूप में अन्तर्भुक्त है, एवं अपनें मर्त्य विकार स्वरूप से विश्व का उपादान बनता हुआ विश्व में अन्तर्भुक्त है। अक्षररूप सकार, अव्ययरूप अकार दोनों की समष्टि (स्–अ की समष्टि) 'स' है। व्यञ्जनरूप अत एव मर्त्यरूप तकार (त्) स्वतन्त्र है। यही आत्मक्षर है। अविकृत अवस्था में यह अव्ययाक्षररूप 'स' के साथ युक्त रहता हुआ 'सत्' का स्वरूप समर्पक (षोडशीपुरुष का स्वरूप समर्पक) बना हुआ है, यही तकार (आत्मक्षर) इकार रूप अनृतविश्व का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ इकार के साथ संयुक्त बन रहा है। तकार इधर भी है–उधर भी है। ऐसी अवस्था में आत्मा को 'सत्' कहा जासकता है, विश्व को 'ति' कहा जासकता है। इस अमृतरूप सत् आत्मा, मृत्युरूप ति विश्व

का परस्पर में सम्बन्ध कराने वाला, दूसरे शब्दों में आत्मा के त्तर भाग को विश्वरूप में परिणत कर-दोनों को एक सूत्र में नियन्त्रित करने वाला वही हमारा सुप्रसिद्ध मायाबल है। माया सीमासे ही आत्मा एवं विश्व का नियन्त्रण होरहा है। इसी नियन्तातत्त्व का वाचक 'यम्' है। सत् आत्मा, ति विश्व, यम्-नियन्ता तीनों की समष्टि ही 'सतियम्' है। आगे जाकर इकार वि.त्रा तिकार आत्मा में ऐसा संश्लिष्ट होजाता है कि 'सतियम्' भाव 'सत्यम्' रूप में परिणत होजाता है। अत एव नामरूपात्मक अनृत विश्व को-'नामरूपं सत्यम्' (शत. १४ कां. ४।४) इस रूप से स्पष्ट शब्दों में सत्य कह दिया जाता है। सत्यतत्त्व के इसी वैज्ञानिकस्वरूप को लक्ष्य में रखकर धर्मशास्त्र में अपना अपराध स्वीकार करने वाले व्यक्ति के दण्ड में शिथिलताका विधान माना गया है। यदि एक व्यक्ति अनुचित कर्म करके सच सच कह देता है तो उस का अपराध कम होजाता है। इसका कारण है-सत्यमहिमा। उसका अनृतभाव सत्य के गर्भ में प्रतिष्ठित होता हुआ उसी प्रकार सत्यपूत सत्ययुक्त बन जाता है, जैसे कि सत्यगर्भित अनृत विश्व सत्यभूय बन रहा है। आत्मविश्वसमष्टिरूप अमृतमृत्युमूर्त्ति आत्मन्वी प्रजापति की इसी सत्यविभूति का निरूपण करती हुई सामश्रुति कहती है—

"अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते-एष आत्मा-इति होवाच। एतदमृतम्, अभयम्, एतद् ब्रह्म। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम 'सत्यम्' इति।
तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतियमिति (सत्-ति-यम्-इति)।
तद्यत् तत् 'सत्'-तदमृतम्। अथ यत् 'ति' तन्मर्त्यम्। अथ यत् 'यम्' तेनोभे (अमृतमर्त्ये) यच्छति, यद्येनेनोभे यच्छति-तस्मात् "यम्"
(छां. उ. ८।३।५।) इति।

यह तो हुआ आत्मविश्वसृष्टि का सामान्य इतिवृत्त। अब सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों का विचार करिए। काम-तप-श्रम सृष्टि के यह तीन सामान्य अनुबन्ध माने जाते हैं। यह बत-

जाचुका है कि सृष्टिधारा भाव-गुण-विकार भेद से तीन भागों में विभक्त है। भावसृष्टि का प्रवर्त्तक अव्ययपुरुष है, गुणसृष्टि का संचालक अक्षरपुरुष है, एवं विकारसृष्टि का आरम्भक (उपादान) आत्मक्षरपुरुष है। भावसृष्टि पुरुषसृष्टि है, गुण-विकारसृष्टि प्रकृतिसृष्टि है। इन तीनों ही सृष्टियों के काम-तप-श्रम यह तीनों सामान्य अनुबन्ध हैं। अर्थात् भाव-गुण-विकार तीनों सृष्टियों के मूलप्रवर्त्तक काम-तप-श्रम ही हैं। कारण भावसृष्टि का मूलाधिष्ठाता मनप्राणवा-इमय सृष्टिसाक्षी अव्यय गुणसृष्टि के प्रवर्त्तक अक्षर, एवं विकारसृष्टि के प्रवर्त्तक क्षर दोनों में समान-रूप से व्याप्त है। अव्ययमन से उत्पन्न होने वाली सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) ही काम है, सर्वप्रथम मन में इस काम अनुबन्ध का ही उदय होता है। मन के साथ ही प्राण संलग्न है। मन के कामानुबन्ध से संलग्न प्राण क्षुब्ध होकर कुर्वद्रूप बनजाता है। प्राण की यह कुर्वद्-रूपावस्था ही 'तप' नाम का अनुबन्ध है। ब्राह्मणग्रन्थों में **'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति'** तप का यह लक्षण किया जाता है। अपने प्राण को कर्म्मसिद्धि के लिए खर्च कर देना ही तप किंवा तपश्चर्या है। यदि आप किसी वस्तु को अपनी आत्ममहिमा में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो पहिले प्राणबलिदान कीजिए। जबतक स्थान रिक्त न होगा तबतक आने वाली वस्तु कहां प्रतिष्ठित होगी। पहिले प्राण का खर्च कर स्थान रिक्त करना पड़ेगा, तब वस्तु यथावत् प्रतिष्ठित होसकेगी। सम्पत्तिग्रहण के पहिले त्याग अपेक्षित है। आत्मत्याग ही विभूति आगमन का मुख्य हेतु है। जो व्यक्ति त्याग नहीं करसकता, वह विश्वविभूति का भोक्ता नहीं बन सकता। बिना प्राणत्यागलक्षणतपश्चर्या के यदि विभूति का घुणाक्षरन्याय से आगमन हो भी जायगा तो उस का आत्मा के साथ अन्तर्याम सम्बन्ध न होगा। ऐसे भोग कभी आत्मानन्द के कारण नहीं बनेंगे। वास्तविक आनन्द के लिए प्रत्येक दशा में प्राणव्यापाररूप तप ही अपेक्षित है। जिस प्रकार सूर्यबिम्ब के केन्द्र से प्राणरूप रश्मियें प्राणदपानत् व्यापार करती हुईं परितः (चा-रों ओर) निकल कर व्याप्त होजाती हैं, इसी प्रकार मनबिम्ब के केन्द्र से निकल कर प्राण-तत्त्व प्राणदपानत् व्यापार करता हुआ चारों ओर व्याप्त रहता है।

प्राण का श्रम चारों ओर व्याप्त रहता है, अत एव इस प्राणव्यापाररूप तप को '**परिश्रम**' (चारों ओर व्याप्त होता हुआ श्रम) कहा जाता है, यही परिश्रम है, यही उद्योग (ऊर्ध्वयोग) है। यही पुरुष के अर्थ (अभीप्सित वस्तु) का साधक बनता हुआ पुरुषार्थ है। पुरुषार्थरूप परिश्रम से सब कुछ साध्य है। पुरुषार्थी के सामनें सारी विभूतिएं करबद्ध उपस्थित रहतीं हैं। यह प्राणव्यापार आभ्यन्तर व्यापार है। इस का चर्मचक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होसकता। जिसे कृति (यत्न--चेष्टा--कोशिश) कहा जाता है, वही तप नाम का प्राणव्यापार है। एक पक्षाघात (फ़ालिज) का रोगी उठनें की इच्छा करता है। इच्छानुकूल प्राणव्यापार भी होता है, वह उठनें की कोशिश भी करता है। इस प्रकार इसमें प्राणव्यापार होरहा है। परन्तु शरीररूप भूतभाग का श्रमरूप बहिर्व्यापार नहीं होता। अत एव वह उठनें में असमर्थ रहता है। तप और श्रम का यह विस्पष्ट भेद है। तीसरा अनुबन्ध श्रम है। प्राण से संलग्न तीसरा वाक्तत्त्व है। कामना से संचालित तपोमूर्त्ति प्राण का तत्संलग्न वाक्पर आघात होता है। वाक् क्षुब्ध हो पड़ती है। वाक् का यह व्यापार प्राणवत् परितः न होकर एकदिक् का अनुगमन करता है। अत एव इसे परिश्रम न कहकर "**श्रम**" कहा जाता है। प्राणव्यापार से अधिक क्षति होती है, वाग्व्यापार से उतनी क्षति नहीं होती। एक स्वाध्यायी स्वस्थान पर रह कर शरीर से अधिक काम न लेता हुआ भी प्राणव्यापाररूप परिश्रम करता हुआ दिन भर पत्थर ढोहने वाले एक मजदूर की अपेक्षा अधिक श्रान्त एवं क्लान्त होजाता है। कारण इसे परिश्रम करना पड़ता है, मजदूर श्रम करता है, अत एव जहां विद्यार्थी को **परिश्रमी** कहा जाता है, वहां मजदूर को "**श्रमजीवी**" कहा जाता है। श्रमजीवी में वाग्रूप शरीरव्यापार प्रधान है, प्राणव्यापार गौण है, स्वाध्यायी में प्राणरूप अन्तर्व्यापार प्रधान है, वाग्रूप शरीरव्यापार गौण है। यही वाक्व्यापाररूप शरीर व्यापार '**श्रम**' नाम का तीसरा सृष्ट्यनुबन्ध है। ज्ञानघन मन किंवा-मनोमयज्ञान से कामना का उदय होता है, काम के अव्यवहितोत्तरकाल में प्राणक्षोभरूप तप का उदय होता है, एवं तप के अव्यवहितोत्तरकाल में वाक्क्षोभरूप श्रम का उदय होता है। काम--तप--श्रम के समन्वय से सृष्टिकर्म संपन्न होता है, जैसा कि "**ज्ञानजन्या भवे-**

दिच्छा, इच्छाजन्यं क्रतुर्भवेत, कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत्कृतमुच्यते" इत्यादि रूप से पूर्व के पुरुषात्माधिकरण में बतलाया जाचुका है– (देखिए ई० वि० भा० १५२ पृष्ठ)। हमारे (मनुष्यों के) जितने भी कर्म्म हैं सब में काम––तप––श्रम की प्रधानता है। हम जो भी नई वस्तु बनाते हैं सब में इन तीनों का सम्बन्ध सर्वथा अपेक्षित है। बीज का अङ्कुरित होकर पुष्पित पल्लवित बनना, वायु का पानी में प्रविष्ट होकर फेनादि पदार्थ उत्पन्न करना, सर्वत्र समानरूप से काम–तप–श्रम की व्याप्ति है। जड़ चेतन सभी में व्यापार का प्रत्यक्ष होरहा है। ओषधि वनस्पति को थोड़ी देर के लिए जानें दीजिए, कारण इन में तो जीवसत्ता पाश्चात्यों नें भी मानली है। परन्तु यथाजात मनुष्यों की दृष्टि में "**निर्जीव**" नाम से प्रसिद्ध पाषाणादि में भी परिवर्त्तनरूप व्यापार अवश्य ही उपलब्ध होता है। इसी नित्य परिवर्त्तनरूप व्यापार से एक दिन पत्थर पुराना होजाता है। कालान्तर में श्लथावयव बनता हुआ जीर्ण-शीर्ण होजाता है। इस प्रकार जड़चेतनोभयविध पदार्थमात्र में व्यापार प्रत्यक्षदृष्ट है। यह व्यापार ही श्रम है। श्रम विना तप के नहीं होसकता, तप विना कामना के नहीं होसकता। अचेतन-पदार्थों के वाक्व्यापाररूप भौतिकव्यापार से ही उनके तप––और काम का अनुमान सत्य मानना पड़ता है। अव्ययमन, अव्ययप्राण––अव्ययवाक् से कोई भी स्थान, कोई भी पदार्थ विरहित नहीं है। जिन्हें आप अचेतन कह रहे हैं, विश्वास कीजिए उनमें भी ज्ञान–क्रिया–अर्थमूर्ति अव्ययेश्वर (चिदात्मा) प्रतिष्ठित है। इसी भौतिकचेतनवाद का स्पष्टीकरण करनें केलिए– "**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**" यह कहा गया है। "यदि अचेतन पदार्थों में भी ज्ञानमूर्ति अव्ययमन की सत्ता मानली जायगी तो शास्त्रसिद्ध–व्यवहारसिद्ध–प्रत्यक्षदृष्ट अचेतन व्यवहार उच्छिन्न होजायगा–" यह आपत्ति उठानें वालों को हम उत्तर में यही कहेंगे कि **आत्मसत्ता एवं आत्मा का अभाव** चेतन–अचेतन व्यवहार का कारण नहीं है, अपि तु––

> **"खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।**
> **सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"॥** (चरकसं. सूत्र. टी. अ. ४८ श्लो.)।

इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार " इन्द्रियसत्ता " एवं "इन्द्रियाभाव" ही चेतन-अचेतन भेद का व्यवस्थापक है। इन्द्रियों के रहनें से हृद्गत चेतना बाहर निकल जाती है, उसे आप चेतन कहदेते हैं। जिन में (पाषाणादि में) इन्द्रियद्वार नहीं होते, उन की हृद्गत चेतना को (द्वाराभाव से) बाहर की ओर विकसित होनें का अवसर नहीं मिलना, अत एव आप इन्हें अचेतन शब्द से व्यवहृत करनें लगते हैं। आत्मदृष्ट्या सब चेतन हैं, इन्द्रियदृष्ट्या चेतन-अचेतन यह द्वैधीभाव है। इसी सर्वव्यापक आत्मचैतन्यवाद को आधार मानकर **"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्" " इषे त्वोर्जेत्वा " "शृणोतु ग्रावाणः" " ओषधे त्रायस्व" "स्वधिते मैनं हिंसी" " आपोहिष्ठा मयोभुवः "** इत्यादि श्रौतव्यवहार समन्वित होते हैं। इस प्रकार प्रकृत अनुबंधनिरूपण से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि सर्वव्यापक मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी कर्म्माव्यक्त अव्ययात्मा के व्यापाररूप कामतपश्रम सृष्टि के प्रथम एवं साधारण अनुबन्ध हैं। क्षर-अक्षर-विकार-किसी से भी कोई भी सृष्टि हो, सब में (प्रत्येक में) काम-तप-श्रम इन तीनों अनुबन्धों का होना परम आवश्यक है। अपने आनन्द विज्ञान-मनोमय मुक्तिसाक्षी विद्याभाग से विश्व का आलम्बन अत एव विश्वातीत बनता हुआ वही मन-प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी कर्मभाग से काम-तप-श्रम रूपमें परिणत होता हुआ विश्व-में व्याप्त होकर विश्वमूर्त्ति बन रहा है। विश्वमूर्त्ति विश्व में भी है, बाहर भी है। वह कैसा है? इस का क्या उत्तर दिया जाय— **" न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपुः "**। अव्ययात्मा के इसी विश्वव्यापकस्वरूप को लक्ष्य में रखकर स्मृति कहती है——

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (गी. ७। ७।)
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (गी. १०। ८।)।

काम-तप-श्रम उक्त तीनों अनुबन्धों में **"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि"** के अनुसार **"काम"** नाम का मन का रेतोरूप जो प्रथम अनुबंध है, उस की **उक्थ-अर्क-अशिति** यह तीन भक्तिएं

हैं। उदाहरणार्थ सूर्य को लीजिए। द्युलोक में (खगोलस्थ २१ स्थान में) बृहतीछन्द के मध्य में स्थिररूप से प्रतिष्ठित सूर्य अपनी रश्मियों को अशिति (अन्न) ग्रहण के लिए बड़ी दूर तक (लोकालोक स्थानपर्यन्त) फैलाता है। रश्मियों द्वारा तत्तत् पदार्थों के तत्तदंशों का आदान कर उन्हें अपनें आत्मा में प्रतिष्ठित कर वह " आदित्य " नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सूर्यबिम्ब (सूर्य का गोला) " उक्थ " है। रश्मिएं " अर्चन्त्यरति " इस व्युत्पत्ति से " अर्क " हैं, रश्मिप्रतिष्ठित रस अशिति है। इन अशितियुक्त रश्मियों का अश्वमूर्त्ति सूर्य के साथ जिस प्रक्रिया से संगम होता है, वही मौलिक यज्ञप्रक्रिया "अर्काश्वमेध" नाम से प्रसिद्ध है। उक्थ–अर्क–अशि ये इन तीनों की मूलप्रतिष्ठा सूर्यकेन्द्रस्थित वही काम किंवा कामना है। इसी प्रकार आत्मा दहराकाशस्थ हृदयाकाशरूप खगोलस्थ मेरुदण्डरूप बृहती के मध्य में अविचालीभाव से प्रतिष्ठित रहता हुआ प्राणात्मक रश्मियों को अन्नादि भोग ग्रहणार्थ बाहर फैंकता है। रश्मिद्वारा अशिति लेकर उसे स्वात्मा में प्रतिष्ठित किया करता है। इनमें अविचाली स्वस्थान में प्रतिष्ठित आत्मा 'उक्थ' है, रश्मिएं अर्क है। यह अर्क विना अशिति के कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। अर्क में प्रतिष्ठित अर्कप्रतिष्ठारूप इस अशिति के अध्यात्मगत देव–पितर–इन्द्र-पशुप्राणादि के भेद से स्वाहा–स्वधा–वौषट्–नमः–प्रयतिः आदि अवान्तर अनेक भेद हैं। यह सब उसी अर्क में अन्तर्भूत हैं। इन अशितियों से अर्क व्याप्त रहते हैं, अर्कों से यह अशितिरूप अन्न खाए जाते हैं, व्याप्त किए जाते हैं–अतएव इन अन्नों को 'अश्नोति यदन्न तत्' इस निर्वचन से अशिति कहा जाता है। 'प्राणः–यत्–अश्नोति' ही परोक्षभाषा में 'अशिति' है। इन नानाविध अशितियों से ही अर्कद्वारा उक्थ आत्मा कालान्तर में पुष्ट बनता हुआ 'महदुक्थ' बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर–'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते' यह कहा जाता है। नाना अन्नरूप अशिति से ही महदुक्थ बनेहुए आत्मा में नाना कामनाओं का उदय होता है, काम से तप होता है, तप से श्रम होता है। तीनों के समन्वय से नई नई सृष्टिएं होतीं हैं जैसा कि 'प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य' के तृतीयप्रश्न के महदुक्थ प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है। प्रकृत में इन भक्तियों से केवल यही बतलाना है कि उक्थ--

अर्क–अशितिरूप काम–तप-श्रमद्वारा मनप्राणवाङ्मूर्ति अव्यय ही सृष्टि का मूलप्रवर्त्तक है।

षोडशीपुरुष सृष्टि कर्त्ता कैसे बनता है? सृष्टितत्त्व कितने भागों में विभक्त है? सृष्टिकलाओं में क्या साधर्म्य वैधर्म्य है? सृष्टि के साधारण अनुबन्ध क्या हैं? पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली इन अवान्तर प्रश्नमालाओं का प्रसङ्गोपात्त समाधान करना पड़ा, अब प्रकृत 'ब्रह्म' प्रकरण की ओर आप का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

ब्रह्म शब्द का शब्दार्थ है उपादानकारण। यद्यपि **"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" "सर्वं खल्विदं-ब्रह्म" "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्"** इत्यादि रूप से ब्रह्म शब्द की व्याप्ति अनेक अर्थों में देखी जाती है, तथापि सृष्टिधाराक्रम के अनुसार उपर्युक्त कुछ विशेष स्थलों को छोड़ कर बिना किसी विशेषभाव के उपात्त ब्रह्मशब्द केवल उपादानकारण का ही द्योतक बनता है। ब्रह्मशब्द का **'बिभर्ति सर्वम्'** यह निर्वचन होता है। कार्यविश्व की अपेक्षा से उपादानकारण में ही उक्त निर्वचन समन्वित होता है। अतः कार्यविश्व की अपेक्षा से हम उपादान को ही **'ब्रह्म'** कहेंगे' क्यों कि कार्य की प्रतिष्ठा उपादानकारण ही बनता है। सारा विश्व भौतिक है। इस भौतिकविश्व की प्रतिष्ठा षोडशी पुरुष का आत्मक्षर भाग ही (जिसे पूर्व के द्वादशकलाविभाग में **परिणामी** नाम से व्यवहृत किया गया है) बनता है, अतः इसे ही हम इस प्रकरण में **'ब्रह्म'** कहेंगे। पूर्व के अमृतात्म-प्रकरण में अमृतात्मा के **निर्विशेष–परात्पर–षोडशी**–यह तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन में तीसरे षोडशी पुरुष के अव्यय–अक्षर–क्षर यह तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। गीतोपनिषत् के अनुसार अमृतात्मा के यह पांचो विभाग क्रमशः **ऐकान्तिकसुख, शाश्वतधर्म, अव्यय, अमृत, ब्रह्म**–इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। निर्विशेष विशुद्ध रसरूप है। रस परमानन्द है, अतः इसे अवश्य ही **"ऐकान्तिकसुख"** (निष्कैवल्य–आनन्द) नाम से व्यवहृत किया जासकता है। सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति परात्पर व्यापक होने से सर्वधर्म्मोपपन्न है, यह मायाबंधन से रहित है। अत एव इसके स्वरूपधर्म का कभी विनाश नहीं होता, अतः इसे अवश्य ही **"शाश्वतधर्म"** (नित्यधर्म) कहा जासकता है। अव्यय नाम प्रसिद्ध है। प्रकृति अमृत–मृत्यु भेद से दो भागों

में विभक्त है। प्रकृति का अमृत भाग अक्षर नाम से प्रसिद्ध है, अतः इसे अमृत नाम से व्यवहृत करना उचित ही होता है। जैसा कि—"यद्वैवाक्षरं नाक्षीयत् तस्मादक्षयम्। अक्षयं ह वै नामैतत्—तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते" (जै० उ० १।२४।२) इत्यादि वचन से स्पष्ट है । मृत्युभाग क्षर है। यह क्षर उस अमृताक्षर का ही व्यक्तरूप है। अमृताक्षर से व्यक्त होने वाला यही मर्त्य—परिणामीक्षर कार्यविश्व का उपादान ब्रह्म बनता है—अतः इसे अवश्य ही 'ब्रह्म' शब्द से व्यवहृत किया जासकता है जैसा कि 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इत्यादि से स्पष्ट है। जिस प्रकार ईश्वरसंस्था में उक्त पांचों अमृतात्मसंस्थाएं प्रतिष्ठित हैं, एवमेव जीवसंस्था में भी यह पांचों उसी क्रम से प्रतिष्ठित हैं। जीव की इन पाचों संस्थाओं की प्रतिष्ठा ईश्वरीय पांचों संस्थाएं हैं, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर अव्ययेश्वर कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गीता-१४।२७)।

पञ्चामृतात्मसंस्था			
	१—ऐकान्तिकसुखः	निष्केवल्यरसमूर्तिः	—निर्विशेषः
	२—शाश्वतधर्मः	सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः	-परात्परः
	३—अव्ययः	पञ्चकलोपेतः	— अव्ययः
	४—अमृतम्	पञ्चामृतकलोपेतः	— अक्षरः
	५—ब्रह्म	पञ्चमर्त्यकलोपेतः	— आत्मक्षरः

——:o:——

पूर्व के विषयोपक्रम में (देखिए पृ. सं. २३८) महामायावच्छिन्न ईश्वर किंवा महेश्वर संस्था के पुरुष–प्रकृति–विकृति–विश्व यह चार विवर्त्त बतलाए गए हैं, एवं आगे जाकर इन्हीं चारों को क्रमशः अमृत–ब्रह्म–शुक्र–सत्य–इन नामों से व्यवहृत किया गया है । (देखिए पृ. सं. २३९)। इन चारों में अमृतसंस्थान्तर्गत पुरुषसंस्था में परात्पर- अव्यय- अक्षर-क्षर यह चार विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन चारों में अक्षर और क्षर को परा- अपराप्रकृति बतलाया

गया है। यह प्रकृतिभाव ब्रह्मरूप प्रकृत प्रकृतिभाव से सर्वथा पृथक् समझना चाहिए। आत्म-क्षर व्यक्तप्रकृति है, अक्षर अव्यक्तप्रकृति है, इस व्यक्त-अव्यक्तभाव से परे सनातन अव्यय है। यह प्रकृतिद्वयी अव्यय पुरुष से नित्य अविनाभूत है। इसी प्रकृतिद्वयी से पुरुष का स्वरूप निष्पन्न होता है, अत एव इस प्रकृतिद्वयी का पुरुष में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है' जैसा कि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च" इत्यादि रूप से स्पष्ट है। यदि अक्षरात्मक्षर को प्रकृति ही माना जाता है तो ऐसी अवस्था में ब्रह्मरूपा प्रकृति को '**प्रकृतिविकृति**' कहना चाहिए। कारण विकाररूप शुक्र की अपेक्षा से यह ब्रह्म प्रकृति है, एवं अक्षरात्मक्षर प्रकृति की अपेक्षा से यह ब्रह्मभाव विकृति है। शुक्रावच्छिन्न विश्व विकृतिसंघ है, ब्रह्म-प्रकृतिविकृति है, क्षराक्षर प्रकृति है, प्रकृतिविकृति से रहित अव्ययतत्त्व पुरुष है। सांख्यनें इसी क्रम को प्रधान माना है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

मूलप्रकृति र विकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सांख्यकारिका ३)।

१—मूलप्रकृतिरविकृतिः .... अक्षरात्मक्षरौ (अमृतम्)—प्रकृतिः
२—प्रकृतिविकृतयः सप्त .... ब्रह्म .... प्रकृतिवि०
३—षोडशकस्तु विकारः .... शुक्रम् .... विकृतिः
४—न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः .... अव्ययः (अमृतम्) .... पुरुषः

अक्षर और आत्मक्षर दोनों की समष्टि को मूलप्रकृति माना गया है। परन्तु वस्तुतः मूलप्रकृति अक्षर को ही कहना चाहिए। आत्मक्षर विपरिणामी है, विकारों का उपादान है, अतः इसे अविकृतिलक्षणा अक्षरप्रकृति में अन्तर्भूत नहीं माना जासकता। इसी लक्ष्य से पूर्व में द्वादश कलाओं का विभाग करते हुए हमनें अव्यय अक्षर का एक स्वतन्त्र विभाग माना है, एवं आत्मक्षरादि शिपिविष्टान्त १० कलाओं का एक स्वतन्त्र विश्वविभाग माना है (देखिए—पृ. सं. ३०१।)। अपनें विपरिणामीधर्म से अपराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध यह आत्मक्षर ही आगे

जाकर भूमि-आप-अग्नि-वायु-आकाश-मन-बुद्धि इन सात तत्त्वों में परिणत होता है। यही महदादि सात अवयव हैं। अव्यक्त महत् दोनों महत् हैं। आत्मक्षर अव्यक्त प्राणरूप में परिणत होता है, प्राण ही महत् रूप में परिणत होता है। इस प्रकार- आत्मक्षर-अव्यक्त- महत् तीनों का समन्वित एक रूप माना जाता है। दूसरे शब्दों में 'अपराप्रकृति' की व्याप्ति **आत्मक्षर-अव्यक्त-महत्'** इन तीनों पर है। इस सप्ततत्त्वसृष्टिप्रवर्त्तक आत्मक्षर से परे वही पराप्रकृति-रूप कूटस्थ अक्षर है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
> अपरेयम् ....।
> ....इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७।४।५)

अनन्त विकारों को उत्पन्न करता हुआ भी आत्मक्षर अविकृतरूप से रहता है, इसलिए तो इसे मूलप्रकृति में (अक्षर) अन्तर्भूत मानलिया जाता है। यदि ऐसा नहो तो अमृतात्मा षोडशी ही न कहलावे। कारण आत्मक्षर की कलाओं के विना १६ कलाएं नहीं होसकतीं। परन्तु साथ ही में वही आत्मक्षर विपरिणामी होता हुआ वैकारिक विश्व का उपादान बनता है, इसलिए इसे मूलप्रकृति (अक्षर) से पृथक् कर प्रकृतिविकृति मान लिया जाता है। यही हमारा विश्वप्रभव ब्रह्म है। क्षर ही विकारों का प्रवर्त्तक बनता हुआ भौतिक विश्वरूप में परिणत होता है, अत एव त्रिपुरुष की एक कलाभूत इस क्षरपुरुष के लिए स्पष्ट शब्दों में—**"क्षरः सर्वाणि भूतानि"** यह कह दिया जाता है। यही ब्रह्ममूर्त्ति क्षर हमारे **"प्राकृतात्माधिकरण"** की मूलप्रतिष्ठा है। पुरुष की अपेक्षा भले ही यह ब्रह्म विकृतिरूप हो, साथ ही में अव्यक्त अक्षर प्रकृति की अपेक्षा भले ही यह आत्मक्षर व्यक्त हो, परन्तु भूतज्योतिर्मय व्यक्त वैकारिक विश्व की अपेक्षा से तो हम इस व्यक्तात्मक्षररूपप्रकृतिविकृतिरूप ब्रह्म को 'प्र-

कृति' ही कहैंगे। कभी अक्षर को प्रकृति कहा जाता है, कभी अक्षर को पुरुष कहा जाता है, कभी आत्मक्षर को पुरुष कहा जाता है, कभी आत्मक्षर को प्रकृति कहा जाता है। कभी अक्षरात्मक्षर को मूलप्रकृति माना जाता है, कभी केवल अक्षर को मूलप्रकृति, आत्मक्षर को प्रकृतिविकृति माना जाता है। इन संकर व्यवहारों से प्रकृति-विकृति-पुरुष व्यवस्था में संदेह होजाता है। इस सन्देह के निराकरण के लिए ही पुरुष-प्रकृति-का निर्णय करना पड़ा। विश्वरचनाक्रम में परिणामी आत्मक्षर को ही प्रकृति समझना चाहिए, अविकृत आत्मक्षर युक्त षोडशी पुरुष को ही पुरुष समझना चाहिए- यह निर्णय किया गया। यही **प्रकृति**-(प्रकृति-विकृतिरूप आत्मक्षर)- **ब्रह्म** विश्व का उपादान कारण है। यह कैसे- किन रूपों से विश्व का उपादान बनता है? केवल इस प्रश्न का समाधान कर इस ब्रह्मप्रकरण को समाप्त किया जाता है।

यद्यपि अभी विश्व उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु विश्व की उत्पादिका (आलम्बन-निमित्त-उपादानकारण आदि) सब सामग्री उपस्थित है। आनन्द--विज्ञान-मनोमूर्त्ति अव्ययालम्बन पर प्रतिष्ठित अव्यय के-मन-प्राण-वाक्रूप सृष्टिसाक्षीभाग से अनुग्रहीत अत एव सर्वज्ञ-सर्व-शक्ति-सर्ववित् बना हुआ अक्षर काम--तप--श्रमलक्षण सृष्टि के साधारण अनुबंधों से युक्त होकर आरम्भक आत्मक्षर से विकार उत्पन्न करनें की इच्छा करता है। सामग्री क्षर है, निर्माता अक्षर है, आलम्बन अव्यय है, प्राणव्यापार चेष्टा है, मनोव्यापार कामना है, वाग्व्यापार श्रम है। सृष्टिसाक्षी अव्ययमन की उसी पूर्वपरिचित-'**एकोऽहं बहुस्याम्**' इस कामना से अक्षरद्वारा आत्मक्षर की ब्रह्मा-विष्णु इन्द्र-अग्नि-सोम इन पांचों मर्त्य कलाओं से क्रमशः प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद यह पांच विकार उत्पन्न होते हैं। वैकारिक विश्व के मूलभूत यही पांच विकारक्षर हैं, अत एव इन पांचों की समष्टि को '**विश्वसृट्**' (विश्वउत्पन्न करनें वाला) कहा जाता है। यही विश्वसृट् तत्त्व पुराण में '**ब्रह्मा**' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को विश्व के आरम्भ में उत्पन्न होनें के कारण '**प्रथमजब्रह्म**' कहा जाता है, जैसा कि-**ब्रह्मास्य सर्वस्य**

प्रथमजम्' (शत. ६।१।१।१०।) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। प्रथमजब्रह्म की ५ कलाओं का चार कलाओं में अन्तर्भाव है। यही चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, जैसा कि पूर्व में वतलाया जाचुका है-(देखिए ई. वि. भा. पृ. सं. २६०)। यह पांचों कलाएं आत्मक्षर के विकार हैं, अत एव इन्हें-'विकारक्षर' भी कहा जासकता है। पांच विकारक्षर उत्पन्न हुए, उत्पन्न होनें के अव्यवहितोत्तर-काल में ही पांचों कलाएं पांचों में प्रविष्ट होगईं। प्राण को आधार मान कर आप-वाक्-अन्न-अन्नाद यह चारों कलाएं प्राण में प्रविष्ट होगईं, इसी प्रकार आप्-वाक्-अन्न-अन्नाद इन चारों कलाओं का समन्वय होगया। इस पञ्चीकरण प्रक्रिया से प्राण-अवादि पांचों में एक एक कलामुख्य वन गई, शेष चार गौण रह गई। अर्थात्-पञ्चीकृतप्राण में आधे भाग में प्राण रहा, आधे में शेप अवादि चारों कलाएं रहीं। यही क्रम आप-वागादि शेष चारों पञ्चीकृत कलाओं में रहा। सभी कलाएं सब कलाओं में आहुत होगईं, अत एव यह सर्वाहुतिरूपा पञ्चीकरण प्रक्रिया आगे जाकर '**सर्वहुतयज्ञ**' नाम से प्रसिद्ध हुई जो कि सर्वहुतयज्ञ वेदादिसृष्टि का प्रवर्त्तक वननें वाला है। इस पञ्चीकृत प्राणादि में यद्यपि प्रत्येक कला में प्राण-आप-वागादि पांचों कलाओं का सन्निवेश है, तथापि एक एक कला की व्याप्ति आधे आधे भाग में है, शेप अर्द्ध-भाग में शेष चारों कलाएं प्रतिष्ठित हैं, अतः "**वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**" के अनुसार पांचों के रहते हुए भी उक्त प्राणादि पञ्चीकृत कलाएं **प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद**-इन नामों से ही व्यवहृत होतीं हैं। '**जनत्**' का उत्पत्ति भाव से सम्बन्ध है। संसृष्टलक्षण सृष्टरूप ही '**जनत्**' कहलाता है। इसी जनत् (उत्पत्ति) भाव के कारण प्रजा को '**जन**' (प्रजाजन) शब्द से व्यवहृत किया जाता है, जैसा कि "**प्रजा स्यात् संततौ जने**" (अमर) इत्यादि से स्पष्ट है। '**प्रजा वै जनकल्पाः**' (ऐ० ब्रा. ६ ३२) यह भी इसी भाव का समर्थक है। जनत् ही 'जन' है। आत्मक्षर से उत्पन्न प्राणादि (अपञ्चीकृत) विकारक्षर जनत्-भाव से युक्त वनते हुए, अत एव ईशप्रजापति की प्रजाकोटि में निविष्ट होते हुए अवश्य ही '**जन**' नाम से व्यवहृत किए जासकते हैं। प्राणादि पांचों जन (पांचविकार क्षर) उक्त सर्व-हुतयज्ञ से परस्पर में सम्मिलित होजाते हैं। इस समष्टि से प्राणादि प्रत्येक जन पांच पांच से

युक्त होजाते हैं। अत एव इन पञ्चीकृत पञ्चजनमूर्त्ति क्षरों को 'पञ्चजन' नाम से व्यवहृत किया जाता है। जनरूप विकारक्षर की यही दूसरी अवस्था है। प्राण- प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पांच जनों की समष्टि होनें से पहिला पञ्चजन है, पञ्चीकृत आप दूसरा, पञ्चीकृत वाक् तीसरा, पञ्चीकृत अन्न चौथा, पञ्चीकृत अन्नाद पांचवां पञ्चजन है। इस प्रकार पांच पञ्चजन होजाते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
>
> तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम ॥ (वृ.आ.उ.४।४।१७)

यही पांच पञ्चजन मिलकर सृष्टि करनें वाले हैं। यही विश्वन्यायालय के प्रधान निर्णायक हैं। भारतवर्ष की "पञ्चायती" व्यवस्था का यही मूलाधार है। आज भी लोक में प्रसिद्ध है कि "पञ्च परमेश्वर होता है, पांच जनें मिलकर जो न्याय करदेंगे वह हमें मान्य होगा"। इन पांच पञ्चजनों के मूलभूत विकारक्षर बतलाए गए हैं। इन विकारक्षरों की ही "निष्कैवल्य" और "मिश्र" भेद से दो अवस्थाएं होजातीं हैं। निष्कैवल्यावस्था मौलिक अवस्था है, मिश्रावस्था यौगिक अवस्था है। मौलिक अवस्था ही आगे जाकर यौगिकभाव में परिणत होजाती है। वही यौगिक अवस्था पञ्चीकरण प्रक्रिया से आगे जाकर "पञ्चजन" रूप में परिणत होजाती है। पञ्चजन विकारक्षर की ही मिश्रावस्था है। इसी यौगिकावस्था को सर्वहुतयज्ञ के सम्बन्ध से "यज्ञक्षर" भी कहा जासकता है। विकारक्षर की मौलिक अवस्था कभी स्वतन्त्ररूप से उपलब्ध नहीं होती। विकारक्षर जब भी मिलेंगे—पञ्चीकृतपञ्चजनावस्था में ही परिणत मिलेंगे। इस प्रकार आत्मक्षर से विकारक्षररूप विश्वसृट् का विकास हुआ, यही विश्वसृट् आगे जाकर पञ्चीकरण प्रक्रिया से यज्ञक्षररूप में परिणत होता हुआ "पञ्चजन" नाम से प्रसिद्ध होगया। यह आत्मक्षर की दूसरी सृष्टिधारा हुई।

उपर्युक्त पञ्चजन विकारक्षरों की मिश्रावस्था मात्र है। यह मिश्रभाव नियत अनियत भेद से आगे जाकर दो स्वरूपों में परिणत होजाता है। जिस मिश्रण में समानभाव का सम्बन्ध है,

वह नियमितमिश्र कहलाता है, एवं जिस मिश्रण में स्वरूप परिवर्त्तन होजाता है, वह अनियमित-मिश्र कहलाता है। अब तक पञ्चीकरण प्रक्रिया से जिन प्राणादि का मिश्रण हुआ है, इस मिश्रण से जिन मिश्रितरूप पांच पञ्चजनों का स्वरूप निष्पन्न हुआ है- इन्हें हम नियमितमिश्र-भावापन्न ही माननें के लिए तय्यार हैं। कारण उक्त मिश्रण सर्वथा व्यवस्थित होता हुआ सर्वथा एकरूप है। इस मिश्रण में केवल प्राणादि के संनिवेशमात्र में तारतम्य है। प्राण--आप--वाक्-अन्न-अन्नाद पाचों में वे ही प्राणादि सन्निविष्ट हैं, अभी स्थूलभाव का समावेश नहीं है। क्यों कि यह पञ्चजन समानरूप हैं, एवं इन्हें सृष्टि का मूल बतलाया जाता है, इधर स्वयम्भू-आदि सृष्टि के पञ्चधा विभक्त पांचों पर्वों में हम परस्पर में विषमता देखते हैं। स्वयम्भू परमेष्ठी से भिन्न है, सूर्य का स्वरूप परमेष्ठी से भिन्न है, चन्द्रमा सूर्य से नहीं मिलता, पृथिवी स्वतन्त्र ही स्वरूप रखती है। कोई ज्ञानज्योतिर्म्मय है, कोई स्वज्योतिर्मय है, कोई रूपज्योतिर्मय है, कोई परज्योतिर्मय है, कोई अज्योतिरूप है। कोई आपोमय है, कोई प्राणमय है, कोई वाङ्मय है। कोई अनुपाख्यतमरूप है, कोई अनिरुक्तमरूप है, कोई निरुक्तमोमय है। कोई अव्यक्त है, कोई व्यक्त है, कोई व्यक्ताव्यक्त है। यदि इन सब का उपादानद्रव्य समान ही होता तो विश्व में यह वैचित्र्य, यह विभिन्नभाव कथमपि संभव नहीं था। हम विश्वावयवों में विजातीयता देखते हैं, उन्हीं पदार्थों के रहनें पर भी उन के संनिवेशतारतम्य से इन में प्राणादि का अनियमित मिश्र पाते हैं, ऐसी अवस्था में नियमितमिश्रभावापन्न पञ्चजन से अतिरिक्त इन्हीं के एक दूसरे अनियमितमिश्रभावापन्न पञ्चजन की सत्ता स्वीकार करनीं पड़ती है। वही विश्व का यथार्थ उपादान है। वह अनियमितमिश्रभाव है क्या वस्तु? इस का उत्तर है "**पञ्चीकृतपञ्चजन**"।

प्राणादि मौलिक विकारत्नरों के पञ्चीकरण से जैसे पञ्चजनों का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवमेव इन पञ्चीकृत प्राणादि पञ्चजनों के अनियमितमिश्रभावात्मक पञ्चीकरण से पञ्चीकृत पञ्चजनों का स्वरूपनिर्माण होता है। इस प्रकार पञ्चजन ही नियमित अनियमित मिश्रभाव के भेद से **पञ्चजन--पञ्चीकृतपञ्चजन** इन दो भागों में विभक्त होजाता है। व्यवहारसांकर्य को दूर करनें केलिए ऋषियों नें जहां प्रथम पञ्चजन को पञ्चजन नाम से व्यवहृत किया है, वहां

अनियमितमिश्रभावापन्न, अत एव स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पुरों के उत्पादक इस दूसरे पञ्चीकृत पञ्चजन को– '**पुरञ्जन**' (पुर उत्पन्न करने वाला) नाम से व्यवहृत किया है। जिस क्रम से पञ्चजनों का स्वरूप निर्म्माण हुआ था, उसी क्रम से इन पुरंजनों का निर्म्माण होता है। पञ्चजन प्राण को आधार मानकर शेष चारों पञ्चजनों की (आप–वाक्–अन्न–अन्नाद की) आहुति होनें से पहिला पुरंजन उत्पन्न होता है। यही क्रम शेष चारों पुरञ्जनों में समझना चाहिए। पञ्चनों में प्रत्येक में पांच पांच कलाएं हीं थीं, परन्तु पुरञ्जनों में प्रत्येक में २५–२५ कलाओं का सन्निवेश है जैसा कि पञ्चजनोत्पत्तिक्रम में बतलाया गया है। पञ्चजनोत्पादक क्रम **सर्वहुत-यज्ञ** नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव पुरंजन स्वरूपोत्पादक कर्म्म भी सर्वहुतयज्ञ नाम से व्यवहृत *किया जासकता है। वस्तुतस्तु वास्तविक सर्वहुतयज्ञ तो इस पुरंजन सम्बन्धी पञ्चीकरण प्रक्रि-*या को ही मानना चाहिए। '**सब**' की सर्व में आहुति होनें से सर्वहुतयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है।-यह सर्वता विशुद्ध मौलिक क्षरस्वरूप विकार क्षरों के साथ लागू नहीं होती। कारण विशुद्ध प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद पांचों ही अपञ्चीकृतावस्था में असर्वरूप हैं। '**सर्व**' और '**कृत्स्न**'-शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ हैं। "**अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्**" (अनेक वस्तुओं की समष्टि सर्वता है), एवं "**एकस्याशषत्वं कार्त्स्न्यम्**" (एक वस्तु की पूर्णता कृत्स्नता है) इन लक्षणों से सर्वता—कृत्स्नता का पार्थक्य सिद्ध है। १० पुस्तकों की समष्टि के लिए '**सर्व**' शब्द का प्रयोग होगा, एवं पूरी एक पुस्तक के लिए '**कृत्स्न**' शब्द का प्रयोग होगा। प्राणादि मौलिक क्षर (प्रत्येक) कृत्स्न अवश्य मानें जासकते हैं, परन्तु इन्हें सर्व नहीं कहा जासकता। ऐसी अवस्था में इन असर्व प्राणादि की आहुति से सम्पन्न होनें वाले यज्ञ को कथ-मपि '**सर्वहुतयज्ञ**' नहीं कहा जासकता। दूसरे शब्दों में पञ्चजनोत्पादक विकारक्षरयज्ञ को सर्वहुतयज्ञ नहीं माना जासकता। हां यदि सर्वहुतयज्ञ का– "**सब की सब में आहुति**" यह अर्थ मान लिया जाय तो यह असर्व यज्ञ भी यथाकथंचिद् सर्वहुत माना जासकता है। क्योंकि प्राणादि सभी परस्पर में आहुत होकर पञ्जजनोत्पत्ति के कारण बनते हैं, एवं किसी हद तक यह अर्थ ठीक भी माना जासकता है। इसी लिए उक्तार्थ को लक्ष्य में रखकर पूर्व में हमनें

इस असर्वयज्ञ को भी सर्वहुतयज्ञ कह दिया है। यह सब कुछ समाधान होनें पर भी विज्ञान-मर्यादा के अनुसार सर्व का "**सब में सब का आहुत होना**" यह अर्थ नहीं बन सकता, अपि तु सर्वशब्द को प्राणादि का ही विशेषण मानना न्यायसंगत होता है। जो प्राण–जो आप आदि सर्वरूप होंगे, एवं ऐसे सर्वप्राण–सर्वापादि से जो यज्ञ संपन्न होगा, वही वास्तव में सर्वहुतयज्ञ माना जायगा। इधर विशुद्ध प्राणादि कृत्स्न बनते हुए भी सर्वमर्यादा से दूर हैं। अतः इन से होनें वाला यज्ञ असर्व ही माना जायगा। इधर पञ्चीकृत प्राण आपादि सर्वरूप हैं। कारण प्रत्येक पञ्चजन में प्राणादि पांचों का समन्वय है। अतः पञ्चीकृत आप को '**सर्वप्राण**' पञ्चीकृत आप को '**सर्वाप**' इत्यादि रूप से सर्वशब्द से व्यवहृत किया जासकता है। इन्हीं सर्वप्राणादि की समष्टि के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में '**सार्व्यम्**' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जन्मसिद्ध इसी सार्व्यबल के प्रभाव से एक राजा अपनें समस्त राष्ट्र पर शासन करनें में समर्थ होता है। यदि इस सार्व्यबल की कमी होती है तो यज्ञविशेष द्वारा इसे अपनें में सार्व्यप्राणादि को आत्मसात करना पड़ता है। वही यज्ञ '**सार्वसेनियज्ञ**' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए–"**स एष प्रजापतिकामस्य यज्ञः**"(कौ. ब्रा. ४।६।) यह कहा जाता है। पुरञ्जनोत्पादक यज्ञ इन सर्वरूप पञ्चीकृत प्राणादि से निष्पन्न होता है, अतः हम इसे ही '**सर्वहुतयज्ञ**' माननें के लिए तय्यार हैं।

पञ्चीकृताः–सार्व्यप्राणादयः-पञ्चजनाः

पञ्च—पञ्चजनाः

१–**सर्वप्राणः**[1] .... प्राणप्रधानः (अप्[2]—वाक्[3]—अन्नाद[4]-अन्नमयस्तस्मात्[5] सर्वरूपः)।

२–**सर्वापः**[1] .... अप्प्रधाना (वाक[2]—अन्नाद[3]-अन्न[4]—प्राणमयी[5] तस्मात् सर्वरूपा)।

३–**सर्वावाक्**[1] .... वाक्प्रधाना (अन्नाद[2]-अन्न[3]—प्राण[4]—आप्मयी[5] तस्मात् सर्वरूपा)।

४–**सर्वान्नादः**[1] .... अन्नादप्रधानः (अन्न[2]—प्राण[3]—आपो[4]— वाङ्मयस्तस्मात्[5] सर्वरूपः)।

५–**सर्वमन्नम्**[1] .... अन्नप्रधानम् (प्राण[2]—आप्[3]—वाक्[4]—अन्नादमयं[5] तस्मात् सर्वरूपम्)।

——:०*०:——

यही पांचों सर्वप्राणादि हमारे पांच पञ्चजन हैं। इन के प्राणादि का मिश्रभाव सर्वथा नियत है। आगे जाकर इन का परस्पर में यज्ञ (आहुति) होता है। सर्वप्राणादि के समन्वय से निष्पन्न होनें वाला यही यज्ञ 'सर्वहुतयज्ञ' कहलाता है। वेदादि का स्वरूप संपदान इसी सर्वहुतयज्ञ पर निर्भर है जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनें वाला है। पञ्चजनों से वेद का सम्बन्ध नहीं है, अपि तु पुरञ्जनों से है। उधर श्रुति **"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत"** (यजु. सं. ३१अ. ७मं.) इत्यादि रूप से सर्वहुत-यज्ञ के साथ ही वेदादि का सम्बन्ध मानती है। इस लिए भी पुरञ्जनोत्पादक यज्ञ को ही सर्वहुत-यज्ञ कहना न्यायप्राप्त होता है।

पांच पञ्चजन स्वतन्त्र रहकर कोई सृष्टि नहीं कर सकते, पांचों पञ्चजन मिलकर पुरञ्जनरूप में परिणत होकर ही सृष्टिकर्म में समर्थ बनते हैं। अत एव **छन्दःपुरुषविज्ञान** के अनुसार (देखिए ऐ. आ. ३।२।३।) यदि पांच पुरुष (मनुष्य) एक कार्य के लिए परस्पर में मिल जाते हैं तो सर्वहुतयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। प्रत्येक मनुष्य पञ्चीकृत प्राणादि की स्थूल अवस्थारूप पञ्चभूतमय होनें से पञ्चजन है। एक एक मनुष्य पञ्चभूत की समष्टिरूप होता हुआ एक एक पञ्चजन है। किसी कार्य की सर्वता (पूर्णता) प्राप्त करनें के लिए प्रकृतिवत् कम से कम ऐसे पांच पञ्चजनों का (पांच मनुष्यों का) एकत्रा होना आवश्यक है। पांच पञ्चजन जहां एक सूत्र में बद्ध होजाते हैं, वहां पांचों मिलकर एक विचार पर पहुंचते हुए अभिन्न बनजाते हैं। ऐसा होते ही सर्वहुतयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होजाता है, एवं तत्काल उस विषय की (जिस की सिद्धि के लिए यह सम्मिलित हुए हैं) पूर्ति होजाती है। इसी आधार पर भारतीय वैज्ञानिक समाजशास्त्रियों नें **'पञ्चायती'** व्यवस्था का उद्घाटन किया है। यही व्यवस्था धर्मग्रन्थों में **'ब्रह्मपर्षत्'** किंवा **'पर्षत'** (परिषत्) नाम से प्रसिद्ध हुई है। कहना नहीं होगा कि समाज को सुव्यवस्थित रखनें के लिए इस वैज्ञानिक व्यवस्था (पञ्चायती व्यवस्था-पञ्चफैसला) से बढ़कर दूसरा सरल मार्ग नहीं है। हम देखते हैं कि लोक में प्रत्येक जातिव्यवस्थानिर्णायक व्यक्ति **'पञ्च'** किंवा **'पञ्चजन'** नाम से प्रसिद्ध होता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी विषय के निर्णय की

अपेक्षा होती है तो वह कहा करता है—"भाई मैं तो पांच पञ्चों को एकट्टा करूँगा। जब पांच पञ्च (पञ्च पञ्चजन) इकट्ठे होंगे तभी मेरा सुधारा होगा"। यह लोकव्यवहार भी पाच पंचजनों की समष्टि पर ही सर्वभाव की मर्यादा सीमित मानता है।

इस प्रकार पांच पञ्चजनों के पञ्चीकरण से २५ कल पांच पुरञ्जन उत्पन्न हुए। इन की उत्पत्ति अनियमितमिश्रभाव से हुई, अत एव इन के स्वरूप में भी अन्तर होगया। यही पांच पुरञ्जन विज्ञानशास्त्र में क्रमशः **वेद्–लोक–प्रजा–वीर्य्य पशु** इन नामों से प्रसिद्ध हुए। सर्वप्राण (पञ्चीकृत प्राण) में शेष सर्वाप-सर्ववागादि चारों की आहुति होनें से '**वेद्**' नाम का, सर्वाप में सर्वप्राणादि चारों की आहुति होनें से '**लोक**' नाम का, सर्ववाक् में शेष चारों की आहुति से '**प्रजा**' नाम का, सर्वान्नाद में शेष चारों की आहुति से '**वीर्य्य**' नाम का, एवं सर्वान्न में शेष चारों की आहुति होनें से '**पशु**' नाम का पुरञ्जन उत्पन्न हुआ। पूर्वकथनानुसार इन २५ का मिश्रण सर्वथा अनियत है, विभिन्नधर्मा है। वेदपुरञ्जन लोकपुरंजन से, लोक प्रजा से, वीर्य प्रजा से, पशु वीय से भिन्न है। इसी भेद के कारण भेदावच्छिन्न, दूसरे शव्दों में अनियमितमिश्रावच्छिन्न इन वेद लोकादि पुरंजनों से स्वयम्भू आदि पुरों का जन्म होता है। वेदपुरंजन से **स्वयम्भूपुर**, लोकपुरंजन से **परमेष्ठीपुर**, प्रजापुरंजन से **सूर्यपुर**, वीर्यपुरंजन से **पृथिवीपुर**, एवं पशु पुरंजन से **चन्द्रपुर** का निर्माण होता है। इन पांचों पुरों की समष्टि ही विश्व है, जैसा कि आगे की विश्वनिरुक्ति में स्पष्ट होजायगा।

आत्मक्षर ब्रह्म था, वही विकारक्षर बना, विकारक्षर ही पञ्चीकरण से पञ्चजन बना, वही पञ्चजन सर्वहुतयज्ञ से विश्वपुरोत्पादक पुरंजन बना। इस प्रकार कार्यविश्व का उपादानभूत वह ब्रह्मतत्त्व (आत्मक्षररूप विपरिणामी तत्त्व) अपनें आप को (विकार भाग से) विकार–पञ्चजन–रूप में परिणत कर वेदादि पंचभावों में परिणत होगया। केवल आत्मक्षर ब्रह्म (उपादान कारण) बननें में तबतक असमर्थ रहता है, जबतक कि वह विकार–पञ्चजनरूप में परिणत होता हुआ पुरंजन नहीं बनजाता। एसी अवस्था में पुरञ्जनावच्छिन्न आत्मक्षर को ही हम 'ब्रह्म' (विश्व का उपादान) माननें के लिए तय्यार हैं। यही ब्रह्म (विकार–पञ्चजन–पुरंजन

समष्टिरूप आत्मक्षर) कार्यविश्व की प्रकृति है। यह प्रकृतिब्रह्म अव्ययाक्षररूप आत्मा से अविनाभूत है, इस में आत्मा प्रविष्ट रहता है । इस आत्मानुग्रह के सम्बन्ध से ही हम इस प्रकृतिब्रह्म को **प्राकृतात्मा** (प्रकृतिरूप आत्मा) कह सकते हैं। साथ ही में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह ब्रह्म उसी पुरुष का अंश है, अत एव उससे अभिन्न है। जो अमृतात्मा था, वही अपनें क्षरांश से विकार--पञ्चजन--पुरंजन बनता हुआ आज '**ब्रह्म**' (उपादान) बनगया है। तभी तो--'**तद् ब्रह्म**' यह वाक्य चरितार्थ होता है। वेदादिपुरञ्जन पर्यन्त ब्रह्म की व्याप्ति है। यह ब्रह्म चतुर्मुख है—यह पूर्व में बतलाया जाचुका है। सृष्टिधारा को सुव्यवस्थित करनें के लिए यही ब्रह्म आगे जाकर शुक्ररूप में परिणत होता है। ब्रह्मनिरुक्ति समाप्त हुई, अब शुक्रनिरुक्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

——:o:——

आत्मक्षरब्रह्म (तद् ब्रह्म)

१—प्राणविकार—प्राणपञ्चजन—वेदपुरञ्जनमयः पञ्चविंशतिकलः-प्राणमूर्त्तिरात्मक्षरो **ब्रह्मा**

२—अब्विकार—अप्पञ्चजन—लोकपुरञ्जनमयः पञ्चविंशतिकलः-अब्मूर्त्तिरात्मक्षरो **विष्णुः**

३—वाग्विकार—वाक्पञ्चजन—प्रजापुरञ्जनमयः पञ्चविंशतिकलः – वाङ्मूर्त्तिरात्मक्षरो **इन्द्रः**

४—{ अन्नविकार—अन्नपञ्चजन—पशुपुरञ्जनमयः पञ्चविंशतिकलः — अन्नमूर्त्तिरात्मक्षरः **सोमः**
अन्नादविकार-अन्नादपञ्चजन—वीर्यपुरञ्जनमयः पञ्चविंशतिकलः – अन्नादमूर्त्तिरात्मक्षरः **अग्निः** }

} चतुर्मुखं ब्रह्म 'ब्रह्मा' वा

आत्मक्षरप्रपञ्चसंग्रहतालिका

१ —	१— मर्त्यब्रह्मा परिणामी २—मर्त्यविष्णुः परिणामी ३—मर्त्यइन्द्रः परिणामी ४—मर्त्यसोमः परिणामी ५—मर्त्यअग्निः परिणामी	}	पञ्चकलं–आत्मक्षरब्रह्म (अक्षरसमुद्भवम्)
२ —	१.—मर्त्यब्रह्मविकारः—विशुद्धः प्राणः २—मर्त्यविष्णुविकारः–विशुद्धा आपः ३—मर्त्येन्द्रविकारः—विशुद्धा वाक् ४—मर्त्यसोमविकारः—विशुद्धं-अन्नम् ५—मर्त्याग्निविकारः—विशुद्धोऽन्नादः	}	पञ्चकलं विकारक्षरब्रह्म (आत्मक्षरसमुद्भवम्)
३ —	१-अप्-वाक्-अन्न-अन्नादगर्भितः प्राणमूर्त्तिः पञ्चकलोपेतः-प्राणः २-वाक्-अन्न-अन्नाद-प्राणगर्भिता-आपोमय्यः पञ्चकलोपेताः-आपः ३-अन्न-अन्नाद-अप्-प्राण-गर्भिता-वाङ्मयी पञ्चकलोपेता–वाक् ४-अन्नाद-वाक्-अप्–प्राणगर्भितं–अन्नमयं–पञ्चकलोपेतं–अन्नम् ५-अन्न-वाक्-आप्-प्राणगर्भितः अन्नादमयः पञ्चकलोपेतः-अन्नादः	}	पञ्चविंशतिकलं पञ्चीकृतं पञ्चजनब्रह्म (विकारक्षरसमुद्भवम्)

पञ्चविंशत्युत्तरशतकलं पञ्चीकृतानां पञ्चानां पञ्चीकृतरूपं पुरञ्जनब्रह्म

पञ्चीकृतक्षरसमुद्भवम्

१-पञ्चीकृत-आप्-वाक्-अन्न-अन्नादगर्भितः पञ्चीकृतप्राणमूर्त्तिः पंचविं० कलः - प्राणपुरञ्जनः

२-पञ्चीकृत-वाक्-अन्न-अन्नाद-प्राणगर्भितः पञ्चीकृताब्मूर्त्तिः पञ्चविंशतिकलः - अप्पुरञ्जनः

४–३-पञ्चीकृत-अन्न-अन्नाद-आप्-प्राणगर्भितः पञ्चीकृतवाङ्मूर्त्तिः पञ्चविं० कलः - वाक्पुरञ्जनः

४-पञ्चीकृत-अन्नाद-वाक्-आप्-प्राणगर्भितः पञ्चीकृतान्नमूर्त्तिः पञ्चविंश०कलः - अन्नपुरञ्जनः

५-पञ्चीकृत-अन्न-वाक्-आप्-प्राणगर्भितः पञ्चीकृतान्नादमूर्त्तिः पञ्चविंशतिकलः - अन्नादपुरञ्जनः

१–आत्मक्षरब्रह्म	—मूलब्रह्म	—"तद्ब्रह्म" (चतुष्टयं वा इदं सर्वम्)
२–विकारक्षरब्रह्म.	—तूलब्रह्माणि	
३–पञ्चजनब्रह्म		
४–पुरञ्जनब्रह्म		

इति–चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणे-

ब्रह्मनिरुक्तिः
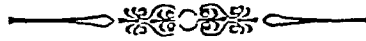
अव्यक्तात्माधिकरणान्तर्गत—

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणे-

"शुक्रा"धिकारस्तृतीयः

"तदेव शुक्रम्"

३
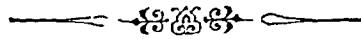
तदेव शुक्रम्

३—चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपण

शुक्रनिरुक्तिः—

रञ्जनावच्छिन्न आत्मक्षर ही आगे जाकर 'शुक्र' रूप में परिणत होता है। इसी शुक्र को षट्कलोपेत होने से 'षड्ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जाता है। षड्ब्रह्मरूप शुक्र के सम्बन्ध से ही विश्व समष्टि—एवं व्यष्टिरूप से 'षाट्कौशिक' कहलाता है। शुक्र के वे ६ रूप वक्—आँप—,अग्नि—अग्नि—आँप—वाक् इन नामों से व्यवहृत होते हैं। वस्तुतः वाक्—आप-अग्नि भेद से शुक्र तीन ही हैं। परन्तु यह त्रिकल शुक्र आत्मक्षर से अनुग्रहीत होता हुआ रसबलरूप (अमृत—मृत्युरूप) आत्मप्रजापति (षोडशीपुरुष) से युक्त रहता है। रसबलयुक्त आत्मा के सम्बन्ध से ही इस में भी अमृत—मृत्युभाव का उदय होजाता है। यह द्वैधीभाव न केवल शुक्र के साथ ही, अपितु विश्व के प्रत्येक पदार्थ के साथ समन्वित रहता है। प्रत्येक पदार्थ में आधा भाग अमृत है, आधा भाग मृत्यु है। मृत्युभाव तत्तद् पदार्थों के नाम—रूप—कर्म का अधिष्ठाता है, यह सर्वथा परिवर्तनशील है। अमृतभाव सत्ता (अस्ति-है) रूप से प्रतिष्ठित रहता है। मन प्राण वाक् की समष्टि सत्ता है। मन से रूप का, प्राण से कर्म का, वाक् से नाम का विकास होता है। दूसरे शब्दों में अमृत मन का मर्त्यभाग रूप है, अमृतप्राण का मर्त्यभाग कर्म है, एवं अमृता वाक् का मर्त्यभाग नाम है। नाम—रूप—कर्मरूप मृत्युभाग मनप्राणवाङ्मय सत्तारूप अमृतभाग पर प्रतिष्ठित रहता है। इस अमृत——मृत्यु के समन्वितरूप का ही नाम 'पदार्थ' है। इस प्रकार अमृत मृत्युरूप रसबल सब में समान रूप से व्याप्त हैं। इस व्याप्ति के अनुसार त्रिकल शुक्र को भी

हम अमृत–मृत्युरूप ही कहेंगे। शुक्र की उक्त तीनों कलाओं में से प्रत्येक कला अमृत–मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त है, अत एव तीन की ६ कलाएं होजाती हैं। इन ६ ओं में अमृत कलाएं आधार बनीं रहती हैं, मृत्यु कलाएं उपादान बनती हैं। इस प्रकार यह षट्कल शुक्र ही आगे जाकर विश्व का उपादान बनता है। अमृतगर्भिता वाक्कला के, अमृतगर्भिता अप्कला के, एवं अमृतगर्भिता अग्निकला के स्थूल–सूक्ष्म–सुसूक्ष्म भेद से आगे जाकर तीन तीन विभाग होजाते हैं। इस प्रकार त्रिकल गर्भित त्रिकल शुक्र त्रिवृत् (९ कल) बन जाता है। यही त्रिवृद्ब्रह्म (९ कल शुक्र) विश्व का ब्रह्म (उपादान) है–(देखिए–तां. ब्रा.- २।१६।४।)।

वाक्–आप्–अग्नि तीनों में से सर्वप्रथम वाक् को ही लीजिए। यह वाक्तत्त्व वेदपुरञ्जन का ही रूपान्तर है, जैसा कि आगे के वेदस्वरूप निर्वचन से स्पष्ट होजायगा। इस वाक् की घनावस्था शब्द है। वाक् ही वीचिन्याय से संकुचित होकर शब्द में परिणत होती है। शब्द वाक् का स्थूलरूप है, अत एव शब्द से हमारे प्रज्ञान पर आघात होता है। सर्वत्र वाक्समुद्र व्याप्त है। संयोग–विभाग–अथवा शब्द से इस वाक्समुद्र में आघात होता है, आघात से वाक् में लहर पैदा होती है। वही लहर हमारे श्रोत्रपर आकर धक्का लगाती है, वहांपर प्रज्ञान मन प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रज्ञानपर आहत वाक् वीचि ही शब्द का कारण बनती है। अत एव– '**शपं–आक्रोशं–मत्साघातं-ददाति**' इस निर्वचन से इसे शब्द कहा जाता है। यही शब्दतत्त्व सूक्ष्म अवस्था में परिणत होकर विकाश रूप में परिणत होता है। जिसे आप प्रकाश (उजेला) कहते हैं, वह शब्द का ही दूसरा (सूक्ष्म) रूप है। शब्द ही विकसित होकर प्रकाशरूप में परिणत होता है। वर्षाकाल में नभोमण्डल में आप विद्युत्प्रकाश देखते हैं, साथ ही में कभी कभी गर्जन भी सुनाई पड़ता है। पहिले विद्युत्प्रकाश दीखता है, अनन्तर कुछ क्षणों बाद शब्द (गर्जन) सुनाई पड़ता है। वस्तुतः स्थिति इसके विपरीत है। पहिले शब्द उत्पन्न होता है, शब्द ही आंशिकरूप से विकासित होकर विद्युत्प्रकाशरूप में परिणत होजाता है।

परन्तु बात यह होती है कि शब्द स्थूलावस्था है, अत एव उसे आनें में विलम्ब होता है, विद्युत् सूक्ष्मावस्था है, अत एव अन्तरिक्ष में रहनें वाले वायु—भूतपरमाणु आदि इस का अवरोध नहीं करसकते। अतः शब्द से कहीं बाद उत्पन्न होनें वाली सूक्ष्म विद्युत् पहिले हमारे दृष्टिपथ में आजाती है, एवं विद्युत् का जनक शब्द स्थूल होनें से मध्यावरणों को हटाता हुआ प्रकाश के अनन्तर सुनाई पड़ता है। यदि आवरण अधिक होता है तो शब्द वहीं विलीन होजाता है, अत एव कभी कभी केवल प्रकाश ही दिखलाई देता है। कहना यह है कि शब्द ही विकसित होकर प्रकाशरूप में परिणत होता है। शब्द (Sound) और विद्युत् (Electric) का जन्यजन्यकभाव सम्बन्ध है। शब्द से विद्युत् उत्पन्न होती है, अत एव सौर वृषभ इन्द्र के लिए–'**वृषभो रोरवीति**' यह कहा जाता है। सौरप्रकाश को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं कि वृषभसूर्य का यह प्रकाश उस का शब्द है। सौरीवाक् शब्दरूप में परिणत होकर आगे जाकर विकाशभाव को प्राप्त होती हुई प्रकाशरूप में परिणत होरही है। यह शब्द न केवल भौतिकप्रकाश का ही जनक है, किन्तु उस अमृतवाक् के गर्भ में रहनें से यही शब्द ज्ञानप्रकाश का भी जनक बनता है। शब्दद्वारा ही बोध का उदय होता है–यह सर्वविदित है। शब्द की सूक्ष्मावस्थारूप यही विकाश ब्राह्मणग्रन्थों में विशेष अवस्थाओं की अपेक्षा से **ज्योति-हिरण्य—गायत्री** आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। विकाश आगे जाकर और भी विकसित होता है, यही इसकी तीसरी सुसूक्ष्मावस्था है, यही प्राणावस्था कहलाती है। यहां सीमाभाव टूट जाता है, सर्वत्र व्याप्ति होजाती है, अत एव वाक् की इस तीसरी अवस्था को '**आकाश**' कहा जाता है। यही आकाश नामरूप का अधिष्ठाता बनता है, जैसा कि "**आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता**" से स्पष्ट है। यही आकाश वाक् है। इस का आधार अमृतावाक् रूप इन्द्रतत्त्व है। जो अमृतेन्द्र '**शुन**' नाम से प्रसिद्ध है, वह अमृतावाक् है। अमृतावाक् पुरुषरूप है, मर्त्यावाक् बलप्रधान बनती हुई प्रकृतिरूप है, अत एव इसे '**इन्द्रपत्नी**' कहा जाता है। इन्द्रगर्भिता इन्द्रपत्नी (अमृतवाक्गर्भिता मर्त्यावाक्) ही शब्द—विकाश-आकाश इन तीन रूपों में परिणत होकर सब की मूलप्रतिष्ठा बनती है। आकाश इसका प्रातिस्विक रूप है। यही संकुचित

होकर विकाश रूप में परिणत होती है, विकाश ही संकुचित हो कर शब्दरूप में परिणत होता है। शब्द ही वेदतत्त्व है–इसी आधार पर **'वाग्विवृताश्च वेदाः'** यह कहा जाता है। यही शब्दात्मक किंवा शब्दतन्मात्रात्मक वेदतत्त्व सारी सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है–जैसा कि–**'वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे'** (मनुः १। २१) इत्यादि से स्पष्ट है। आकाश स्वरूपावस्था है–वही स्थूलबनकर विकाश, अतिस्थूल बनकर शब्दरूप में परिणत होता है। आकाश ही (मर्त्यावाक् ही) शब्द बना हुआ है। शब्द आकाश का गुण नहीं है, अपि तु शब्द आकाश से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शब्द–विकाश- आकाशरूप इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहनें वाला अमृतवाक् (इन्द्र)–गर्भित यह मर्त्यावाक्–(भूतजननी इन्द्र-पत्नी) तत्त्व सर्वत्र व्याप्त होरहा है। वाक् के इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

> "वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
> वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
> वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नाभिः।
> सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥" (तै.ब्रा.२।८।८)

दूसरा है **'आपशुक्र'**। आप की घनावस्था आप ही है, सूक्ष्मावस्था (तरलावस्था) वायु है, एवं सूक्ष्मावस्था (विरलावस्था–प्राणावस्था) सोम है। सोम प्राणमूर्त्ति है, यह अन्तरिक्ष (आका-श) में प्राणरूप से सर्वत्र व्याप्त है। अत एव इस के लिए **'त्वंमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्'** (ऋक् सं.१।९१।२२) यह कहा जाता है। यही सोम आगे जाकर पञ्चाग्निविद्या के अनुसार वायु-रूप में परिणत होता हुआ —अप्रूप में परिणत होजाता है। (देखिए छां. उ. ५।३।४।५) सोम मौलिकतत्त्व है। यही स्वावस्था में सोम, तरलावस्था में वायु, विरलावस्था में **'अप्'** ब-नजाता है।

तीसरा है **अग्निशुक्र**। अग्नि की घनावस्था अग्नि है, तरलावस्था वायु (रुद्रवायु किंवा यम-

वायु) है, एवं विरलावस्था (प्राणावस्था) आदित्य है। वस्तुतस्तु एक ही वाक्तत्त्व वाक्-आप-अग्निरूप में परिणत होरहा है। वाक् अंशरूप से आप्बना है। आप् की भृगु-अंगिरा यह दो अवस्थाएं हैं। भृगु की आप्-वायु- सोम यह तीन अवस्थाएं हैं, एवं अङ्गिरा की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। इस प्रकार वाक्-आप्-अग्नि इन तीनों शुक्रों का अन्ततोगत्वा वाक्शुक्र में ही अन्तर्भाव होजाता है। तभी तो **"वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता" "अथो वागेवेदं सर्वम्"**(ऐ.आ.३।१।६)यह कहना अन्वर्थ बनता है। अस्तु इन सब का विशद निरूपण आगे के प्रकरणों में होनें वाला है, अतः इस सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि वाक्-आप-अग्नि यह तीन मुख्य हैं, तीनों ही अवस्था भेद से त्रिवृद्भाव से आक्रान्त हैं।

वागापोऽग्निमयं त्रिवृत्-शुक्रम्		
वाक् ३	आपः ३	अग्निः ३
अमृतवाग्गर्भितं वाक्-शुक्रम्	अमृताप्गर्भितं आपः-शुक्रम्	अमृताग्निगर्भितं-अग्निशुक्रम्
१–शब्दः (स्थूलावस्था)	१–आपः (घनावस्था)	१— अग्निः (घनावस्था)
२–विकाशः (सूक्ष्मावस्था)	२–वायुः (तरलावस्था)	२—यमः (तरलावस्था)
३–आकाशः (प्राणावस्था)	३–सोमः (विरलावस्था)	३–आदित्यः(विरलावस्था)

विश्व में उष्ण (गरम), शीत (ठंढे), अनुष्णाशीत (न गरम–न ठंढे) भेद से तीन प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं। इन में उष्णपदार्थों का प्रधानमूल **अग्नितत्त्व** है, शीतपदार्थों की मूलप्रतिष्ठा **आप्तत्व** है, एवं अनुष्णाशीत पदार्थों का मूलाधार **वाक्तत्त्व** है। प्रत्येक पदार्थ में वाक्-आप-अग्नि तीनों शुक्र प्रतिष्ठित रहते हैं, ऐसी अवस्था में प्रत्येक पदार्थ

" निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च " (यजुः सं० ३४।११) यह कहा जाता है। सूर्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठी है। इस का निर्माण अमृताग्नि—वाक्शुक्रगर्भित अमृत आपशुक्र से हुआ है। परमेष्ठी से ऊपर (सब के ऊपर) स्वयम्भू है, इस की स्वरूपनिष्पत्ति अमृताग्निआपशुक्रगर्भित अमृतावाक् से हुई है। इन तीनों अमृतशुक्रों में मर्त्यशुक्र गर्भ में हैं, अमृतशुक्र विकसित हैं, अत एव सूर्य से ऊपर का स्थान अमृतप्रधान माना जाता है। इस प्रकार अमृत–मर्त्य के तारतम्य से तीन अमृत शुक्र होजाते हैं, तीन मर्त्य शुक्र होजाते हैं। ६ ओं शुक्रों की समष्टि ही **'सर्वम्'** है। स्वयम्भू अमृतवाक्शुक्रमय है, परमेष्ठी अमृतआपशुक्रमय है, सौरप्राण अमृताग्नि-शुक्रमय है, सूर्यपिण्ड मर्त्याग्निशुक्रमय है, चन्द्रपिण्ड मर्त्याप्शुक्रमय है, भूपिण्ड मर्त्यावाक्शुक्रमय है। उस छोर में अमृतवाक् है, इस छोर में मर्त्यवाक् है। उपक्रम में भी वाक् है, उपसंहार में भी वाक् है। इस विश्व के ठीक मध्य में (केन्द्र में) अमृताग्नि–मर्त्याग्निरूप सूर्यसंस्था है। सूर्य के उस ओर पारमेष्ठ्य अमृत आप् है, इस ओर चान्द्र मर्त्य आप है। मध्यस्थ अग्निमूर्त्ति शुक्र दोनों ओर से पानी से घिरा हुआ है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

> **"अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या य।**
> **या रोचने परस्ताव् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥ "**
>
> (ऋक् सं. ३।२२।३।)

प्रज्वलित अग्नि के ऊपर पात्र में पानी भर कर रख दीजिए। अग्निताप के प्रवेश से पानी खौलनें लगेगा। इसी प्रकार अग्नि सम्बन्ध से चारों ओर अन्तरिक्ष में व्याप्त पानी खोल रहा है। यही पानी का शब्द **'अनाहत नाद'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। शरीर में अधिक भाग पानी का है। यह पानी शरीर में व्याप्त वैश्वानर अग्नि से खौल रहा है। कान बंद करलेनें पर जो शब्द सुनाई पड़ रहा है, वह इसी खोलते हुए पानी का शब्द है, यही आध्यात्मिक अनाहत-नाद है। इस निदर्शन से बतलाना यह है कि अग्नि पानी से वेष्टित रहता है। यदि सौर अग्नि चारों ओर से पानी से वेष्टित न रहता तो यह अग्नि थोड़े ही समय में सारे संसार को भस्म कर

डालता। इस प्रकार उक्त ६ शुक्र उक्त रूप से विश्व पर्वों के उपादान बनते हुए विश्व में व्याप्त होरहे हैं। यही शुक्र ग्रन्थिबंधन का प्रधान कारण है। यह तो हुई समष्टि रूप विश्व की कथा, अब प्रत्येक पदार्थ में इन शुक्रों का प्रत्यक्ष करिए। प्रत्येक पार्थिव पदार्थ पानी और अग्नि के मिथुनभाव से उत्पन्न हुआ है। पानी से यहां चान्द्रसोम अभिप्रेत है। चान्द्रसोम की अग्नि में आहुति होती है, इस से पार्थिव पदार्थ का जन्म होता है। स्वयं पार्थिव दृश्यभाग मर्त्यवाक्शुक्र है। इस में सोम (मर्त्यापशुक्र) एवं अग्नि (मर्त्याग्निशुक्र) हैं। इस प्रकार वाक्-आप अग्नि इन तीनों मर्त्यशुक्रों के समन्वय से पार्थिव लोष्टादि पदार्थों का भौतिक स्वरूप निष्पन्न हुआ है। इस भौतिक शुक्रत्रयी के साथ उस अमृत प्रधाना शुक्रत्रयी का सम्बन्ध होता है। आप पदार्थ को नहीं देखते, अपि तु पदार्थ का रूप (बाहर का वर्ण—रंग) देखते हैं। यह रूपभाग भूतज्योतिस्वरूप है। भूतज्योति का प्रवर्त्तक प्राणात्मक सौरइन्द्र है, इसी अभिप्राय से—"रूपं रूपं मघवा बोभवीति" (ऋक् सं० ३।५३।८) "इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्" इत्यादि कहाजाता है। सूर्य की प्राणमयी प्रत्येक रश्मि सप्तवर्णात्मिका है। प्रत्येक पदार्थ के साथ सप्तवर्णमयी सौर रश्मिका सम्बन्ध होता है। परन्तु ग्राहक पदार्थ की विशेषता से (पदार्थ जिस वर्ण के ग्रहणकरने का सामर्थ्य रखता है—उस सामर्थ्यरूप विशेषता से) सब वर्णों का सम्बन्ध न होकर पदार्थ के साथ नियत कृष्ण—पीत—हरित—रक्त—श्वेत—आदि किसी एक ही वर्ण का सम्बन्ध होता है। पदार्थ में जो वर्ण (रूप-रंग) है, वह यही सब से ऊपर का सौरइन्द्रप्राणगर्भित **अमृताग्निशुक्र** नाम का पहिला स्तर है। अग्न्यन्तर के सम्बन्ध से इस वर्णरूप मूर्च्छित अग्निशुक्र को प्रबुद्ध कर दीजिए, जागृत होते ही—**'आदिद्देवेषु राजसि'** (ऋक् ८।६०।१५) के अनुसार उस पदार्थ में से अमृताग्निशुक्र उत्क्रान्त होकर स्वलोकभूत देवलोक (सूर्य) में चला जायगा। इस प्रकार अग्निसम्बन्ध से ऊपर का अमृताग्निशुक्रस्तर उत्क्रान्त होजायगा, रहजायगा कृष्णरूप में परिणत दग्ध पदार्थ, यही दूसरा आपस्तर है। सूर्य से ऊपर आपशुक्रमय परमेष्ठी की सत्ता बतलाई है। यहां भूतज्योति का अभाव है, अत एव इस आप को अनिरुक्त कृष्ण कहा जाता है। सूर्यस्तर से भीतर यह अनिरुक्त कृष्णरूप आपस्तर रहता है। जब सू-

यरूप अग्निस्तर निकल जाता है तो क्रमप्राप्त यह दूसरा सर्वथा कृष्ण पारमेष्ठ्य आपस्तर निकल आता है । यच्च यावत् पदार्थों की जलने के बाद यही कृष्णावस्था होजाती है । दूसरे आप नाम के शुक्र का यह प्रत्यक्ष दर्शन है । और अग्नि सम्बन्ध होने से आगे जाकर पदार्थ की यह कृष्णता भी नष्ट होजाती है । यदि निरन्तर अग्नि सम्बन्ध होता रहता है—तो कुछ समय बाद कालाभाग उत्क्रान्त होजाता है, स्वच्छ शुक्ल भस्म रहजाता है । यही तीसरा स्वायम्भुव 'वाक्स्तर' है । यह महाविभूति है, वाग्ब्रह्म की साक्षात् प्रतिकृति है, महेश्वर की प्रिय वस्तु है । इस प्रकार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में भी आप उक्त क्रमानुसार ६ ओं शुक्रों के दर्शन कर सकते हैं ।

यह शुक्रभोग तो पिण्ड के साथ बतलाया गया । अब महिमामण्डल में इन का भोग देखिए । प्रत्येक वाङ्मय पिण्ड का एक महिमामण्डल (पिण्डपृष्ठ से स्पर्श करता हुआ, पिण्ड को केन्द्र बनता हुआ निराकार प्राणमण्डल) बनता है । इस महिमामण्डल के ४८ स्तोम माने जाते हैं । इन ४८ स्तोमों के केन्द्र में प्रतिष्ठित स्वयं पदार्थपिण्ड मर्त्यवाक्शुक्रमूर्ति है । १५ स्तोमपर्यन्त मर्त्याप नाम का दूसरा शुक्रस्तर है, २१ स्तोमपर्यन्त मर्त्याग्नि नाम का तीसरा शुक्रस्तर है । १७ से २५ स्तोमपर्यन्त नवाहयज्ञ नाम से प्रसिद्ध स्वर्ग्याग्नि (नाचिकेताग्नि) नाम का चौथा अमृताग्निस्तर है। २१ से ३३ तक पारमेष्ठ्य अमृताप नाम का पांचवां स्तर है , एवं ४८ तक स्वायम्भुव वाक् नाम का ६ ठा शुक्रस्तर है । इस प्रकार महिमावच्छिन्न प्रत्येक पदार्थ में वस्तुपिण्ड—पञ्चदशस्तोम—एकविंशस्तोम — नवाहस्तोम — त्रयस्त्रिंशस्तोम — अष्टाचत्वारिंशस्तोमभेद से ६ ओं शुक्रों का भोग सिद्ध होजाता है ।

प्रकारान्तर से शुक्रषट्क् का विचार करिए। "सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः" (शत.५।१।१।४) "प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च" इत्यादि के अनुसार अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, अधियज्ञादि प्रपञ्च के समष्टि एवं व्यष्टि रूप सारे पदार्थ "प्रजापति"-रूप हैं। यह प्रजापति- "उभयम्वेतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च" (शत. ६।५।३।७) के अनुसार अनिरुक्त-निरुक्त भेद से दो भागों में विभक्त है। प्रत्येक पदार्थ प्रजापति है। इस प्रजापतिरूप पदार्थ में एक भाग ऐसा है जिस का आप शब्द से अभिनय कर सकते हैं। वही (दृश्य) भाग "निरुक्त" (निर्वचनीय) कहलाता है, इसी को "मर्त्य" कहा जाता है। यही प्रजापति का "परिमित-मूर्त्तरूप" है। दूसरा भाग ऐसा है, जो केवल स्वानुभवैकगम्य है। इस में शब्द की गति नहीं है। वाणी द्वारा उस का निर्वचन नहीं किया जासकता, अत एव इस भाग को 'अनिरुक्त' (अनिर्वचनीय) कहा जाता है। यही भाग 'अमृत' नाम से प्रसिद्ध है। यही प्रजापति का "अपरिमित-अमूर्त्त" रूप है। प्रजापति के इन्हीं दोनों विभागों को लक्ष्य में रखकर—"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनोमर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" यह यह कहा जाता है। यह दोनों अनिरुक्त—निरुक्त विभाग वही आपके सुपरिचित ६ शुक्र हैं। अमृतशुक्रत्रयी अनिरुक्त भाग है, मर्त्य शुक्रत्रयी निरुक्त भाग है। दोनों की समष्टि प्रजापति है। पहिले आधिदैविकमण्डल में ही इस का प्रत्यक्ष करिए। अमृतशुक्र देवसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा है, मर्त्यशुक्र भूतसृष्टि का आरम्भण (उपादान) है। अपने इन दोनों भागों से देव-भूत इन दो प्रजाओं को उत्पन्न कर वह अपने प्रजापति नाम को सार्थक बना रहा है। अमृतशुक्र के शुभ्र—कृष्ण—पृश्नि—यह तीन विभाग हैं, यही तीन विभाग मर्त्यशुक्र के हैं। अन्तर दोनों में केवल इतना है कि अमृत शुभ्र—कृष्ण—पृश्नि अनिरुक्त हैं, मर्त्य शुभ्र-कृष्ण-पृश्नि निरुक्त हैं। निरुक्त शुक्रत्रयी को आप आंखों से देख रहे हैं, अमृत शुक्रत्रयी केवल अनुमान गम्य है, बुद्धिगम्य है, शास्त्रद्वारा तटस्थ-लक्षणगम्य है।

मर्त्यशुभ्र भस्म (मिट्टी) है। यही अनुष्णाशीत वाक् नाम का पहिला मर्त्यशुक्र है। मर्त्य कृष्ण शीत आप नाम का दूसरा मर्त्यशुक्र है। मर्त्य पृश्नि उष्ण अग्नि नाम का तीसरा मर्त्यशुक्र

है। भूपिण्ड—चन्द्रपिण्ड—सूर्यपिण्ड इन तीनों पिण्डों को आप अपनें चर्मचक्षु से देख रहे हैं। इन तीनों में भस्म (मिट्टी)-रूप अनुष्णाशीत भूपिण्ड पहिला 'वाक्' नाम का मर्त्य शुक्र है- "**वागिति पृथिवी**" (जै. उ. ब्रा. ४।२२।११)। शीतांशु चन्द्रमा आप नाम का दूसरा मर्त्य कृष्ण स्तर है- "**चन्द्रमा वै ब्रह्म कृष्णः**" (शत. १३।२।२।७)। चन्द्रमा पानी का गोला है- "**अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि**" (यजुः सं० ३। ६०)। तरणिकिरण संग से यह पानीय पिण्ड दिनकर दिशा में चन्द्रिका से प्रकाशित हो रहा है। आपोमय चन्द्रपिण्ड स्वस्वरूप से सर्वथा कृष्ण (काला) होता हुआ सूर्य प्रकाश से प्रकाशित होर हा है-(देखिए ऋक् सं. १।८४।१५)। तीसरा सूर्यपिण्ड उष्ण अग्नि नाम का तीसरा मर्त्य पृश्णिस्तर है। विविध वर्ण (रंग) समष्टि ही 'पृश्णि' है। जिसे "**चित्रविचित्र**" (चितकबरा) कहा जाता है, वही वेद भाषा में 'पृश्णि' कहलाता है। सूर्य में विविधप्रकार के सात रंग हैं, अत एव सूर्य को 'पृश्णि' कहा जाता है-'**आयं गौः पृश्णिरक्रमीदसन्मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः**' यजुः सं. ३।६)।

सूर्य्य मर्त्याग्निपिण्ड है। इस की आधार भूमि अमृताग्नि (प्राणाग्नि नाम से प्रसिद्ध सावित्राग्नि) है। यही अनिरुक्त **पृश्णि** नाम का पहिला अमृताग्निस्तर है। सूर्य्य से ऊपर आपोमय परमेष्ठी है। यह घोर कृष्ण है, परन्तु अनिरुक्त है। तीसरा स्वयम्भू शुभ्रस्तर है। यही वाक् नाम का तीसरा अनिरुक्त शुक्र है, यही शुभ्र स्तर है। शुभ्र स्वयम्भू, कृष्ण परमेष्ठी, पृश्णि सौर अमृताग्नि यह तीनों ही अमृतशुक्र आपके दृष्टिपथ से अतीत हैं। अत एव इन्हें अवश्य ही अनिरुक्त कहा जासकता है। इस विषय का विशद विवेचन '**सपर्यगाच्छुक्रम्**' इत्यादि मन्त्र भाष्य में होनें वाला है, अतः प्रकृत में विशेष विस्तार अनपेक्षित है।

इति-चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणे-

शुक्रनिरुक्तिः—

३
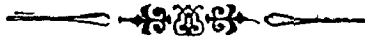
अथ

अव्यक्तात्माधिकरणान्तर्गत-

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणे

"विश्वा"धिकारश्चतुर्थः

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे 'तदु नात्येति कश्चन'

४
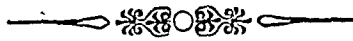
४—विश्वनिरुक्तिः

(तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे)

महेश्वर प्रजापतिब्रह्म के अमृत—ब्रह्म—शुक्र इन तीन पादों का निरूपण होचुका, अब क्रमप्राप्त विश्वपाद का संक्षिप्त निरूपण किया जाता है। चतुष्पाद् ब्रह्म अपनें अमृत—ब्रह्म—शुक्र इन तीन पादों से विश्व का अधिष्ठाता बनता हुआ, एक पाद से विश्वरूप में परिणत होरहा है। **"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः"** (यजुः ३१।४) इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करता है। तीन विभाग स्वतन्त्र हैं, एक विभाग स्वतन्त्र है, इसी विभाग व्यवस्था को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति नें—**"तदेव शुक्रं—तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते"** इत्यादि रूप से अमृत—ब्रह्म—शुक्र इन तीन पादों का एक साथ निरूपण कर—**"तस्मिंल्लोकाः—श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन"** इस उत्तर भाग से लोक (विश्व)—पाद को त्रिपाद्ब्रह्म के आश्रित बतलाते हुए उस को स्वतन्त्ररूप से विभक्त कर दिया है। इस का यह अर्थ नहीं है कि लोकसंस्था (विश्व) उस त्रिपाद्ब्रह्मविभूति से पृथक्—अथवा विजातीय है। अपि तु जो तत्त्व अमृत—ब्रह्म—शुक्र भेद से त्रिपाद् बनता है, वही क्षरांशसे विश्व बना है, इस अभिन्नता को सूचित करनें के लिए, दूसरे शब्दों नें अमृत—ब्रह्म—शुक्र—विश्व यह चारों पाद उस एक ही ब्रह्म के हैं, यह बतलानें के लिए आगे जाकर—**'एतद्वै तत्'** यह कहकर अभेद बतला दिया है। उसी चतुर्थपाद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

षोडशीपुरुषगर्भित-पञ्चविकार-पञ्चपञ्चजन-पञ्चपुरञ्जन-षट्शुक्रगर्भित आत्मक्षरब्रह्म **अव्यक्तब्रह्म** है। इसी से विश्व की अभिव्यक्ति होनें वाली है। दूसरे शब्दों में यही अव्यक्तब्रह्म वाक् नाम के शुक्र को अग्रणी बनाकर व्यक्तावस्था में परिणत होनें वाला है। स्वयं अव्यक्त ब्रह्म तो व्यक्तविश्व बनने वाला है, एवं अव्यक्तब्रह्म को व्यक्त करनें वाला मनप्राणवाङ्मयसृष्टिसाक्षी अव्यय से अनुगृहीत अक्षरब्रह्म है। अव्यय एक स्वतन्त्र धरातल है। इसी आलम्बन पर अक्षरपुरुष अव्यय के

मन–प्राण–वाक् से–काममय–तपोमय–श्रममय बनता हुआ अव्यक्तब्रह्म (आत्मक्षर) को व्यक्तावस्था में परिणत करनें वाला है । इस प्रकार विश्वनिर्माणोपयोगी सामग्री संभार संपन्न है । बननें के लिए आधार , बनानें के लिए उपादान द्रव्य, बनाने योग्य व्यापार, बनानें वाला सभी कुछ प्रस्तुत है । विश्वरचना का आरम्भ होनें ही वाला है ।

१.—बनानें के लिए आधार (आलम्बन)–आनन्दविज्ञानमनोमयअव्ययमुक्तिसाक्षी ।

२—बनानें के लिए उपादानद्रव्य ,आरम्भण)–विकारादिशुक्रान्तगर्भितआत्मक्षर ।

३—बनानें योग्य व्यापार (साधन)–मनप्राणवाङ्मयअव्ययसृष्टिसाक्षी ।

४—बनानें वाला.......... (कर्त्ता)–काम–तप–श्रममूर्त्ति अक्षर ।

पुरञ्जनावच्छिन्न एवं शुक्रावच्छिन्न आत्मक्षर की पहिली कला प्राणमयी है । इस की यह प्राणकला ही क्रमशः विकार–पञ्चजन रूप में परिणत हुई है । यह प्रथम पुरञ्जन वेद नाम से प्रसिद्ध है । यही प्राणमूर्त्ति वेदपुरञ्जन वाङ्मय प्रथम शुक्र है । वाक्शुक्र वेदपुरञ्जन से अभिन्न है, इधर वेदपुरञ्जन प्राणपञ्चजन–प्राणविकार से अभिन्न होता हुआ आत्मक्षर की प्राणकला से अभिन्न है । यह प्राणमूर्त्तिक्षर अक्षरद्वारा अव्यय से अभिन्न है । अत एव वेदमूर्त्ति आत्मक्षर ही परम्परया अव्यय के वेदमूर्त्तिभाव का कारण बनजाता है । अव्ययेश्वर को, किंवा ईश्वर को वेदमूर्त्ति कहा जाता है । यही वेदमूर्त्ति–वेदैकवेद्य ईश्वर विश्व बनेगा । वेदवाक् ही त्रयीविद्या है । ऋक्–साम–यजु की समष्टि ही त्रयीविद्या है । इन में ऋक्साम–आयतनमात्र है , यजु पुरुष है, यजु का यत् भाग पुरञ्जनप्राण है, जू भाग शुक्रवाक् है, शुक्र एवं पुरंजन का समन्वितरूप यजु है । वाक्शुक्रमय आत्मक्षरमूर्त्ति इस प्राण का व्यापार ही वाक् को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा । रूप–रस–गंध–स्पर्श–शब्द रहित, अत एव निराकार, अत एव अधामच्छद (जगह न रोकनें वाला) तत्त्व ही **'प्राण'** नाम से व्यवहृत होता है । जिस पदार्थ में यह निराकार प्राण रहता है वह पदार्थ **'प्राणी'** बनता हुआ **'सत्'** नाम से व्यवहृत होता है । सभी पदार्थ प्राण सम्बन्ध से प्राणी हैं–**"सर्वं प्राणिभिरावृतम्"** ।

प्राण (जिसे लोक भाषा में 'दम' कहते हैं) के निकल जानें से पदार्थ के भौतिक परमाणुओं का संघठन छिन्न भिन्न होजाता है, अथाङ्ग वनता हुआ पदार्थ नष्ट होजाता है, अत एव प्राण को 'विधर्ता' (परमाणुओं को संघठित रखनें वाला) भी कहा जाता है । 'अमुक पदार्थ विद्यमान (मौजूद) है' यह व्यवहार प्राणसत्ता पर ही निर्भर है, पदार्थ का सत्ताभाव, किंवा सद्भाव (मौजूदगी) प्राणसम्बन्ध पर ही अवलम्बित है, क्यों कि प्राण स्वयं सल्लक्षण है, सन्मूर्त्ति है । यह जिस में प्रविष्ट होता है, उसे 'सत्' बना डालता है । सत् का निकल जाना पदार्थ की आयु का विनाश है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—**यावद्धि—अस्मिञ्छरीरे प्राणस्तावदायुः**" (कौ. उ. १।२।) । पदार्थ सत् क्यों ? इस का उत्तर है सत्-प्राण । **'सामान्ये सामान्याभावः'** इस न्याय के अनुसार सत्प्राण में कोई अन्य सत्प्राण उसी प्रकार नहीं रहता, जैसे कि मनुष्य में मनुष्य का रहना सर्वथा अनुपपन्न है । सत्प्राण में सत्स्वरूपसमर्पक अन्य सत् प्राण नहीं रहता, इसी रहस्य को वतलानें के लिए ऋषि नें इस सन्मूर्त्तिप्राण को 'असत्' नाम से व्यवहृत किया है । असत् का अर्थ अभाव नहीं है, अपि तु असत् का अर्थ है–सद्रूप । अव्यय के गतिघन प्राण का अनुग्रह अक्षर पर होता है, अत एव अक्षर गतिधर्मा माना जाता है, जैसा कि पूर्व में कई स्थलों में वतलाया जाचुका है । वह प्राणमूर्त्ति एक ही अक्षरतत्त्व विशुद्धस्थिति (ब्रह्मा), विशुद्धगति (इन्द्र), विशुद्ध आगति (विष्णु), स्थितिगर्भिता गति (अग्नि), स्थितिगर्भिता आगति (सोम) भेद से पांच भागों में विभक्त होजाता है । पांच अक्षर नहीं है, अपि तु एक ही अक्षर की पांच अवस्थाएं हैं । इन में प्राणावस्था ही प्रधान है, वही आगे जाकर पांच रूपधारण कर लेती है । पञ्चधा विभक्त इसी अक्षर के बलप्रधान अत एव मर्त्य भाग का नाम आत्मक्षर है । यही आत्मक्षरप्राण वेदप्राण-रूप में परिणत हुआ है । इस प्राण की कुल पांच ही जातिएं हैं । प्राणप्राण किंवा ब्रह्मप्राण **परोरजा**, विष्णुप्राण **आप्य**, वाङ्मयप्राण **ऐन्द्र**, अन्नादमयप्राण **आग्नेय**, अन्नमयप्राण **सौम्यप्राण** नाम से प्रसिद्ध है । एक एक प्राण के अवान्तर अनेक भेद हैं । जात्यपेक्षया पञ्चधाविभक्त यह प्राणतत्त्व व्यक्त्यपेक्षया अनन्त हैं । इन की संख्या का यथावत् परिज्ञान करलेना

असंभव नहीं तो संभव भी नहीं है। प्राण के इसी अनन्तभाव को लक्ष्य में रखकर ऋषिप्राण के द्रष्टा महर्षि कहते हैं—

> विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
> ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥ (ऋक्सं० १०।६२।५)

कर्माव्यय के काम–तप–श्रम-रूप साधारण अनुबन्धों से सन्मूर्त्ति, अत एव असत् शब्द से व्यवहृत यह प्राणतत्त्व ही विश्व के उपादान बनते हैं। सृष्टिप्रवर्त्तक होनें से ही, सृष्टि के लिए गतिमान् बननें से ही-**'अरिषन्'** इस व्युत्पत्ति से यह प्राण **'ऋषि'** नाम से प्रसिद्ध हैं। परोरजा-आप्य-ऐन्द्र-आग्नेय-सौम्य इन पांचों प्राणों में से ऋषिसंज्ञा केवल परोरजाप्राण की ही समझनी चाहिए। कारण ऋषि का वेद के साथ सम्बन्ध बतलाया जाता है, एवं वेद नाम का पुरञ्जन प्राण नाम के प्रथम पञ्चीकृत पञ्चजन से ही सम्बन्ध रखता है। इसी अभिप्राय से—**'ऋषिर्वेदमन्त्रः'** यह कहा जाता है। इन विजातीय ऋषिप्राणों के समन्वय से आप्यप्राण का विकास होता है, विज्ञान भाषा में यही **'पितरप्राण'** है। विजातीय पितरप्राणों के समन्वय से 'ऐन्द्रप्राण' का उदय होता है, यही **देवप्राण** है। इन्हीं के मिथुनभाव से आग्नेय–सौम्यप्राणों का विकास होता है। यही अग्नीसोम विश्वनिर्माण के कारण बनते हैं। इसी प्राणसृष्टिक्रम का क्रमिक निरूपण करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

> ऋषिभ्यः पितरो जाता, पितृभ्यो देवदानवाः।
> देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरंस्थाण्वनुपूर्वशः ॥ (मनुः ३।२०१)

'इदं विश्वम्' इस प्रकार इदं शब्द से अंगुलीनिर्देश द्वारा जिस भौतिक विश्व का हम आज अभिनय कर कर रहे हैं, यह इदंभाव (विश्व) प्रथमावस्था में कैसा था ? व्यक्तरूप जो विश्व हमें आज प्रतीत होरहा है, जब इस का व्यक्तीभाव न था तो यह किस अवस्था में था ? दूसरे शब्दों में जब दृश्यमान सब कुछ प्रपञ्च न था तो क्या था ? इन सब प्रश्नों का समाधान

है—वही पूर्वप्रदर्शित **'असत्प्राण'** । असत् का अर्थ अभाव न समझलिया जाय, अपि तु असत् को तल्लक्षण प्राण समझा जाय, यह बतलाने के लिए श्रुति कहती है—

"असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सत् (विश्वम्) अजायत ।
असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्, तत् समभवत् ।
तदाण्डं (ब्रह्माण्डं) समवर्त्तत (ताण्ड्य. छां. उप. खं. १९) ।
" सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैके—आहुः,
' असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेत ' ।
कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेत इति ।
सत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् " (छां. उ. ६ प्र. । २ खं. ।)

ऋषिप्राण असत् है, इस लिए तो सृष्टि के पहिले **'सत्'** था, यह नहीं कहा जासकता, एवं यह प्राण स्वयं स्वस्वरूप से **'सत्'** रूप है, अतः इसे असत् भी नहीं कहा जासकता । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि सृष्टि के पहिले न असत् था, न सत् था । इस कथन का तात्पर्य्य यही हुआ कि सृष्टि में हमनें सत् का अर्थ पदार्थ (भौतिक प्रपञ्च) समझ रक्खा है, एवं असत् का अर्थ अभाव समझ रक्खा है । दूसरे शब्दों में सत् शब्द से भौतिक पदार्थ का बोध होता है, एवं असत् शब्द से पदार्थ के अभाव का ग्रहण किया जाता है । विश्व से पहिले विद्यमान रहनें वाला प्राण भौतिक पदार्थमर्यादा से रहित है, ऐसी अवस्था में यदि कोई उस प्राण को (लोकदृष्टि के अनुसार) भौतिकपदार्थलक्षण सत् कहना चाहे तो वह प्राण ऐसा सत् नहीं है, अर्थात् भौतिकसद्वाद से वह पृथक् है । यदि अभाव बोधक असत् शब्द से प्राण का ग्रहण किया जाय तो यह भी असंगत है । इस प्रकार लौकिक मनुष्य जिसे (भौतिकपदार्थ को) सत् कहते हैं, एवं जिसे (पदार्थाभाव को) असत् कहते हैं, वह प्राण न ऐसा सत् है, न ऐसा असत् है । अर्थात् न वह भौतिकपिण्डरूप सत् है, न पदार्थाभावरूप असत् है । इस प्रकार वह प्राणतत्त्व लोकसिद्ध सत् असत् मर्यादा से बहिर्भूत होता हुआ लोक-

दृष्टि से न सत् है, न असत् है। सृष्टि के पहिले प्राण नाम का तत्त्व अवश्य था। परन्तु जिस दृष्टि से तुम पदार्थ को सत् कहते हो, वह ऐसा न था। उस का सद्भाव भूतविरहिता था। असद्भाव 'प्राणा प्राणाभावः' इस दृष्टि से था। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> "नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्–नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्। तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तं "नासदासी-न्नो सदासीत्तदानीम्" इति" (शत. १०।४।१ ।) इति।

"सन्मूर्त्ति प्राण को ही असत् कहा जाता है, सृष्टिकर्म्म के लिए गतिमान् होने से ही इस असत्प्राण को ऋषि कहा जाता है" इस प्रकार पूर्वश्रुतिद्वारा निरूपित असत्तत्त्व प्राण ही है, एवं असत्प्राण को ही ऋषि कहा जाता है, इस में क्या प्रमाण ? लक्षणैकचक्षुष्कों की इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आता है—

> "असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः–'किंतदसदासीत्' ? इति, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः– 'के ते ऋषयः' ? इति, प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरास्मात् (विश्वस्मात्) इदं (विश्वसृष्टिं) इच्छन्तः (कायममानाः) श्रमेण (वाग्व्यापारेण)तपसा (स्वात्मभूतप्राणव्यापारेण) अरिषंस्तस्मादृषयः" (शत. ६।१।१।१) इति।

सृष्ट्युत्पादक यह विविध ऋषिप्राण एकर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, सप्तर्षि आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त हैं। इन सब में सृष्टि का प्रथम प्रवर्त्तक सप्तप्राणसमष्टिरूप "सप्तर्षि" प्राण ही है। उक्त श्रुति में इसी सप्तर्षिप्राण के लिए "ते यत् पुरास्मादिदमिच्छन्तः" इत्यादि कहा गया है। यह सप्तप्राणमूर्त्ति सप्तर्षिप्राण श्रुत्यन्तर में "साकञ्जप्राण" नाम से व्यवहृत हुआ है–(देखिए ऋक्-

सं० १।१६।४।१५) । अव्ययपुरुष की **"एकोऽहं बहुस्याम्"** इस बहुत्वमूला सृष्टिकामना से कामनामय बना हुआ अक्षर उक्त वेदप्राणोपहित क्षरप्राण को सात भागों में विभक्त करदेता है । यजु का यत्रूप प्राण पहिला असत्प्राण (ऋषि) था, वही अव्यय की भावना से सात भागो में विभक्त होकर **" सप्तर्षि "** नाम से व्यहृत होनें लगता है । यह सप्तर्षिसृष्टि, दूसरे शब्दों में मौलिक वेदप्राण का सात विभागों में परिणत होजाना अव्यय की कामना से ही प्रधान सम्बन्ध रखता है, अभी गुण---विकार किसी का उदय नहीं हुआ है, अत एव इस सप्तर्षि-सृष्टि को हम अवश्य ही अव्यय की भावसृष्टि (मानसीसृष्टि) मान सकते हैं, जैसा कि पूर्व की ब्रह्मनिरुक्ति में द्वादशधा विभक्त सृष्टिधाराओं के प्रकरण में बतलाया जाचुका है । लोक (विश्व) एवं लोक में उत्पन्न होनें वाली प्रजासृष्टि का मूल---अव्यय की भावसृष्टिरूप प्राण हैं, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर वहां कहागया है--

> **महर्षयः सप्त पूर्व चत्वारो मनवस्तथा ।**
> **मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥** (गी.१०।६)

उक्त सप्तर्षिप्राण के सातों अवयव **गोतम**[1], **भरद्वाज**[2], **विश्वामित्र**[3], **जमदग्नि**[4], **वसिष्ठ**[5], **कश्यप**[6], **अत्रि**[7] इन नामों से प्रसिद्ध हैं-(देखिए शत० ब्रा० १४ का० ५ अ० । २ ब्रा० ।) । यह सातों प्राण पृथक् पृथक् रह कर सृष्टि करने में असमर्थ हैं । क्यों कि सष्टि के लिए संसृष्टिभाव परम अपेक्षित है । अतः उसी काम-तप-श्रममय अक्षर के व्यापार से आगे जाकर सातों प्राण परस्पर में संसृष्ट होते हुए एकरूप में परिणत होजाते हैं । सातों प्राण एक दूसरे में परस्पर आहुत हो जाते हैं । इस सर्वहुतयज्ञ से पञ्चीकृत प्राणादिवत् प्रत्येक ऋषिप्राण सप्तावयव बन-जाता है । सप्तप्राणात्मक प्रत्येक प्राण एक एक पुरुष है । ऐसे सात पुरुषों की समष्टि ही **" सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति "** है । प्रजापति में उक्थरूप आत्मा, अर्करूप प्राण, अशिति रूप पशु यह तीन अवयव होते हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । उक्त सप्तपुरुषा-त्मकपुरुष में जो मध्य का (केन्द्रस्थ) प्राण है, वहीं से (हृदयशक्ति से) इतर प्राणों का

समिन्धन होता है, दूसरे शब्दों में हृदयबल ही इतर प्राणों की प्रतिष्ठा का कारण है। इतर प्राणों को समिन्धन करनें वाला यही मध्यप्राण 'यन्मध्यत ऐन्ध' इस व्युत्पत्ति में 'इन्ध' कहलाता है। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यही 'इन्ध' शब्द 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत किया जाता है-(देखिए शत. १४।६।१।१।२।)। इन्द्रप्राण की प्रेरणा से सातों में परस्पर संघर्ष होता है। इस संघर्ष से समिद्ध होते हुए यह सातों प्राण विजातीय प्राणों के उत्पादक बन जाते हैं। नए प्राण उत्पन्न नहीं होते, अपि तु संसृष्टिभाव से यही अपूर्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा सातों सातों में मिलकर एक रूप धारण करलेते हैं। जब तक इन प्राणों की संसृष्टि नहीं होती, तब तक यह ऋत रूप (अहृदय-अशरीरी) रहते हैं। ऋतभाव के कारण ही केन्द्र से शून्य रहते हुए, अतः केन्द्रमूलक उक्थ-अर्क-अशितिभाव से रहित रहते हुए आत्म-प्राण-पशु लक्षण प्रजापतिभाव से पृथक् रहते हैं। संसर्ग से इन सातों की समष्टि में केन्द्रभाव का उदय होजाता है, सप्तपुरुषपुरुषात्मक सप्तप्राणों की एक संस्था बनजाती है। संस्थाभाव से सम्बन्ध रखनें वाले केन्द्रभाव के उदित होते ही आत्म-प्राण-पशु-लक्षण उक्थ-अर्क-अशितिमय प्रजापतिभाव उत्पन्न होजाता है। अत एव प्राणों की इस सम्मिलित अवस्था को 'प्रजापति' कह दिया जाता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणरूप यह प्रजापति ही भौतिकीसृष्टि का उपादान बनता है। **सप्तलोक, सप्तसमुद्र, सप्ताकाश, सप्तवायु, सप्तार्चि, सप्तपाताल, सप्तरस, सप्तविष, सप्तधातु,** इस प्रकार विश्वसृष्टि में आप को जितनें भी सप्तक उपलब्ध होते हैं, इन सप्तकों का मूल यही सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणप्रजापति है। यह सब पदार्थों में अपनी नियत संस्था बनाकर प्रतिष्ठित होरहा है। उदाहरण के लिए एक मनुष्य के शरीर पर दृष्टि डालिए। प्रकृति में सप्तसंस्थ-प्राण जिस क्रम से प्रतिष्ठित होरहा है, उसी क्रम से शरीर का निर्माण हुआ है। शरीर में दो हाथ, दो पैर, मस्तक, धड़ यह चार प्रधान अवयव हैं। इन में हाथ और पैर एक वस्तु है। पुरुष (मनुष्य) भी पशु माना जाता है। जिस प्रकार पशु के चार पैर होते हैं, एवमेव इस पुरुषपशु के भी चार ही पैर हैं। अन्तर केवल यही है कि कर्मसाधन के लिए प्रजापति नें

पुरुषपशु के आगे के दोनों पैरों को ऊपर उठा दिया है। ऊपर उठे हुए दोनों पैर ही इसके हाथ कहलाने लगते हैं। दहिना हाथ और दहिना पैर एक विभाग है, बायां हाथ और बायां पैर एक विभाग है। दोनों के मध्य में धड़ और मस्तक है। इन चार विभागों के अतिरिक्त एक 'त्रिकास्थि' विभाग और माना जाता है। मेरुदण्ड (रीड़ की हड्डी) मूलद्वार से कण्ठ तक सीधा खड़ा रहता है। इस मेरुदण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखने वाली मूलद्वार से संलग्न एक एक त्रिकास्थि है, यही सारे शरीर की प्रतिष्ठा है। उक्त सातों प्राणों में से चार प्राण कण्ठ से मूलद्वार तक प्रतिष्ठित रहते हैं। हृदय से धड़ के चार समान विभाग कर डालिए। इन चारों में क्रमशः एक एक प्राण प्रतिष्ठित है। चारों प्राणों की समष्टिरूप धड़ ही आत्मा है, दूसरे शब्दों में इन चारों की समष्टिरूप एक आत्मा है, धड़ ही शिर- हाथ- पैर- आदि इतर शरीरावयवों का आलम्बन है, अत एव आलम्बनभाव की अपेक्षा से इस प्राणचतुष्टयी को अवश्य ही आत्मा माना जासकता है। दक्षिण पैर दक्षिण हाथमें एक प्राण प्रतिष्ठित रहता है, एवं वाम पैर वाम हस्त दोनों में एक प्राण प्रतिष्ठित रहता है। जिस प्रकार एक पक्षी अपने दोनो पक्षों (पंखों) से चलने हिलने में समर्थ होता है, एवमेव यह पुरुष हाथ पैरों से ही चलने हिलने में समर्थ होता है, अत एव इस के उक्त दोनों हस्तपादप्राणों को 'पक्षप्राण' कहा जाता है। इसी प्राण के मूर्च्छित होने का नाम 'पक्षाघात' (लकवा-फालिज़) है। एक प्राण त्रिकास्थि* में प्रतिष्ठित रहता है। यही सारे शरीर की प्रतिष्ठा है। जब तक त्रिकास्थिप्राण स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है तबतक शरीर सीधा तना हुआ रहता है। इस प्राण के मूर्च्छित होते ही कमर झुक जाती है। प्रतिष्ठास्वरूपसमर्पक यह प्राण त्रिकास्थि रूप मूलभाग में रहता है, मूलभाग ही पुच्छस्थान (पूँछ) है, अतएव इसे 'पुच्छप्राण' कहा जाता है। इस प्रकार चार आत्मप्राण हैं, दो पक्षप्राण हैं, एक पुच्छप्रतिष्ठाप्राण है। पाठकों को विदित होगा कि हमनें मृत्यु और अमृत को अविनाभूत बतलाए हैं। इस सामान्य एवं सर्वव्यापक सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्राणों को भी अमृत और मृत्युभाव से आक्रान्त मानना पड़ता है। शरीरसंस्था में अबतक आत्मा, पक्ष, पुच्छ भेद से इन सात प्राणों का सन्निवेश बतलाया गया है, वे सातों ही प्राण मृत्युप्रधान (बलप्रधान) होते

* देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम। गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ॥
(योगशिखोपनिषत् १ अ.।१६८श्लो.।)

हुए मर्त्य हैं, इन सातो में व्याप्त रहनें वाला अत एव 'रस' नाम से प्रसिद्ध अमृतभाग ही शिर में प्रतिष्ठित रहता है। सातों प्राणों की श्री (मौलिकरस) यही अमृतप्राण है। प्रजापति की कामना से यह श्री-रूप अमृतप्राण उसी प्रकार सातों से पृथक् निकल कर मस्तक रूप ऊर्ध्वभाग में व्याप्त होजाता है, जैसे कि मथ्यमान दधि में अमृतरूप सर्पि (नवनीत) दधि के ऊपर तैरनें लगता है। इस प्राण में सातों का भाग है। सात प्राणों का जितना आयतन है, इन सातों से निकलनें वाले प्राण का आयतन मिल कर एक प्राण जितना आयतन है। यह सवका प्रभु है, सवका शास्ता है, सव की प्रतिष्ठा है । अत एव एतत्प्राणावच्छिन्न शिर ही सारे शरीर के पोपण का कारण वनता है। शरीरावयवों को पुष्ट करनें वाली अन्नाहुति मुख में ही होती है। चूंकि मस्तक में श्री-रूप रसभाग प्रतिष्ठित रहता है, अत एव मस्तक को **'श्री धारक'** कहा जासकता है। यही **'श्रीधारक'** शव्द निरुक्त क्रमानुसार **'श्रीधार-श्रीदार'** आदि रूपों में परिणत होता हुआ आज **'सरदार'** रूप में परिणत होगया है। जो तात्पर्य्य **'श्रीधारक'** शव्द का है, वही तात्पर्य्य **'श्रीकारक'** (श्रीसंपादन करनें वाला) शव्द का है। यही शव्द-**'श्रीकार'** रूप में परिणत होता हुआ **'सरकार'** रूप में परिणत होगया है। प्रसिद्ध **'सर'** (मस्तक) शव्द **'श्री'** का ही अपभ्रंश है। जो समाज के नेता माने जाते हैं, समाज के मस्तक स्थानीय माने जाते हैं, उन्हीं मुखियाओं को (मुखस्थानियों को) श्रीकारक (सरकार) श्रीधारक (सरदार) इत्यादि नामों से सम्वोधित किया जाता है। वतलाना यही है कि मस्तक में श्रीभाग रहता है। सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों की विकास भूमि यही है। विश्व-रूप शरीर का यशोवीर्य्य (प्रतिष्ठावीर्य) इसी श्रीगात्र में (मस्तक में) प्रतिष्ठित रहता है। यह मस्तक कैसा है—जैसे एक औंधा कटोरा। मस्तक रूप कटोरे का कपालभाग पैंदा है। इस कटोरे का विलस्थान (जिसमें वस्तु भरी जाती है) नीचे की ओर है। इसी अर्वाग्विल—एवं ऊर्ध्व वुध्न (पैंदा) मस्तकरूप कटोरे में वह ऋषिप्राणरूप यशोवीर्य्य भरा हुआ है। यह ऋषिप्राण सात मर्त्यप्राणों के कारण सप्तावयव है। अत एव इस कटोरे में सात रूप से वह

विकसित होरहा है। दो कान, दो आंख, दो नासाछिद्र, एक मुख इस क्रम से अमृतरूप गोतम भरद्वाजादि सातों रसप्राण इन्द्रियरूप से मस्तक में प्रतिष्ठित होरहे हैं। यह सातों प्राण उस बिलमध्यस्थ उक्थरूप यशोवीर्य्यात्मक श्रीप्राण के अर्करूप (रश्मिरूप) हैं। कटोरे के किनारे (मस्तक के तत्तत् प्रान्तभागों में) अर्करूप सात ऋषि (इन्द्रियप्राण) प्रतिष्ठित हैं, स्वयं कटोरे के बिल में उक्थरूप श्रीप्रतिष्ठित है। यही विश्वरूप (सर्वशरीरोपकारक) यश है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासतऽऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥

(शत. ब्रा. १४ कां। ५ अ०। २ ब्रा.। ४ कं.) इति।

न केवल मनुष्यादि चेतनसृष्टि में ही, अपि तु जड़ चेतनोभयविध विश्व के सब पदार्थों में सप्तप्राणसंस्था की, सप्तपुरुषात्मकपुरुषप्रजापति की इसी क्रम से व्याप्ति समझनी चाहिए। एक अश्वत्थवृक्ष का पत्र (पीपल का पत्ता) अपनें सामनें रखिए। जिस समय शाखा पर से आप पत्ता तोड़कर लाते हैं, उस समय इस में उक्त सातों प्राणों का प्रत्यक्ष होरहा है। पीपल का पत्ता सीधा खड़ा है। इस के मध्य का मेरुदण्ड 'चत्वार आत्मा' है। मेरुदण्ड से इधर-उधर के दोनों पार्श्व (जिन से पत्ते का आकार बना है) दो पक्ष प्राण हैं। मूल में पुच्छप्रतिष्ठाप्राण है। जबतक पत्ते में यह पुच्छप्राण प्रतिष्ठित रहता है, तब तक पत्ता स्वस्वरूप से विकसित रहता हुआ तना रहता है। पुच्छप्राण के मूर्च्छित होते ही पत्ता मुर्झा जाता है। चेतनसृष्टिक्रम में यही सप्तसंस्थप्रजापति शुक्रशोणितगतभ्रूण में प्राणरूप से व्याप्त रहता है। यह प्रजासृष्टि का एक सांचा है। इस में भूतभाग सञ्चित होजाते हैं, शरीरसंस्था का स्वरूप निष्पन्न होजाता है। सर्वाधिष्ठाता इसी प्रजापति का स्वरूप बतलाते हुए निम्नलिखित परिलेख एवं श्रौत प्रमाण हमारे सामनें आता है।

स एष सप्तपुरुषपुरुषात्मकः प्रजापतिः
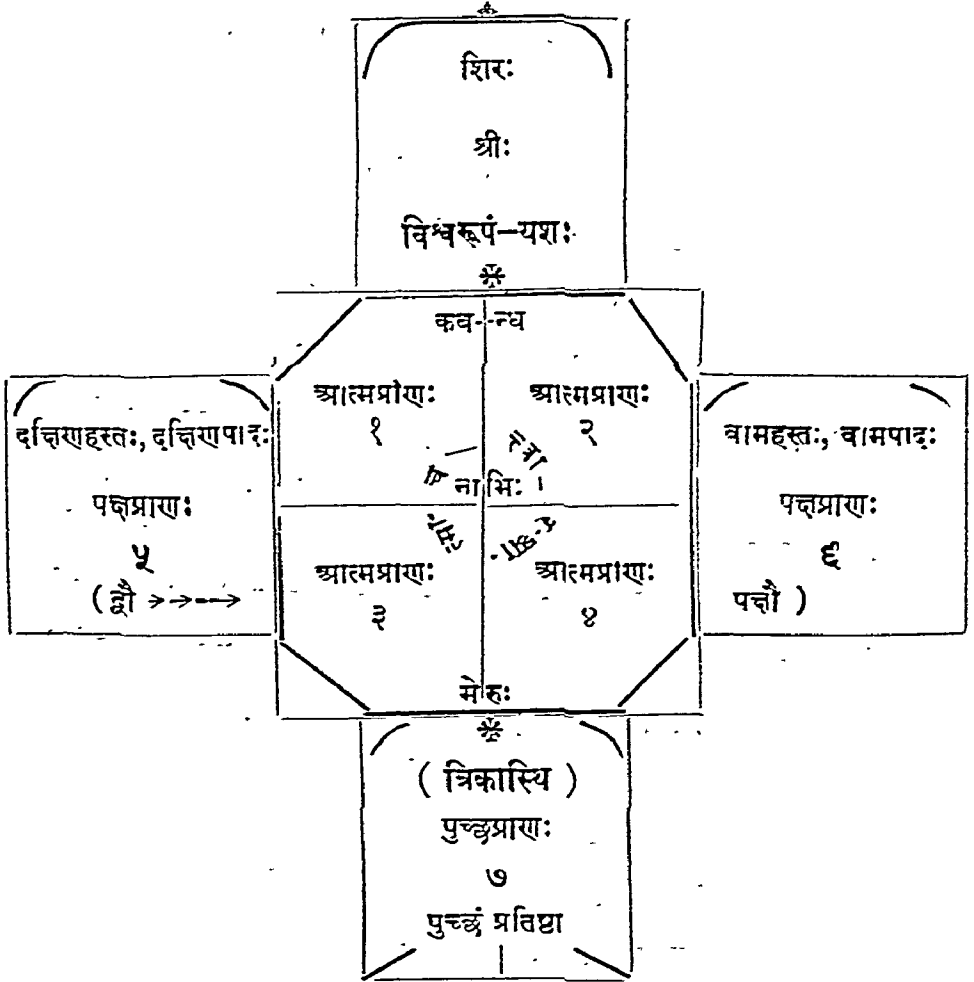
*"स योऽयं मध्ये प्राणः-एष एवेन्द्रः। तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेण-ऐन्द्ध, यदैन्द्ध-तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्, परोक्षकामा हि देवाः। तऽ

* (इन सातों ऋषिप्राणों में) जो मध्य में (केन्द्र में) प्राण है, वह यही (सुप्रसिद्ध) इन्द्र

इद्धाः सप्त-नाना (सप्त) पुरुषानसृज्यन्त । तेऽब्रुवन्—न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुम्, इमान्त्सप्तपुरुषानेकं पुरुषं करवाम-इति । तऽएतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्-यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ (समौब्जन्) । पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः । प्रतिष्ठैक (पुरुषः) आसीत् । अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रस

है । इस (इन्द्रप्राण) नें इन (इतर) प्राणों को मध्य में से (हृदय शक्ति से) इन्द्रिय (शक्ति) द्वारा प्रज्वलित किया (संसृष्टिभाव के लिए प्रेरित किया) । क्यों कि (इसनें प्राण को) प्रज्वलित किया, अत एव यह (मध्यप्राण) 'इन्ध' कहलाया । यह प्राण (अवश्यही (वे)—) इन्ध है । इस (इन्ध) को परोक्षभाव से इन्द्र कहते हैं । (कारण) देवता (प्रत्यक्षद्रष्टा महर्षि) परोक्षप्रिय होते हैं । (मध्यप्राण से) इद्ध (प्रज्वलित-संसृष्ट बने हुए) उन सातों प्राणों नें (संसृष्टिरूप सहुत यज्ञ से सप्त सप्त प्राणात्मक) सात पृथक् पृथक् पुरुष उत्पन्न किए । इन (सप्तप्राणात्मक) सप्त पुरुषों नें (परस्पर में) विचार किया कि अपन इसी प्रकार (पृथक् पृथक्) रहते हुए प्रजा उत्पन्न करनें में (सर्वथा) असमर्थ हैं । (अतः—प्रजोत्पादन के लिये) इन (स्व-स्वरूपभूत) सातों पुरुषों को (मिलाकर) एक पुरुष बना डालें ?) । (परस्पर में यह निश्चय कर) उन्हों नें (स्वरूपभूत अपनें) इन सातों पुरुषों को एक पुरुष बना डाला । जो भाग नाभि से ऊपर है उस में दो पुरुषों को प्रतिष्ठित कर दिया, एवं जो भाग नाभि से नीचे है, उसमें दो पुरुषों को प्रतिष्ठित करदिया । एक पुरुष को (एक) पक्ष (दक्षिणहाथ-दक्षिण पादरूप पक्ष) बनादिया, एवं एक पुरुष को (एक) पक्ष (वामहाथ-वामपादरूपपक्ष) बनादिया । एक पुरुष (त्रिकास्थि में प्रतिष्ठित होता हुआ) प्रतिष्ठा बन गया । अनन्तर इन सातों पुरुषों की जो श्री थी, जो रस (अमृभाग) था, उसे (मन्थनद्वारा) ऊपर की ओर लेगए, वही शिर (मस्तक) बना । क्यों कि उन्होंनें श्री का उद्वहन किया, अत एव (इस श्री भाग से निष्पन्न होनें वाला यह ऊर्ध्व भाग) शिर कहलाया । इसी (शिर) में सारे प्राण आश्रित हैं, इसलिए भी यह ऊर्ध्वभाग शिर कहलाया । सभी प्राण इसमें आश्रित हैं, अत एव यह (मस्तकस्थ अमृत प्राण) 'श्री' नाम से प्रसिद्ध है । इस प्रकार यह (सातों मर्त्य प्राण, एक अमृत प्राण सब शरीर संस्था के स्वरूप समर्पक बनते हुए) इस पाञ्चभौतिकपिण्ड में आश्रित होगए, अत एव यह पिण्ड 'शरीर' नाम से प्रसिद्ध होगया । इस प्रकार वह प्राणपुरुष (उक्त क्रम से संस्था का व्यवस्थापक बनता हुआ) आज प्रजापति बनगया ।" । .... ।

विश्वातीत है, अत एव वह सर्वथा अविज्ञेय, एवं अनिर्वचनीय है। हां कर्म्म भाग स्थूल होनें से अवश्य ही दृक्पथ में आसकता है। यह कर्म्मभाग विश्व वनता है, परन्तु विद्याभाग को साथ लेकर। विद्याभाग भी विश्व का उपादान वनता है, परन्तु वेदरूप से। विश्व में व्याप्त अव्यय के कर्मभाग के साथ यदि आप विद्याभाग को भी देखना चाहेंगे तो वह आपको 'वेद' रूप से ही उपलब्ध होगा। वेदतत्त्व अव्ययविद्या का ही सोपाधिकरूप है। विश्वातीतावस्था में जो तत्त्व **विद्या** है, विश्वावस्था में वही तत्त्व '**वेद**' है, विश्वकारणावस्था में वही '**ब्रह्म**' है। **विद्या-वेद-ब्रह्म** यह कहनें मात्र को तीन हैं, वस्तुतः एक ही तत्त्व की यह तीन अवस्थाएं हैं। वही विश्व के बाहर रहता हुआ **विद्या** है, वही विश्व की उपादानकारणावस्था में '**ब्रह्म**' है, वही विश्वरूप में परिणत होता हुआ **वेद** है, जैसा कि मन्त्रार्थोपकारिणी आगे की वेदस्वरूप-निरुक्ति में विस्तार से वतलाया जायगा।

सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति की पहिली अवस्था प्राणमयी है। यह पञ्चीकृतप्राण '**सर्वप्राण**' नाम से प्रसिद्ध है। यह सर्वप्राण आत्मक्षरस्वरूप ब्रह्मा का वैकारिक रूप है, अत एव तदभिन्न इसे भी हम '**ब्रह्मा**' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। ब्रह्मा उन्मुग्धावस्था है, अबादि उद्बुद्धा-वस्था है। इस सप्तर्षिप्राणात्मक सप्त० प्रजापति से सर्व प्रथम त्रयीवेद प्रादुर्भुत हुआ। तात्पर्य यह हुआ कि पञ्चीकृत अत एव पञ्चजन नाम से प्रसिद्ध पुरुष प्रजापति में शेष अबादि पञ्ची-कृत चारों पञ्चजनों की आहुति होनें से पञ्च पञ्चजनात्मक जो प्राणपञ्चजन का अपूर्व स्वरूप उत्पन्न हुआ, वही पहिला '**वेद**' नाम का पुरञ्जन कहलाया। इसी वेद के सम्बन्ध से उक्त प्र-जापति '**वेदमूर्त्ति**' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उक्थप्रजापति से निकलनें वाला यह वेद अर्क (रश्मि)-रूप है। अर्कव्यापार ही प्राणापान (श्वास-प्रश्वास) व्यापार है। अत एव यह प्रथमज वेद-'**ब्रह्मनिश्वसित**' नाम से व्यवहृत हुआ। इस प्रकार वही विद्या-कर्ममय अव्यय अपनें विद्याभाग से क्रमशः अक्षर ब्रह्मा, क्षरब्रह्मा, पञ्चजनप्राण, पुरंजनप्राण रूप में परिणत होकर विश्व में ब्रह्मनिश्वसितवेदरूप से प्रकट हुआ। वेदोपाधियुक्त यही विद्या भाग अपर विश्व का उपादान वनता हुआ '**अपराविद्या**' नाम से, एवं इस की अपेक्षा वह शुद्ध विद्याभाग

'पराविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुआ। अव्यय **'पर'** कहलाता है, अतः उस का विद्याभाग अवश्य ही **'पराविद्या'** कहला सकता है। अपिच पर अव्यय का (पञ्चकलरूप से) विकास पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध अक्षर से होता है, अत एव इस पराप्रकृति के सम्बन्ध से भी अव्यय-विद्या को **'पराविद्या'** (पराप्रकृति से अनुग्रहीत विद्या) कहा जासकता है। अव्यय अक्षर दोनों की एक संस्था है, इसी अभिप्राय से–**'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'** यह कहा जाता है। वस्तुतस्तु पराविद्या अक्षरविद्या को ही समझना चाहिए। कारण पर अव्यय का पर विद्याभाग अक्षररूप में परिणत होकर ही वेदरूप में परिणत होता है, अत-एव अक्षर को ही **'सर्वज्ञ'** माना जाता है। आत्मक्षर अपराप्रकृति है, अत एव क्षरप्रपञ्चमूला वेदमयी विश्वविद्या अवश्य ही अपराविद्या कहला सकती है। विश्वात्मा पराविद्यामूर्त्ति है। अक्षररूपा पराविद्या, क्षर किंवा वेदमयी विश्वरूपा अपराविद्या, इन दोनों का प्रभु वही अव्ययपुरुष है। इसी विद्यारहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है:—

> **"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति-परा चैव, अपरा च। तत्रापरा ऋग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदः ....। अथ परा यया तदक्षर-मधिगम्यते"** (मुण्डकोपनिषत् १ मु. ५।)।

> ***द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।**
> **क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥**
>
> (श्वेता. ५ अ.। १।)।

---

* एक ही प्रकृति का अमृत भाग अक्षर कहा जाता है, मर्त्य भाग क्षर कहा जाता है क्षर विकारों का जनक बनता हुआ भी अविकृत रहता है, अत एव श्रुति नें क्षर का भी अक्षर शब्द से ही ग्रहण करते हुए **'द्वे अक्षरे'** कह दिया है। दोनों हीं गूढोत्मा में प्रतिष्ठित हैं, इसी अभिप्राय से **'निहिते यत्र गूढे'** कहा है। **'यस्तुसोऽन्यः'** से अव्यय पुरुष की ओर ध्यान दिलाया गया है।

अस्तु बलाना यह है कि अपराविद्यामूर्त्ति यह वेद ही विश्व की प्रतिष्ठा बनता है, विश्व की कौन कहे, विश्वाधार सप्तपुरुषपुरुषात्माप्रजापति भी इसी त्रयीप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर विश्व निर्माण में समर्थ होता है। कहाँ तक कहें विश्वावच्छिन्न स्वयं षोडशीपुरुष भी इसी के आधार पर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। जब तक विश्व है, तब तक विश्वात्मा (षोडशी) है। एवं जब तक वेदपुरञ्जन है, तभी तक विश्व है। ऐसी अवस्था में हम इसे सर्वप्रथमज, एवं सर्व प्रतिष्ठारूप कहने के लिए तय्यार है। सर्वप्रतिष्ठारूप सत्यस्वरूप होता हुआ यह वेद सत्य स्वयम्भू आदि पुरों का जनक बनता है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति के व्यापार से सर्वप्रथम उद्भूत होने वाले इसी वेद नाम के प्रतिष्ठाब्रह्म का निरूपण करती हुई आगे जाकर वाजिश्रुति कहती है—

" सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत-भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत '**त्रयीमेव विद्याम्**'। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद्ब्रह्म। " (शत. ६।१।१।८) इति ॥

प्राणात्मक पञ्चजन के सर्वहुतयज्ञ से वेदपुरञ्जन उत्पन्न हुआ। वेदपुरञ्जन से उसी क्षण एक पुरभाव प्रकट हुआ। पुरभाव से पहिले सब कुछ अप्रज्ञात था, तर्कना से पृथक रहता हुआ अलक्षण था, '**इदम्**' इस प्रकार से अँगुली निर्देश की मर्यादा से बहिर्भूत रहता हुआ सर्वथा अनिर्देश्य था, सब कुछ सुप्तप्राय था। एक प्रकार से घोर अन्धकार था। विश्वाभावरूप उक्त लक्षण इसी महातम को विदीर्ण करता हुआ सबसे पहिले स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध विश्व का पहिला पर्व विकसित हुआ। आगे के पर्व विश्वकलारूप अत एव विश्वरूप इस स्वयम्भू से उत्पन्न होते हैं, परन्तु विश्वापेक्षया यह प्रथम पर्व स्वयं उद्भूत है, अत एव इसे '**स्वयमुद्बभौ**' इस निर्वचन से '**स्वयम्भु**' नाम से व्यवहृत किया गया। वेदपुरंजन इस स्वयम्भू का आत्मा बना। वेदतत्त्व पर प्रतिष्ठित विश्व की इसी प्रथम कला का निरूपण करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥२॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥३॥ (मनुः १ अ० । ")

सम्पूर्ण विश्व एक महा अहः (दिन) है । इसी को **'अहरागम'** कहा जाता है । इसी को **'पुण्याह'** कहा जाता है । यह पुण्याह (पुण्यदिन– सृष्टिकालरूप पवित्र प्रकाश) उसी स्वयम्भू ब्रह्मा का विकास है । भारतवर्ष के विद्वान् कर्मठ ब्राह्मण **'पुण्याहवाचन'** द्वा । इसी पुण्याहरूप ब्रह्मा की स्तुति किया करते हैं ।

वेदपुरञ्जन से स्वयम्भूपुर उत्पन्न होगया, एवं **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार पहिले का सारा प्रपञ्च इसमें प्रविष्ट होगया । जो षोडशीपुरुष अब तक अप्रविष्ट था आज वही वेदमूर्त्ति बन कर यहां प्रविष्ट होगया, प्रतिष्ठित होगया । ईशप्रजापति का यही पहिला एवं प्रधान अवतार है । आगे का विश्व इसी स्वयम्भू ईश्वर से निष्पन्न होगा, अत एव इसे **'विश्वकर्मा'** कहा जाता है । यह विश्वकर्मा प्रजापति उसी वेदालम्बन पर प्रतिष्ठित होकर उसी तद्रूप वेदारम्भण (वेदोपादानद्रव्य) से आगे का विश्वनिर्माण करनें वाला है । परात्परतत्त्व **'वन'** (जंगल) है, षोडशी पुरुष उस परात्पर वन का एक वृक्ष (अश्वत्थवृक्ष) है, विश्वकर्मा स्वयम्भू तक्षा (रथकार–खाती) है । वह इस अश्वत्थवृक्ष के वेदरूप क्षर भाग को काट–काट कर नए नए पदार्थ उत्पन्न करता रहता है । वही पदार्थसंघ **'विश्व'** है । विश्वोपादानभूत उक्त वेदतत्त्व ऋक्–यजुः–साम भेद से तीन भागों में विभक्त है । वेदप्रकरण आरम्भ करें, इस के पहिले सर्वथा विभिन्न प्रतीत होनें वाले, अत एव भ्रम उत्पन्न करनें वाले प्रकृति पुरुषादि के श्रौतभेदों का समन्वय अवगत करलेना आवश्यक होगा ।

वेदपुरञ्जन से स्वयम्भू प्रादुर्भूत होता है। स्वयम्भू की महिमा के भीतर लोकपुरंजन से परमेष्ठी, परमेष्ठी की महिमा में प्रजापुरंजन से सूर्य, सूर्य की महिमा में वीर्यपुरञ्जन से पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में पशुपुरञ्जन से चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनें वाला है। स्वयम्भू का वाक् भाग पानी बनता है। पूर्वोक्त प्राणमय वेदमण्डल के आधार पर वेदवाक् के ऊपर शेष चारों की आहुति होती है, इस से लोकपुरञ्जन उत्पन्न होता है, यही आपोमय परमेष्ठी का जनक है, यही वेदमय स्वयम्भू की पहिली सृष्टि है। वाक्कला में शेष चारों की आहुति से प्रजा नाम का पुरंजन उत्पन्न होता है, यही सूर्य का जनक है। अन्नाद कला में शेष चारों की आहुति होनें से वीर्यपुरञ्जन उत्पन्न होता है, यही पृथिवी का जनक है। अन्नकला में शेष चारों की आहुति होती है, इस से पशु पुरञ्जन उत्पन्न होता है, यही चन्द्रमा का जनक है। उक्त पांचों पर्वों में परस्पर दहरोत्तर सम्बन्ध है। उत्तर-उत्तर का पर्व पूर्व पूर्व पर्व की पिण्डमहिमा के उदर में अन्तर्भुक्त है। इन में सब का मूल स्वयम्भू है। इस की महिमा में परमेष्ठी—सूर्यादि चारों प्रतिष्ठित हैं, वह सब पर चारों ओर से व्याप्त है, अत एव **'आ--(समान्तात्) भवति'** इस निर्वचन से इसे **'आभूप्रजापति'** कहा जाता है। यह विश्व में सबसे बड़ा है, अत एव इसे **'परमप्रजापति'** भी कहा जाता है। इस में आत्मा (हृदय), पद (पिण्ड), पुनःपद (महिमा) भेद से तीन संस्थाए होतीं हैं। त्रिसंस्थ परमप्रजापति (स्वयम्भू) से उत्पन्न परमेष्ठी—सूर्यादि चारों में भी उक्त तीन तीन संस्थाओं का विकास होता है, दूसरे शब्दों में जैसा स्वरूप इस का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इन चारों का है। अत एव इन्हें **'प्रतिमाप्रजापति'** कहा जाता है। प्रतिमाप्र० चार हैं, परम० एक है। वेद अनन्त हैं, इन अनन्त वेदों का अधिष्ठाता प्राणमय स्वयम्भू है, सम्पूर्ण लोकों का अधिष्ठातृ आपोमय परमेष्ठी है, सम्पूर्ण प्रजाओं का अधिष्ठाता वाङ्मय सूर्य है, सम्पूर्ण वीर्यों की अधिष्ठात्री अन्नादमयी पृथिवी है, एवं सम्पूर्ण पशुओं की प्रतिष्ठा अन्नमय चन्द्रमा है। चन्द्रमा ही महादेव हैं, यही पशुपति हैं। **'सब वेद, सब लोक, सब प्रजा'** इत्यादि व्यवहार से सम्बन्ध रखनें वाली सर्वता का क्या स्वरूप? इस का उत्तर है—**'त्रिःसत्या वै देवाः'** यह श्रौत वचन। देवता सत्य-

आत्मा पर प्रतिष्ठित होते हुए सत्यरूप हैं, सत्यसंहित (सत्यात्मा से युक्त) हैं। आत्मप्रजापति आत्मा, प्राण, पशु भेद से त्रिकल है, अत एव इससे सम्बन्ध रखने वाले देवता त्रिवृत् हैं। एवं 'देवेभ्यश्च जगत सर्वम्' (मनुः ३।२०१) के अनुसार त्रिवृत्देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले वेद–लोक–प्रजा आदि का भी त्रिवृद्भाव में ही अन्तर्भाव है। अनन्त वेदों का अन्ततो गत्वा तीन ही वेदों में, अनन्त लोकों का (७ लोकों का) तीन ही लोकों में, अनन्त प्रजाओं का तीन ही प्रजाओं में, अनन्त वीर्यों का तीन ही वीर्यों में, एवं अनन्त पशुओं का तीन ही पशुओं में अन्तर्भाव है, जैसा कि निम्नलिखित कोष्टक से स्पष्ट होजाता है।

१.–वेदाः	वेदत्रयी १ ३	१.–ऋक्, २–यजुः ३–साम	स्वायम्भुवः पुरञ्जनः २५ संख्यात्मकः→→→→	प्राणप्रधानः
२–लोकाः	लोकत्रयी २ ३	१–भूः, २–भुवः, ३–स्वः	पारमेष्ठ्यःपुरञ्जनः २५ संख्यात्मकः→→→→	अप्प्रधानः
३–प्रजाः	प्रजात्रयी ३ ३	१.–संसज्ञः, २अंतःसंज्ञः, असंज्ञः	सौरपुरञ्जनः २५ संख्यात्मकः→→→	वाक्प्रधानः
४–वीर्याणि	वीर्यत्रयी ४ ३	१–ब्रह्म, २– क्षत्रम्, ३विट्	पार्थिवपुरञ्जनः २५ संख्यात्मकः→→→	अन्नादप्रधानः
५–पशवः	पशुत्रयी	१.–ब्रह्मा, २–ब्रगवा, ३चैरपादा	चान्द्रपुरञ्जनः २५ संख्यात्मकः→→→	अन्नप्रधानः
५	१५	यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति। यस्तद् वेद स वेद सर्व–सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥		

पूर्व प्रकरणों में बतलाया गया है कि प्राण-आप् आदि चारों कलाएं ब्रह्मा के चार मुख हैं। उक्त पांचों सृष्टियों में से पशुसृष्टि का प्रजासृष्टि में अन्तर्भाव है, वीर्यसृष्टि का आगे जाकर प्रजासृष्टि में ही अन्तर्भाव होजाता है। इस प्रकार प्रधानता वेद, लोक, प्रजा इन तीन सृष्टियों की ही रह जाती है। वेदसृष्टि प्राणमयी है, यह पहिली साहस्री है। लोकसृष्टि आपो-

मयी है, यह दूसरी साहस्री है। प्रजासृष्टि वाङ्मयी है, यह तीसरी साहस्री है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावा पृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥
किं तत् सहस्रमिति—इमे लोका, इमे वेदा, अथो—
वागिति ब्रूयात्" (.................................)।

इन तीनों साहस्रियों का प्रातिस्विक स्वरूपधर्म होता है। यही चौथी धर्मसृष्टि कहलाती है। इस प्रकार वेद-लोक-प्रजा-धर्म-भेद से चार विभाग होजाते हैं। यद्यपि वेदसृष्टि का प्रधान सम्बन्ध प्राणमुख से, लोकसृष्टि का आपोमुख से, प्रजासृष्टि का वाङ्मुख से, धर्मसृष्टि का अन्न-अन्नादमुख से ही है, तथापि पूर्वप्रतिपादित सर्वहुतयज्ञ के कारण चारों किंवा पांचों पर्वों में उक्त चारों सृष्टियों का गौण-प्रधान रूप से सम्बन्ध मान लिया जाता है। हां यह अवश्य मानना पड़ेगा कि मुखभेद से स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पांचों ही पुरों की वेद लोकादि चारों सृष्टियों के नाम-रूप-कर्म सर्वथा विभिन्न होजाते हैं, जैसा कि निम्न लिखित कोष्टक से स्पष्ट होजाता है—

१—वेदाः		२-लोकाः	३-प्रजाः	४—धर्माः	५—पुराणि
	ब्रह्मनिश्वसितः	आकाशः	ऋषयः	ज्ञानतन्तुप्रसारः	प्राणमूर्त्तिः-स्वयम्भूः
२	ब्रह्मस्वेदः	समुद्रः	पितरः	प्रजातन्तुप्रसारः	अब्मूर्त्तिः-परमेष्ठी
	गायत्रीमात्रिकः	ब्रह्माण्डम्	देवाः	आत्मज्योतिप्रसारः	वाङ्मूर्त्तिः-सूर्यः

४	यज्ञमात्रिकः	इलान्दम	असुराः	सर्वभूतप्रसारः	अन्नादमूर्त्तिः-पृथिवी
५	ब्रह्ममात्रिकः	विचक्षणम्	गन्धर्वाः	भूतज्योतिप्रसारः	अन्नमूर्त्तिः-चन्द्रमाः
	५	५	५	५	५
	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः	पाङ्क्तो वै यज्ञः

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

उक्त पांचों ही विश्वपर्व सर्वहुतयज्ञ की कृपा से पाङ्क्त (पञ्चावयव-पंचीकृत) हैं । इन सब के भेददिग्दर्शन की यद्यपि प्रकृत में विशेष आवश्यकता न थी, तथापि आगे की तूलोपनिपदों में भिन्न भिन्न भावों का निरूपण हुआ है । कहीं स्वायम्भुव ब्रह्मा का निरूपण है तो कहीं पारमेष्ठ्य ब्रह्मा का, कहीं सौर-पार्थिव चान्द्र ब्रह्मा का। कहीं स्वायम्भुव विष्णु की प्रधानता है तो कहीं पारमेष्ठ्य विष्णु की । कहीं सौर इन्द्र का विवेचन है तो कहीं पारमेष्ठ्य इन्द्र का, कहीं पार्थिव इन्द्र का। कहीं कोई अग्नि निरूपित है, कहीं कोई सोम प्रधान है। परिभाषाज्ञान के विलुप्तप्राय होजानें से आज सब को एव वस्तु मान कर अर्थ का अनर्थ किया जारहा है । **'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्'** यह वाक्य सृष्टिप्रकरणों में वार वार आया करता है । इस ब्रह्म का सृष्टि भेद से सर्वथा पार्थक्य है । कहीं ब्रह्म स्वयम्भू है कहीं परमेष्ठी है, कहीं सूर्य है । इस विप्रपत्ति को दूर करनें के लिए यह आवश्यक होजाता है कि इस मूलोपनिषत् में ब्रह्मादि के पार्थक्य का दिग्दर्शन करा दिया जाय । यद्यपि स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पांचों पर्वों में ब्रह्मा-विष्णु आदि पांचों अक्षर, पांचों क्षरों की सत्ता है, परन्तु पञ्चीकरणविद्या के अनुसार प्रधानता ब्रह्मा-विष्णु आदि की है । स्वयम्भू प्राणप्रधान होता हुआ ब्रह्म प्रधान ही है, परमेष्ठी

अप्प्रधान होनें से विष्णुप्रधान, सूर्य वाक्प्रधान होनें से इन्द्रप्रधान, पृथिवी अन्नादप्रधान होनें से अग्निप्रधान, एवं चन्द्रमा अन्नप्रधान होनें से सोमप्रधान ही है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू ब्रह्मलोक है, परमेष्ठी विष्णुलोक है, सूर्य इन्द्रलोक है, पृथिवी अग्निलोक है, एवं चन्द्रमा सोमलोक है। इस प्रकार यद्यपि तत्तत् पर्वों में प्रधानता तत्तदक्षराक्षरों की ही है, परन्तु हैं सब में सब। साथ ही में तत्तल्लोकों के तत्तदक्षराक्षरों को तत्तत्प्राणप्रधान ही समझनें चाहिएं। स्वयम्भू के ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम पांचों प्राणमय हीं हैं। परमेष्ठी के ५ चों आपोमय, सूर्य के पांचों वाङ्मय, पृथिवी के पांचों अन्नादमय, एवं चन्द्रमा के पांचों अन्नमय हीं हैं। इस प्रकार लोक भेद से ५ ब्रह्मा, ५ विष्णु, ५ इन्द्र, ५ अग्नि, ५ सोम होजाते हैं। यदि इन की अवान्तर विभूतियों का (जो कि विभूतिएं यज्ञकाण्ड में–**'देवभक्ति'** नाम से प्रसिद्ध हैं) विचार किया जाता है तो–**'सर्वमिदमानन्त्यम्'** इस वाक्य पर ही विश्राम करना पड़ता है। विश्व में असंख्य मूर्त्तिएं (वस्तुएं) हैं। प्रत्येकमूर्त्ति में हृदय–पिण्ड दो विभाग हैं। ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र की समष्टि **'हृदय'** है। अग्नि–सोम की समष्टि पिण्ड है। अग्नि अग्नि है, सोम चन्द्रमा है, इन्द्रसूर्य है। यही त्रिनेत्र शिव है। ब्रह्मा एक कल होनें से ईश्वर है, विष्णु भी एक कल होनें से ईश्वर है, परन्तु अग्नि–सोम–इन्द्र इन तीन कलाओं से महत् बनता हुआ शिवतत्त्व **'महेश्वर'** है। यही महेश्वर अपनी सोम कला से विष्णु पर अनुग्रह कर विश्व का पालन करते हैं, अग्निकला से इन्द्रपर अनुग्रह कर विश्व का संहार करते हैं, एवं समुचितरूप से ब्रह्मतत्त्व पर अनुग्रह कर विश्व का निर्माण करते हैं। इसी लिए तो–**'यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति'** (कुमारसंभव) यह कहा गया है। विश्वमूर्त्ति महेश्वर के वपु का कौन निश्चय कर सकता है ? (न विश्वमूर्त्तेरवधार्यते वपुः)। ब्रह्मा देव अवश्य हैं, विष्णु भी देव हैं, परन्तु महेश्वर –**'महादेव'** हैं। बतलाना यह है कि विश्व के पर्व पर्व में हृदय–पिण्डरूप से उक्त ब्रह्मादि पांचों अक्षरों का साम्राज्य है। यहां केवल समष्ट्यात्मक महाविश्वपर्वों के ब्रह्मादि का ही दिग्दर्शन अभीष्ट है। अक्षर की पांचों कलाएं जहां ब्रह्मा विष्णु आदि नामों से व्यवहृत होतीं हैं, वहां आत्मक्षर की पांचों कलाएं आत्मसम्बन्ध से (षोडशीपुरुष के सम्बन्ध से) तो ब्रह्मा विष्णु आदि नामों से ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु क्षरविश्व के आरम्भकभाव की अपेक्षा से यही आत्मक्षर कलाएं प्राणादि नामों से व्यवहृत होतीं हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

मर्त्यक्षरतालिका

" क्षरः सर्वाणि भूतानि "

	१-प्राणः	२ आपः	३—वाक्	४—अन्नादः	५—अन्नम्	" क्षरविवर्त्तम् "	
१	परोरजाः	अर्कः	सत्या	सार्वयाजुषः	प्राणः	पञ्चाप्येते क्षराः स्वायम्भुवाः—	प्राणमयाः
२	आप्यः	अम्भः	आम्भृणी	ऋतम्	अमृतम् (रसः)	पञ्चाप्येते क्षराः पारमेष्ठयाः—	आपोमयाः
३	हिरण्यम्	मरीचिः	गौरिवीता	सावित्रः	मधु	पञ्चाप्येते क्षराः सौराः —	वाङ्मयाः
४	इरा	मरः	अनुष्टुप्	गायत्रः	दधि	पञ्चाप्येते क्षराः पार्थिवाः —	अन्नादमयाः
५	सहः	श्रद्धा	सुब्रह्मण्या	ऋतवः	घृतम्	पञ्चाप्येते क्षराश्चान्द्राः —	अन्नमयाः

अमृताक्षरतालिका — "कूटस्थोऽक्षर उच्यते"

	५	१—ब्रह्मा	२—विष्णुः	३—इन्द्रः	४—अग्निः	५—सोमः	"अक्षरविवर्त्तम्"
१—	प्राणमयः→→	स्वयम्भूः	विश्वरूपः	आखण्डलः— पाकशासनः	÷	बलम्→→	पञ्चाप्येतेऽक्षराः स्वायम्भुवाः—प्राणमयाः
२—	आपोमयः →→	परमेष्ठी	नारायणः	मघवा— बिडौजाः	÷	आपः→→	पञ्चाप्येतेऽक्षराः पारमेष्ठ्याः—आपोमयाः
३—	वाङ्मयः→→	हिरण्यगर्भः	पद्मनाभः	शुनासीरः— पुरन्दरः	÷	भास्वरः→	पञ्चाप्येतेऽक्षराः सौराः— वाङ्मयाः
४—	अन्नादमयः →→	पद्मभूः	मधुसूदनः	वासवः— वास्तोष्पतिः	÷	ध्रुवः→→	पञ्चाप्येतेऽक्षराः पार्थिवाः— अन्नादमयाः
५—	अन्नमयः→→→	निधनः	हृषीकेशः	वृषा— वृत्रहा	÷	वृत्रः→→→	पञ्चाप्येतेऽक्षराश्चान्द्राः — अन्नमयाः

तदेतत्सत्यम्—यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

पूर्वप्रदर्शित अमृताक्षर तालिका में अग्निकोष्टक खाली छोड़ दिया है। इस अक्षररूप अमृताग्नि के आवपन, अन्नाद, अन्न भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। मन आवपन है, प्राण अन्नाद है, वाक् अन्न है, तीनों की समष्टि आत्मरूप (अक्षररूप) अमृताग्नि है। आवपन को आलम्बनरूप होनें से 'खंब्रह्म' कहा जाता है। अन्नाद (भोक्ता) ब्रह्म अन्नप्राप्ति से सुखी बनता है, पुष्ट होता है, अतएव इसे 'कंब्रह्म' कहा जाता है। अन्नब्रह्म अन्नाद के रमण करनें का साधन है, अत एव इसे 'रंब्रह्म' कहा जाता है। आवपनरूप खंब्रह्म पर प्रतिष्ठित अन्नादरूप कंब्रह्म अन्नरूप रंब्रह्म से शान्त बना रहता है। अतएव 'खं कं रं' इन तीनों की समष्टि को 'शंब्रह्म' कहा जाता है। विश्व के पांचों हीं पर्वों में (प्रत्येक में) अमृताग्नि अपनें इन तीनों रूपों से प्रतिष्टित रहता है। इस प्रकार अमृताग्नि के ५ के स्थान में १५ विवर्त्त होजाते हैं। उक्त कोष्टक में इनका सन्निवेश नहीं होसकता था, अतः वहां उस अग्निकोष्टक को रिक्त ही छोड़ दिया गया है। यहां स्वतन्त्ररूप से तीनों का उल्लेख कर दिया जाता है।

*अक्षराग्निविवर्त्त

'खंब्रह्म' १अमृताग्निः 'आवपनं-मनः'	१—व्योम ...... स्वायम्भुवम्
	२—समुद्रः ...... पारमेष्ठ्यः
	३—संवत्सरः ...... सौरः
	४—आन्दम् ...... पार्थिवम्
	५—नक्षत्रम् ...... चान्द्रम्

* खंब्रह्म, कंब्रह्म, रंब्रह्म—इत्येतेषां त्रयाणामेकत्र समन्वयात् 'शंब्रह्म' निष्पद्यते। शं—शान्तिभावमाह। शान्तिस्तृप्तिः। तृप्तिरेव शिव (कल्याण)-भावः। स एषोऽमृतमयः-शिवाग्निरक्षरमूर्त्तिः-खं, कं, रं, भेदेन पञ्चसु पर्वसु त्रेधा विभक्तो द्रष्टव्यः।

'कंब्रह्म' २अमृताग्निः 'अन्नादः प्राणः'	१–यजुः (यज्जूः–आकाशवायू–आर्षेयं वैश्वदेव्यं–ऋषयः) स्वा०
	२–वरुणः (असुराः–पैत्र्यं वैश्वदेव्यं पितरः-भृगवः,अङ्गिरसः,अत्रयः) पार०
	३–इन्द्रः (देवाः –आदित्यं वैश्वदेव्यं देवाः)........................सौ०
	४–भूतानि (भूतानि–आग्नेयं वैश्वदेव्यं भूतानि)........................पार्थि०
	५–गन्धर्वाः (पशवः –सौम्यं वैश्वदेव्यं गन्धर्वाः)........................चान्द्राः
'रंब्रह्म' ३अमृताग्निः 'अन्नं–वाक्'	१–ब्रह्माग्निः.................अपौरुषेयवेदः (यतो ब्रह्मणः स्वरूपमाविरभूत्)
	२–वरुणः.................अथर्ववेदः....................................
	३–रूपाग्निः.................सहस्रवेदः(महोक्थमहाव्रतपुरुषाः)
	४–आंगिरसाग्निः.................घोरवेदः....................................
	५–आथर्वणाग्निः.................भार्गववेदः....................................

उक्त अक्षरात्मक्षरानुगृहीत वेदपुरञ्जनोपहित स्वयम्भू-परमेष्ठी- सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांचों की समष्टि विश्व है। प्रसंगोपात्त इतना और सलझलेना चाहिए कि स्वयम्भूप्रजापति मायी-पुण्डीर-भेद से दो भागों में विभक्त है। मायी स्वयम्भू अश्वत्थमूर्त्ति है। इसी को पूर्व में हमनें 'परमप्रजापति' 'आभूप्रजापति' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। षोडशीमूर्त्ति यह अश्वत्थस्वयम्भू सहस्रवल्शायुक्त है। इस की एक एक वल्शा में ५-५ पुण्डीर हैं। पहिला पुण्डीर स्वयम्भू है। यह उस मायी से भिन्न है। वह मायावच्छिन्न है, यह पञ्चपर्वावच्छिन्न है। वह विश्वव्यापक है, यह पञ्चपर्वव्यापक है। इन दोनों का विशद निरूपण आगे के **'सपर्यगाच्छुक्रम्'** इत्यादि मन्त्रभाष्य में होनें वाला है। अतः प्रकृत में इसे छोड़ते हुए विश्वनिर्माता देवताओं के सम्बन्ध में दो एक बातें बतला कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

ईश्वर प्रजापति की **भूः, भुवः, स्वः**, यह तीन महाव्याहृतिएं मानीं जातीं हैं। तीनों की समष्टि एक विश्व है। विद्यागर्भित कर्ममय इस विश्व का साक्षी मन–प्राण–वाङ्मय कर्माव्यय है, यह कई वार कहा जाचुका है। साथ ही में पूर्व के पुरुषात्माधिकरण में यह भी कहा

जाचुका है कि मनप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से इस के तीन विवर्त्त होजाते हैं। (देखिए ई. वि. भा. ३५ वां पृष्ठ)। इस त्रिवृद्भाव से उक्त त्रैलोक्य भी त्रिवृत्भावयुक्त बनजाता है, जैसा कि **'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः'** इत्यादिरूप से वहीं बतलादिया गया है। तीन लोकों के त्रिवृत्करण से रोदसी, क्रन्दसी, संयती नाम के तीन त्रैलोक्यों का विकास होता है, यह भी वहीं कहा जाचुका है। इन तीनों में संयतीत्रैलोक्य की मूलप्रतिष्ठा स्वयम्भू है, क्रन्दसी-त्रैलोक्य की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य है, एवं रोदसीत्रैलोक्य की मूलप्रतिष्ठा पृथिवी है। पृथिवी भूः है, सूर्य भुवः है, स्वयम्भू स्वः है। पृथिवी में अव्ययात्मा के भूतप्रवर्त्तक वाक्भाग का अनुग्रह है, सूर्य में देवप्रवर्त्तक प्राणभाग का अनुग्रह है, एवं स्वयम्भू में आत्मप्रवर्त्तक मनभाग का अनुग्रह है। मन ज्ञानशक्तिघन है, इस का अनुग्राह्य संयती का अध्यक्ष स्वयम्भू है, प्राण-क्रियाशक्तिघन है, इस का अनुग्राह्य क्रन्दसी का अध्यक्ष सूर्य है। वाक् अर्थशक्तिघना है, इस का अनुग्राह्य रोदसी का अधिष्ठाता भूपिण्ड है। अक्षराग्नि के अनुसार भूपिण्ड भूताग्निमय है, सूर्य देवाग्निमय है, स्वयम्भू वेदाग्नि (सत्याग्नि) रूप वागग्निमय है। इन तीनों अग्नियों के मध्य में परमेष्ठी–चन्द्ररूप दो सोमों का सन्निवेश है। स्वयम्भू–सूर्य के मध्य में ब्रह्मणस्पति सोममूर्त्ति परमेष्ठी है, सूर्य और पृथिवी के मध्य में वृत्रसोममूर्त्ति चन्द्रमा है। इस प्रकार इन तीनों अग्नियों के गर्भ में आते हुए दोनों सोम अपनी स्वतन्त्रता खोदेते हैं, तीन ही पर्वों की प्रधानता रहजाती है। द्विसोमगर्भित अग्नित्रयी की समष्टि ही विश्वस्वरूप संपादक सर्वहुतयज्ञ है। इस विश्वयज्ञ में पृथिवी वेदि है, सूर्य यज्ञ की नाभि (केन्द्र) है, स्वायम्भुवीवाक् अन्तिम सीमा है। सोमद्वयी आहुतिद्रव्य है। इसी विश्वयज्ञ का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

*इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

(ऋक् सं. १ मं. १६४। ३५ मं.)

---

* इस विषय का विशद विवेचन 'अस्यवामीयसूक्तविज्ञान' में देखना चाहिये।

उक्त मन्त्र में ऋषिनें सूर्य को यज्ञ कहा है, एवं विज्ञानसमय में यज्ञ को ही **'विष्णु'** कहा जाता है। यह यज्ञमूर्त्ति वैकुण्ठनाथ विष्णु विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित हैं। **'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'** यह प्रसिद्ध है। उधर स्वयम्भू में हमनें ब्रह्मा का साम्राज्य बतलाया है। शेष रहता है भूलोक, यह भूताग्निप्रधान है। यह भूताग्नितत्त्व पुराणों में भूतेश नाम से व्यवहृत हुआ है। स्वयम्भू वेदसत्यमय होनें से सत्यलोक है। इस के अधिष्ठाता **'सत्यनाथ'** ब्रह्मा हैं, यह ज्ञानमूर्त्ति हैं, एवं संयतीत्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। शुक्रक्रमानुसार स्वयम्भू वाक्शक्तिमय है, यही वाक्शक्ति ब्रह्मपत्नी ब्रह्माणी है। सूर्य देवाग्निमय बनता हुआ देवलोक है। इस के अधिष्ठाता देवनाथ यज्ञमूर्त्ति विष्णु हैं, यह क्रियामय हैं। (**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**)। शुक्र क्रमानुसार अप्शक्ति इन की पत्नी है, क्षीराब्धितनया आपोमयी लक्ष्मी विष्णुपत्नी है, यह क्रन्दसीत्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। भूपिण्ड एवं भूताग्नि चान्द्रापशुक्रयुक्त है। इस के अधिष्ठाता भूतनाथ–पशुपति रुद्रभगवान् हैं। यह अर्थमूर्त्ति हैं। मूर्त्त (भौतिक) स्थूल जगत् ही अमूर्त्त का लिङ्ग (परिचायक) माना जाता है। **'मूर्त्तमेवामूर्त्तानां लिङ्गम्'** यह निश्चित सिद्धान्त है। अत एव मूर्त्तभूतों के अधिपति रुद्रभगवान् का लिङ्गपुराण में—लिङ्गरूप से निरूपण हुआ है, शुक्र क्रमानुसार अग्निमयी ईश्वरी इनकी पत्नी है। यह रोदसीत्रैलोक्य के अधिष्ठाता हैं। तीनों देवता परस्पर में नित्य युक्त रहते हुए परस्पर में यज्ञ का वहन कर रहे हैं। इन में कौन बड़ा है, कौन छोटा है, यह प्रश्न उठाना ही प्रायश्चित्त का भागी बनना है। सृष्टिकाल में एक ही तत्त्व तीन रूप से विकसित होकर त्रिमूर्त्ति कहलानें लगता है, लयावस्था में तीनों उन्मुग्ध बन जाते हैं। आर्यावर्त्त के **'एकामूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः'** इस मौलिक सिद्धान्त से कौन अपरिचित है। कहना यही है कि सोमत्रयीगर्भित यह त्रिदेवमूर्त्ति ही **'सर्वम्'** है।

१—स्वयम्भूः	(वागग्निः——प्राणमयः——ज्ञानप्रधानः——अमूर्त्तः	
	१ परमेष्ठी——(सोमः)——आहुतिद्रव्यम्	
२—सूर्यः	(देवाग्निः——वाङ्मयः——क्रियाप्रधानः——मूर्त्तामूर्त्तः	
	२ चन्द्रमाः——(सोमः)——आहुतिद्रव्यम्	
३—भूः	(भूताग्निः——अन्नादमयः——र्थप्रधानः——मूर्त्तः	
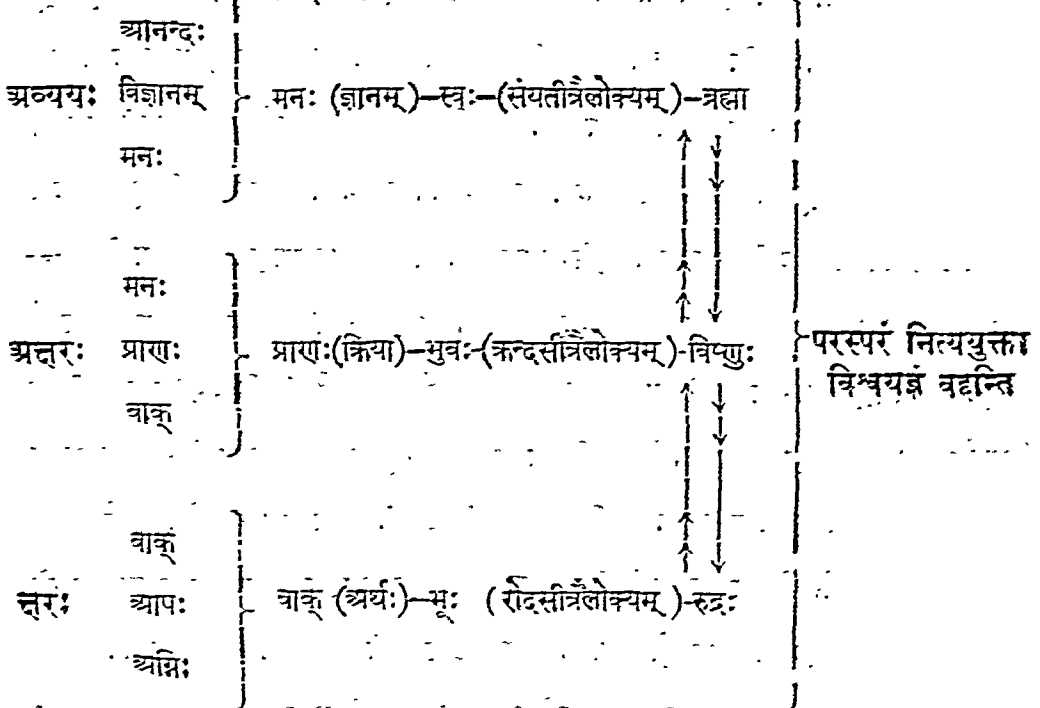
——:*:——

अव्ययः	आनन्दः विज्ञानम् मनः	मनः (ज्ञानम्)—स्वः—(संयतीत्रैलोक्यम्)—ब्रह्मा	परस्परं नित्ययुक्ता त्रिश्वयज्ञं वहन्ति
अक्षरः	मनः प्राणः वाक्	प्राणः(क्रिया)—भुवः—(क्रन्दसीत्रैलोक्यम्)-विष्णुः	
क्षरः	वाक् आपः अग्निः	वाक् (अर्थः)—भूः (रोदसीत्रैलोक्यम्)-रुद्रः	

——:०:——

१—अव्ययधाम——ब्रह्मा (ब्रह्मपदं परम्)		‘मत्तः परतरं नान्यत्’
२—अक्षरधाम——विष्णुः(विष्णुपदं परम्)		
३—क्षरधाम——रुद्रः (रुद्रपदं अपरम्)		

——:*:——
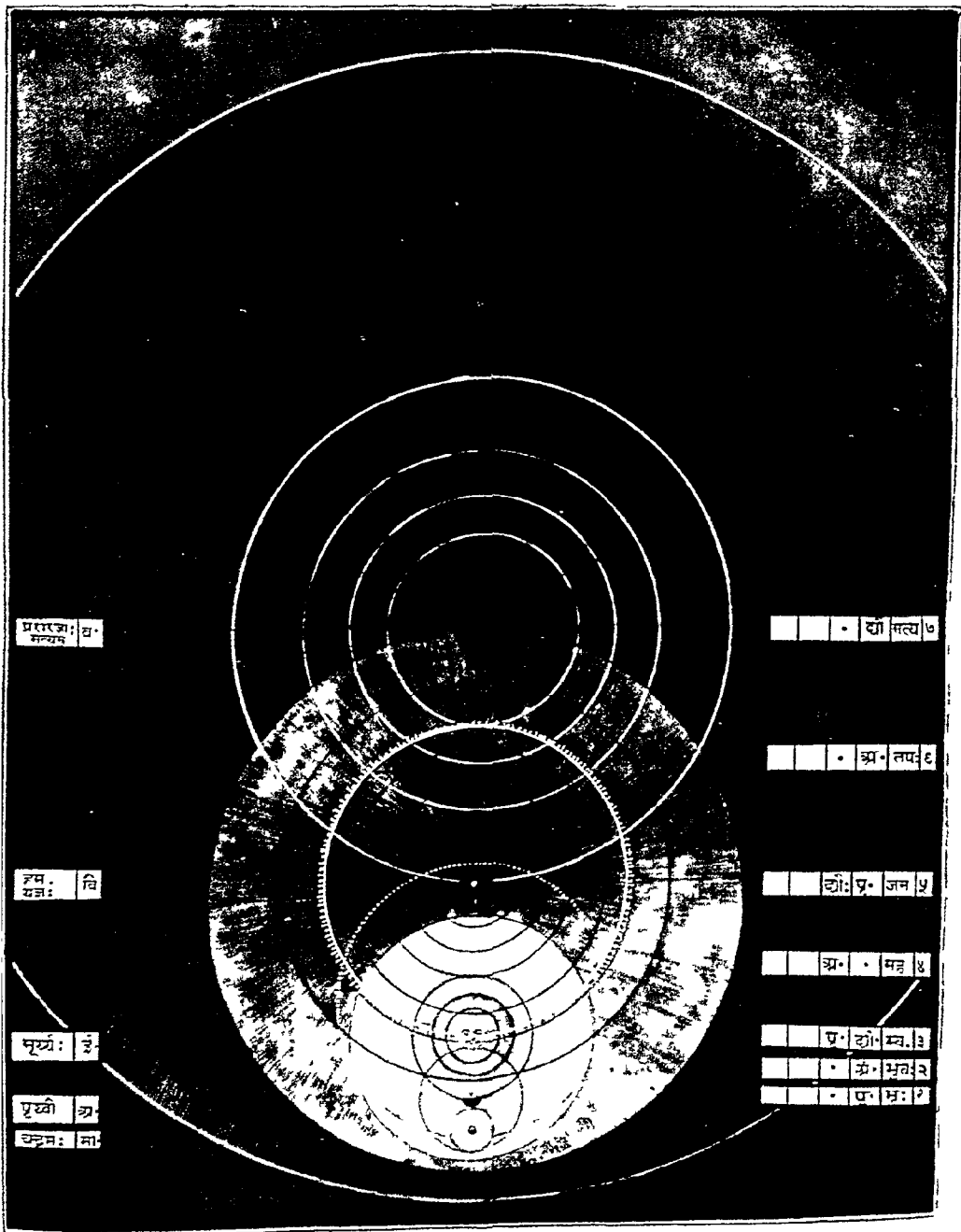
पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य वल्शा

१–ज्ञानमूर्त्तिः स्वयम्भूः––ब्रह्मा––"सत्यनाथः"––संयतीत्रैलोक्यसंचालकः–वाक्पत्नीकः[१]

२–कर्ममूर्त्तिः सूर्यः ––विष्णुः–"देवनाथः"––क्रन्दसीत्रैलोक्यसंचालकः–अप्पत्नीकः[२]

३–अर्थमूर्त्तिः पृथिवीः––रुद्रः–"भूतनाथः"––रोदसीत्रैलोक्यसंचालकः–अग्निपत्नीकः[३]

इस प्रकार वही एकतत्त्व अपने त्तर भाग से वेदरूप में परिणत होकर विश्वरूप में परिणत हो रहा है। प्रविष्ट ही '**एकांशेन**' सृष्ट वन कर उस में प्रविष्ट होरहा है। यही चतुष्पाद्ब्रह्म का चौथा पाद है।

इति—विश्वनिरुक्तिः।

——:*:——

१—वाक्–"ब्रह्माणी"। २—अप्–"लक्ष्मी"। अग्निः–"ईश्वरी" (दुर्गा)।

इति–अव्यक्तात्माधिकरणे-

चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणम्

४
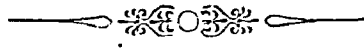
चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणाधिकारः

समाप्तः
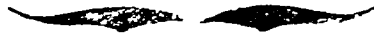
अथ

अव्यक्तात्माधिकरणे —

“वेदनिरुक्तिः”
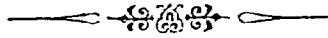
प्राकृतात्माधिकरणे वेदनिरुक्तिः

वे

दतत्त्व अव्यय के विद्याभाग का विकास मात्र है। वेद-और विद्या का परस्पर में पर्याय सम्बन्ध है। विद्यामूर्त्ति अव्यय विश्व में वेदरूप से ही उपलब्ध होता है। ५ ब्रह्मसत्य, १ वेदसत्य भेद से विश्व के ६ पर्व हैं। । स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड यह पांच ब्रह्मसत्य हैं। उखा नाम से प्रसिद्ध स्तौम्यत्रिलोकीरूपा पृथिवी देवसत्य है। विश्व के इन ६ पर्वों में प्रतिष्ठित वेदमूर्त्ति अव्यय ६ भागों में विभक्त होजाता है। दूसरे शब्दों में विद्यात्मक वेदतत्त्व नाम-रूप-कर्म से विभक्त ६ ओं में सश्लिष्ट रहता हुआ ६ रूप धारण करलेता है। ग्रन्थारम्भ में बतलाए गए $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{3}$–$\frac{3}{4}$–$\frac{4}{5}$–$\frac{5}{6}$–$\frac{6}{7}$ इन प्रकरणों में क्रमशः विभिन्न वेदात्मक स्व० पर० सू० च० भू० पृथिवी इन ६ ओं अवयवों का ही निरूपण हुआ है, जैसा कि विषयविभाग प्रदर्शन से स्पष्ट है। उक्त ६ ओं स्थानों के ६ वेद निम्न लिखित नामों से प्रसिद्ध हैं।

१—ब्रह्मनिश्वसितवेदः	(स्वायम्भुवः)	→→→→	स्वयम्भूः—ब्रह्माग्निविद्या	२	प्रकरण
२—ब्रह्मस्वेदवेदः	(पारमेष्ठ्यः)	→→→	परमेष्ठी—आपोऽग्निविद्या	३	,,
३—गायत्रीमात्रिकवेदः	(सौरः)	→←→	सूर्यः——सावित्राग्निविद्या	४	,,
४—ब्रह्मवेदः	(चान्द्रः)	→→→	चन्द्रः——सोमविद्या	५	,,
५—विज्ञानवेदः	(पार्थिवः)	→→→	पृथिवी——देवाग्निविद्या	६	,,
६—यज्ञमात्रिकवेदः	(भौमः)	→→→→	भूः——भूताग्निविद्या	७	,,

उक्त ६ ओं कलाओं का उपनिषत् में क्रमिक निरूण हुआ है। इन सब का मूल स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्वसितवेद है। आज सम्पूर्ण विश्व हमें उपलब्ध होरहा है। इस उपलब्धि का अन्यतम कारण प्रथम पुरञ्जनभूत ब्रह्मनिश्वसितवेद ही है। उपलब्धि को ज्ञान कहा जाता है। श्रुति को अव्ययात्मा का ज्ञान करवाना है, दूसरे शब्दों में आत्मबोधकरवाना है, अव्ययोपलब्धि का मार्ग बतलाना है। यह आत्मोपलब्धि वेद पर निर्भर है। वह ज्ञान (विशुद्धआत्मज्ञान) निरुपाधिक है, यह ज्ञान (वेदावच्छिन्न आत्मज्ञान) सोपाधिक है। सोपाधिक ज्ञान ही

निरुपाधिकज्ञान की उपलब्धि का कारण है, सविकल्पक ज्ञान ही निर्विकल्पकज्ञान का साधक है। वेदविद्यात्मक सोपाधिकज्ञान के विना अव्यय के निरुपाधिक विद्याभाग का ज्ञान असम्भव है। वेद ही उस अव्ययात्मा के बोध का कारण बनता है— इसी अभिप्राय से "**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**" यह कहा जाता है।

इस पूर्णोपनिषत् को सभी खण्डात्माओं की निरूपिका बतलाया गया है। अत एव इसे '**सर्वोपनिषत**' नाम से व्यवहृत किया गया है–(देखिए ई० वि० भा० ६ पृ०)। आज हम इस स्थिति का दूसरे प्रकार से दिग्दर्शन कराते हैं। इस उपनिषत् में प्रधानरूप से विद्याकर्ममय अव्ययात्मा का ही निरूपण हुआ है। अव्ययात्मा का विद्या-कर्मभाग विश्व–विश्वातीत भेद से दो भागों में विभक्त हैं। विशुद्ध विद्याकर्माव्यय विश्वातीत है, यह पहिला विभाग है। विश्वप्रविष्ट अत एव विश्वावच्छिन्न विद्याकर्मायव्य विश्वरूप अव्यय है, यह दूसरा विभाग है। पहिला विभाग निरुपाधिक है, विशुद्ध पुरुषात्मक है। दूसरा विभाग सोपाधिक है, प्रकृतिविशिष्ट पुरुषात्मक है। इन दोनों विभागों को हम क्रमशः पुरुषात्मविभाग एवं प्राकृतात्मविभाग इन नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। इन में पुरुषात्मा का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं प्राकृतात्मविभाग में विश्वपर्वों के भेद से अवान्तर ६ विभाग होजाते हैं। विश्वावच्छिन्न विद्याकर्ममय अव्यय पूर्वकथनानुसार वेदरूप से ६ भागों में विभक्त होरहा है। यही हमारे सुप्रसिद्ध **पुरुषात्माधिकरण-प्राकृतात्माधिकरण** नाम के दो अधिकरण हैं। प्राकृतात्मा ६ भागों में विभक्त है, अतः इस में अवान्तर ६ प्रकरण होजाते हैं। सम्भूय प्रकरणद्वयात्मिका इस उपनिषत् में सात प्रकरण हैं। इनमें मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण विश्वातीत-विशुद्ध विद्याकर्ममयाव्ययपुरुष का निरूपण करता है, एवं षट्प्रकरण गर्भित यह दूसरा प्रकरण विश्वावच्छिन्न वेदमूर्त्ति सोपाधिक विद्याकर्ममय अव्यय का निरूपण करता है। वही विशुद्धभाव से विश्वातीत है, क्षर भाग से वही विश्व है। अत एव '**ईश्वर**' का '**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' यह लक्षण किया जाता है। अव्ययपुरुष ईश्वर अवश्य है, परन्तु इस की यह ईश्वरता विश्व सम्बन्ध पर निर्भर है। ईश्वर शब्द सापेक्ष है। किस का ईश्वर ? इस अपेक्षा भाव को विश्व ही शान्त करता है।
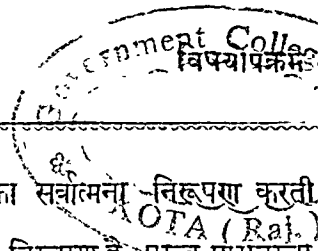
विश्वविशिष्ट अव्यय (आत्मन्वी) का नाम ईश्वर है। इसी ईश्वर का सर्वात्मना निरूपण करती हुई यह उपनिषत् 'ईशोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुई है। सभी का निरूपण है, परन्तु प्रधानरूप से अव्यय पर दृष्टि है। 'मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना' के अनुसार वही सृष्टि का मूलप्रवर्त्तक है। पुरुषात्माधिकरण में उपनिषत् नें 'मया' (अव्यय) का निरूपण किया, अव्यवहितोत्तर काल में ही 'ततमिदंसर्वम्' इस वाक्य पर दृष्टि गई। हमारा यह दूसरा प्राकृतात्माधिकरण इसी वाक्य का समन्वय करता है। इस का समन्वय वेद पर निर्भर है, क्योंकि विश्व का भौतिक उपादान वेदतत्त्व ही है। वेदमूर्त्ति बनकर ही यह 'मया' भाग विश्व वितान करनें में समर्थ होता है। वेद अव्यक्ततत्त्व है। अव्यक्तमूर्त्ति (वेदमूर्त्ति) अव्ययनें विश्व निर्माण किया है, ऐसी अवस्था में विश्वोपाधिक अव्यय के सम्यक् परिज्ञान के लिए पहिले उपाधिप्रवर्त्तक वेद का स्वरूप जानना आवश्यक होजाता है।

पूर्वकथनानुसार अव्यय ईश्वर है, ईश्वर प्रजापति है। प्रजापति प्रजा की अपेक्षा रखता है। प्रजासृष्टि का अधिष्ठाता सूर्य है। कारण प्रजा नाम के तीसरे पुरञ्जन से ही सूर्य का स्वरूप निष्पन्न होता है। प्रजा लोक में प्रतिष्ठित है। लोक वेदपुरञ्जन में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार ईश्वरप्रजापति के प्रजापतित्त्व भाव के परिज्ञान के लिए भी वेदतत्त्व का स्वरूपज्ञान सर्वथा आवश्यक होजाता है। वेद क्या वस्तु है? इस का उत्तर है-ईश्वर। ईश्वर क्या पदार्थ है? इस का उत्तर है आत्मविशिष्ट विश्व। षोडशीपुरुष वेदमय बनकर ही विश्वेश्वर बन रहा है। आत्मा-विश्व की समष्टि प्रजापति है, प्रजापति को ही ईश्वर कहा जाता है। विश्वरूपा प्रजा का मूलाधार वेदतत्त्व है। सुतरां विश्वेश्वर का वेदमयत्त्व सिद्ध होजाता है। विद्याकर्ममय अव्यय पुरुष ही अपनें प्राणमय क्षर भाग से वेदरूप में परिणत होकर विश्व का उपादान बनता है। वेदरूप से वही विश्व में उपलब्ध होरहा है। उपलब्ध क्या होरहा है, विश्व स्वयं वेदमूर्त्ति अव्यय है। वेद उस की अव्यक्त प्रकृति है, इसी से वह विश्वमूर्त्ति बन रहा है। जिस वस्तु की उपलब्धि नहीं उस का वेद नहीं। शशश्रृङ्ग, वन्ध्याकुमारवचन, मृगतृष्णाजल, नपुंसक मनुष्य का पुत्र, खपुष्प, मशकहतसिंह, नदी वेग की निश्चलता, शुक्ति में रजत, स्थाणु में पुरुष,

गन्धर्व नगर, रज्जुरूप सर्प से दष्ट मनुष्य, अग्निज्वाला की शीतलता, अन्धे मनुष्य की रत्न परीक्षा, यह सब भाव संसार में क्यों उपलब्ध नहीं होते ? इस का उत्तर है वेदाभाव। वेद ही उपलब्धि का एकमात्र अन्यतम कारण है। जिस का वेद नहीं-उस की उपलब्धि नहीं। वस्तु के अस्तित्त्व का पहिला एवं मुख्य आधार वेदतत्त्व है। अस्ति में मन-प्राण-वाक् यह तीन कलाएं हैं। इन में मन सामवेद है, प्राण यजुर्वेद है, एवं वाक् ऋग्वेद है। सामरूप मनोमय भाग के आधार पर वस्तु का रूप प्रतिष्ठित है, ऋग्रूप वाङ्मय भाग के आधार पर वस्तु का नाम प्रतिष्ठित है, वस्तु स्वयं प्राणरूप यजुर्वेदमय है। इस प्रकार नाम-रूप-कर्ममय पदार्थ का आलम्बन मन-प्राण-वाङ्मय त्रयीवेद ही बना हुआ है। वस्तु का अस्तित्त्व मन-प्राण-वाक्-की समष्टि है। उक्त प्रकार से यही समष्टि वेदत्रयी है। अस्ति-और वेद एक वस्तु है। नाम-रूपकर्मात्मकवस्तुसत्ता वेद है। इसी की तो उपलब्धि होती है। इस की उपलब्धि नहीं होती, यही उपलब्धि है। आप घट जानते हैं-इस ज्ञानरूपा उपलब्धि का 'घड़ा है' यही तो स्वरूप है। घटज्ञान का अभिनय अस्तिरूप से ही तो होता है। पदार्थ है, इसीलिए तो वह उपलब्ध होता है-**'यदिस्यादुपलभ्येत'**। **'अस्तीत्युपलभ्यते-नास्तीति नोपलभ्यते'** यह सार्वजनीन प्रत्यय है। इसी अस्तिरूपा उपलब्धि का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं:—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १ ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

(कठ उ. ६ वल्ली १३ मं)

अस्ति वेदतत्त्व है, अत एव तद्रूप उपलब्धिभाव को भी वेद कहा जासकता है। वेदघन प्रजापति के महा-अल्प भेद से दो विवर्त्त हैं। इन में महाप्रजापति ईश्वर कहलाता है। इस के परम-प्रतिमा भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू परमप्रजापति है, एवं पर०सू०पृ०चं० यह प्रतिमा प्रजापति हैं। दोनों की समष्टि **'महाप्रजापति'** है। इस के उदर में चेतन-अर्द्धचेतन-

अचेतन (शिपिविष्ट) भेद भिन्न अनन्त अल्पप्रजापति (जीवप्रजापति) हैं। यह उस वेद-मूर्त्ति के अंश हैं, अंश में अंशी के धर्म समाविष्ट रहते हैं, अत एव जैसे ईश्वर प्रजापति वेदस्वरूप है, एवमेव तदंशभूत यह अनन्त जीवप्रजापति भी वेदमूर्त्ति हीं हैं। जीवकृत इसी आनन्त्य को लक्ष्य में रखकर–'**अनन्ता वै वेदाः**' (तै. ब्राह्मण......) यह कहा जाता है। इस प्रकार यद्यपि ईश्वर और जीव दोनों का ही वेदमयत्त्व सिद्ध होजाता है, परन्तु इन दोनों के वेद में संनिवेशक्रम में तारतम्य होजाता है। ईश्वर के गर्भ में वेद है, एवं जीव वेद के गर्भ में है। प्रकारान्तर से समझिए। सर्वबलविशिष्टरस को परात्पर बतलाया गया है। मायाबल का उदय होता है। मायावच्छिन्न परात्पर प्रदेश ही अव्यय कहलानें लगता है। अव्यय के साथ साथ ही इस की अन्तरंगप्रकृतिभूता परा (अक्षर), अपरा (आत्मक्षर) प्रकृति का उदय होजाता है। इस से वह द्विकलतत्त्व पञ्चकल बनता हुआ षोडशकल बनजाता है। इस षोडशीपुरुष के आत्मक्षर भाग से विश्वसृट्–पञ्चजन–क्रम से पांच पुरंजन प्रकट होते हैं। इन में पहिले पुरंजन से आगे का सारा विश्व बनता है। विश्व में प्रविष्ट वेदमूर्त्ति षोडशीपुरुष ही ईश्वर प्रजापति है। इस क्रमिक धारा से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि ईश्वरसंस्था में ईश्वरस्वरूपसंपादक पहिला मायाबल है। अनन्तर अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर हैं। अनन्तर विश्वसृट्–पञ्चजन हैं। अनन्तर सातवीं धारा में वेद नाम का पुरंजन है। जीवसृष्टि में ठीक इससे उलटा है। यहां पहिले मायाबल उत्पन्न नहीं होता, अपि तु पहिले प्रतिष्ठाब्रह्म (वेद) का उदय होता है। वेदोदय के अनन्तर जीवस्वरूप संपादित करनें वाली योगमाया प्रकट होती है। महामाया के उदर में जीवप्रतिष्ठाभूत वेद का उदय हुआ। यह वेद महामाया के गर्भ में रहता हुआ योग-माया से युक्त हुआ। अव्ययमाया महामाया है, परन्तु तद्गर्भिता वेदमाया महामाया से युक्त रहनें के कारण योगमाया है। ईश्वरीय वेद महामाया पर प्रतिष्ठित था, परन्तु यह वेद योगमाया का आधार है। योगमाया जीवप्रजापति की सीमा है, यह वेद पर प्रतिष्ठित है। सुतरां जी-वसंस्था में वेद का प्राथम्य सिद्ध होजाता है। वेद एक प्रकार का छंद है, आयतन है। शुक्रशोणित के समन्वय से पहिले इस छन्दोमय वेद का उदय होता है। अनन्तर गर्भस्वरूप

निष्पत्ति होती है। जीवस्वरूप को आवृत करनें वाली यही योगमाया है, जैसा कि स्मृति कहती है—

योगमाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत् ॥ (सप्तशती)

ईश्वराव्यय में पहिले माया थी, जीवाव्यय में पहिले वेद है। दूसरे शब्दों में ईश्वर वेद अव्यय पूर्वक है, एवं जीवाव्यय वेदपूर्वक है। ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है। ईश्वर वेदघन है। वेद से वह सृष्टि निर्माण करनें में समर्थ होता है। फलतः वह पहिले वेद उत्पन्न करता है। वेद पूर्वक जीवादि की सृष्टि होती है। जीवप्रपञ्च की पहिली प्रतिष्ठा यही वेद है। अनन्तर सत्तारूप वेदमूलक नामरूप कर्म का विकास होता है। अनन्तर आदानविसर्गात्मक अन्नाहुति-रूप यज्ञ उत्पन्न होता है। जब तक वेद है, तब तक यज्ञमय नामरूप कर्म की समष्टिरूप वस्तु सत्ता है। त्रयीविद्या के आधार पर यज्ञ प्रतिष्ठित है, यज्ञ ही वस्तु का जीवन है। इस प्रकार प्रतिष्ठारूप ब्रह्म (वेद) नामरूपमय ज्योति, अन्नाहुतिरूप यज्ञ इन तीन भावों को वह प्रजापति अपनें ज्ञानमय तप से उत्पन्न कर जीवसृष्टि का संचालक बन रहा है। तीनों में प्राथम्य प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म (वेद) का ही है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर मुण्डक श्रुति कहती है—

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नं च जायते ॥

सर्वज्ञः सर्ववित्-सृष्टिकर्त्ता षोडशीपुरुषः

तस्मात्—तपसा

ब्रह्म——प्रतिष्ठा——वेदः
नामरूपे–ज्योतिः——भातिः } जायन्ते
अन्नम्—यज्ञः———सत्ता

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार क्षरभाग से वेद उत्पन्न कर वह षोडशी इस वेद में प्रविष्ट होजाता है। ईश्वर का षोडशी भाग पांचों पुरों के भीतर प्रविष्ट है। इन में

पहिला पुर वेदमय स्वयम्भू है। शेष चारों पुर इस के भीतर हैं। इस से सिद्ध होजाता है कि विश्वावच्छिन्न ईश्वर का सब से अन्त का आवरण वेद ही है। तभी तो इसे 'वेदमूर्त्ति' कहना न्यायसङ्गत होता है। सुतरां जीवाव्ययों का वेदपूर्वकत्व रहना सिद्ध होजाता है। यदि ईश्वर का वेदभाग भीतर रहता, एवं अव्ययभाग सर्वोपरि रहता तब तो जीवों में भी वेदतत्त्व अव्ययपूर्वक ही रहता। परन्तु ऐसा नहीं है, सब के ऊपर वेद का स्तर है। अत एव सृष्टिकामप्रजापति का आरम्भभाग पहिले वेदरूप से ही आगे बढ़ता है। जीवात्मा को दार्शनिक परिभाषानुसार चिदाभास कहा जाता है। एवं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥ (गीता १४।३-४।)

के अनुसार महान् चिदाभास (चित्प्रतिबिम्ब) की प्रतिष्ठा है। अव्यय नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा इसी पर प्रतिष्ठित होता है। प्राणमय वेद अव्यक्त है, एवं आपोमय परमेष्ठी महान् है। अप्-वायु-सोम तीनों की समष्टि भार्गव सोम है, यही महान् है। इसे ही पारमेष्ठ्य मनोता कहा जाता है, इसी पर चित् का आभास होता है, अत एव सम्पूर्ण विश्व में जीवसृष्टि आप्य-वायव्य-सौम्य भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। इस आपोमय महान् का जन्म वेद के यजु भाग से होता है, जैसा कि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। महान् पर प्रतिबिम्बित अव्यय जीवात्मा है। इस प्रकार महान् हो तब जीवात्मा का विकास हो, अव्यक्त वेद हो तब महान् का जन्म हो। ऐसी अवस्था में जीवाव्ययों का वेदपूर्वकत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। अस्तु ईश्वराव्यय वेद से पहिले हो, अथवा जीवाव्यय वेद के अनन्तर हो—दोनों का स्वरूप वेदमय है, यह निःसंदिग्ध विषय है। ईश्वर का ईश्वरपना, जीव का जीवपना वेद पर ही निर्भर है। ईश्वराव्यय भी वेदस्वरूप में परिणत होकर ही विश्व में उपलब्ध होता है, एवं जीव की

प्रतिष्ठा भी वेद ही है, इस में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है तभी तो- **'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा'** यह श्रौतवचन चरितार्थ होता है। विना वेद के ईश्वर भी अन्तर्लीन है, जीव भी तिरोहित है। इन दोनों में ईश्वर अंशी होनें से प्रधान है, अतः सर्वप्रथम ईश्वरीय एकात्मक वेद का ही निरूपण न्यायप्राप्त था। अत एव **'अनेजदेकम्०'** इत्यादि रूप से ऋषि को पहिले उस ईश्वरवेद का ही स्वरूप वतलाना पड़ा।

हमें **"अनेजदेकं मनसो जवीयः"** इत्यादि मन्त्र का अर्थ करना है। इस अर्थसङ्गति के लिए **अमृत–ब्रह्म–शुक्र–विश्व** भेदभिन्न चतुष्पाद्ब्रह्म का निरूपण करना पड़ा। अब इसी अर्थसङ्गति के लिए वेद का स्वरूप बतलाया जाता है। उक्त मन्त्र में प्रधानरूप से वेद का ही निरूपण हुआ है। अत एव जब तक वेदपदार्थ का यथार्थ स्वरूप अवगत नहीं करलिया जाता, तब तक उक्त मन्त्र का अर्थ कथमपि गतार्थ नहीं होसकता। **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद** नाम से चार वेद प्रसिद्ध हैं। अपनी कुटी में बैठे हुए आश्चर्य चकित होकर हम यह देख रहे हैं कि कन्या से कुमारी तक, अटक से कटक तक व्याप्त रहनें वाले आर्यावर्त्त के सभी विद्वान् उपलब्ध ऋग्वेदादि संहिताग्रन्थों को ही 'वेद' समझ रहे हैं। यही शब्दसंग्रह उन की विशालदृष्टि में वेदपदार्थ हैं। जहां तक हम अनुमान करते हैं, उक्त विद्वानों के सम्बन्ध में यह कहा जासकता है कि उन की दृष्टि में पुस्तकोपात्त शब्दात्मक मन्त्रों से अतिरिक्त ऐसा कोई वेदपदार्थ नहीं है, जो विश्व का उपादान बनता हो। "ऋग्–यजुः–साम–अथर्व के विना किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होसकती, प्रत्येक पदार्थ चारो वेदों की समष्टि है" यह वात माननें के लिए, अथवा मनवानें के लिए आज कोई समर्थ नहीं। ऐसी विषम परिस्थिति में वेदपदार्थ का तात्त्विक विवेचन यदि पाठकों की दृष्टि में केवल कल्पना का विषय बनें तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं है। यद्यपि **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'** के–**"क्या उपनिषत् वेद हैं ?"** इस प्रकरण में वेद का तात्त्विक निरूपण किया जाचुका है। तथापि मन्त्रार्थ की संगति के लिए यहां भी संक्षेप से वेद का निरूपण करना आवश्यक होगया है। हमें यह आशा ही नहीं अपि तु दृढ विश्वास है कि निम्न लिखित वेदप्रकरण का अवधानपूर्वक अवलोकन करनें के पश्चात् आर्यावर्त्त के विद्वान् अपनी वेदविषयिणी चिरन्तन भावना को अवश्य ही बदल देंगे।

उपलब्धि, स्थिति–गति, छन्द, रस, वितान, आदि भेदों से वेदतत्त्व अनेक भागों में विभक्त है। इन में सर्वप्रथम **उपलब्धिवेद** की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

॥ इति विषयोपक्रमः ॥

१–उपलब्धिवेद

उपलब्धि का अर्थ है–प्राप्ति । यह प्राप्ति चेतना, सत्ता, आनन्द इन तीन भागों में विभक्त है । प्रत्येक पदार्थ सत्ताभाव से आक्रान्त है । इसी सत्ता के कारण पदार्थों के लिए मनुष्योऽस्ति' 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इत्यादि रूप से अस्ति (है) व्यवहार होता है । दूसरे शब्दों में प्रत्येक पदार्थ की हमें मनुष्य है, यह पशु है, यह पत्नी है, इत्यादि रूप से अस्ति भावात्मिका उपलब्धि होरही है । पदार्थ विद्यमान हैं, एवं इन्हें हम जानते हैं, यह जानना दूसरा विभाग है । सद्वस्तु (सत्तायुक्त वस्तु) का ज्ञान (भान–प्रतीति) होना दूसरा पर्व है, यही ज्ञानभाव चेतना है । इस प्रकार चेतनारूप से भी हमें पदार्थों की उपलब्धि होरही है । इस सत्तोपलब्धि, एवं चेतनोपलब्धि से हमें आनन्द आता है । सद्वस्तु के ज्ञान से जिज्ञासाभावमय आत्मा शान्त होजाता है, यही शान्तिलक्षण आनन्द है । सद्वस्तु की ज्ञानोपलब्धि पर प्रतिष्ठित यह आनन्दकला तीसरी उपलब्धि है । उपलब्धि तीन नहीं है–अपि तु एक ही उपलब्धि सत्ता-चेतना-आनन्द भेद से त्रिपर्वा बन रही है । बस यह त्रिपर्वा उपलब्धि ही 'उपलब्धिवेद' है । पदार्थ की उपलब्धि वेद की उपलब्धि है । फलतः उपलब्ध होने वाले पदार्थमात्र वेद हैं । इसी लिए वेद शब्द के–"विद्यत-इतिवेदः" "वेत्ति-इति वेदः" "विन्दति-इति वेदः" यह तीनों निर्वचन किए जासकते हैं । सत्तार्थक विदधातु (विद-सत्तायाम्) से 'विद्यते' बना है, यह सत्तालक्षण निर्वचन है, 'विद्यते' सत्ता भाव का सूचक है । ज्ञानार्थक विदधातु (विद-ज्ञाने) से 'वेत्ति' बना है, यह चेतनालक्षण निर्वचन है, वेत्ति ज्ञानभाव का सूचक है । लाभार्थक विदधातु (विदॢ लाभे) से 'विन्दति' बना है, यह आनन्द लक्षण निर्वचन है, विन्दति रसभाव का सूचक है । प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में विद्यते, वेत्ति, विन्दति, कहा जासकता है । सुतरां प्रत्येक पदार्थ सत्-चित् आनन्दमय बनता हुआ वेदमय है । वेदरूप से सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होरहा है । यही उपलब्धिवेद का साक्षात् निदर्शन है ।

१— विद्यते—इति वेदः—सत्ताभावमाह—सत् (सत्तोपलब्धिः)
२—वेत्ति—इति वेदः—चिद्भावमाह—चित् (चेतनोपलब्धिः)
३—विन्दति—इति वेदः—रसभावमाह—आनन्दः (आनन्दोपलब्धिः)
} उपलब्धिर्वेदः

सत्ताभाव उपलब्धि का उपक्रम है, आनन्दभाव उपसंहार है। चिद्भाव दोनों का संयोजक है। सत्पदार्थ उपलब्धि का कारण बनता हुआ आनन्द का कारण बनता है। सत्ता वस्तु का प्रस्ताव है, चित उद्गीथ है, आनन्द निधन (अवसान) है। प्रस्तावस्थानीय सत्ताभाव ऋक् है, उद्गीथ स्थानीय चेतनाभाव (सत्ता आनन्द का परस्पर में यजन-- (मेल) करानें के कारण) यजु है। अवसानस्थानीय आनन्दभाव साम है। इस प्रकार उपलब्धिवेद-ऋक्-यजुः-साम भेद से तीन भागों विभक्त होरहा है। तीनों पृथक् नहीं रहते, अपि तु **'ऋक्सामे यजुरपीतः'** (श. १० का. १।१।४।) के अनुसार तीनों मिलकर एक वस्तु है। अत एव इसे **'वेदत्रयी'** कहा जाता है। इन तीनों में उपक्रमोपसंहार स्थानीय सत्ता—आनन्दात्मक ऋक्साम का एक विभाग है, एवं मध्यस्थ चिद्रूप यजु का स्वतन्त्र विभाग है।

१—उपलब्धिर्वेदः
१—सत्तोपलब्धिः—प्रस्तावः—ऋक्
२—चेतनोपलब्धिः—उद्गीथः—यजुः
३-आनंदोपलब्धिः-निधनम्--साम
} **सैषा उपलब्धिरूपा वेदत्रयी**

उपलब्धिवेद को हमनें सच्चिदानन्दब्रह्म का विवर्त्त बतलाया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह सच्चिदान्दब्रह्म वेद रूप में कैसे परिणत होगया? इस प्रश्न के समधान के लिए निम्नलिखित प्रकरण आाम्भ किया जाता है। **' षोडशीपुरुष '** नाम से प्रसिद्ध जिस गूढोत्मा का पूर्वाधिकरण में निरूपण किया गया है, वहीं विश्व में प्रविष्ट होकर **'विश्वेश्वर'** कहलानें लगता है। पूर्व के प्रकरणों में हमनें विशुद्ध षोडशी को गूढोत्मा किंवा निगूढोत्मा कहा था, परन्तु आज विश्वविशिष्ट षोडशी को गूढोत्मा कहैंगे। कारण स्पष्ट है। गूढोत्मा सापेक्ष शब्द है। जो आत्मा निगूढ (अन्तःप्रविष्ट) रहता है, वही गूढोत्मा कहलाता है।

निगूढ रहनें के लिए उसे अन्य विजातीय स्थूलभाव की अपेक्षा है। वह— **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते**' के अनुसार भौतिक विश्व में निगूढ है। जब तक विश्व है, तभी तक गूढोत्मा इस में निगूढ रहता हुआ गूढोत्मा है। जिस भौतिक विश्व में यह गूढोत्मा अन्तःप्रविष्ट रहता है, वह यही प्राण-अन्नादिमय स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पांच पर्वों की समष्टि है। वह इससे अविनाभूत है, सुतरां गूढोत्मा की व्याप्ति विश्व पर्यन्त सिद्ध होजाती है। वह पुरुष इस पञ्चपर्वा विश्व में नित्य प्रविष्ट रहता है, इसी अभिप्राम से वाजिश्रुति कहती है—

"अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति **केष्वन्तः पुरुष आविवेश ?**" इति
तं प्रत्याह–"**पञ्चस्वन्तःपुरुष आविवेश**" इति"।

(शत० १३।२।४।१५।)

इस गूढोत्मा पुरुष का पुरुषपना यद्यपि मायापुर से एक प्रकार से गतार्थ होजाता है, परन्तु यथार्थदृष्टि से विचार किया जाता है तो इसका पुरुषत्व स्वयम्भूपरमेष्ठी आदि पुरों पर ही अवलम्बित है। वेदादि पुरञ्जनों से ही स्थूल भौतिकपुर उत्पन्न होता है। इस पुर में (भौतिक विश्व में) प्रविष्ट होनें से ही इसका पुरुषपना चरितार्थ होता है। पुरुषस्वरूपसमर्पक स्वयम्भूपुर में परमेष्ठी आदि चारों पुर अन्तःप्रविष्ट हैं। स्वयम्भूपुर वेदमय है। विश्व का मूलतत्त्व यही वेद है। वेद से ही लोक उत्पन्न होते हैं, एवं वेद से ही प्रजोत्पत्ति होती है। यह वेदतत्त्व उस अव्यय पुरुष का **विद्याभाग** है। विद्यामय अव्ययेश्वर ही **वेदरूप** से स्वयम्भू में प्रकट होता है। विद्यात्मक वेद ही आगे की सृष्टियों में परिणत होकर '**ब्रह्म**' नमा धारण करलेता है। इस प्रकार एक ही तत्त्व अवस्था भेद से **विद्या–वेद–ब्रह्म** यह तीन रूए धारण करलेता है।

उक्त सारे प्रपञ्च का मूलाधार वस्तुतः रस-बल भेद से द्विकल परात्पर है। इसी द्विकल परात्पर का यत्किञ्चित् प्रदेश मायावच्छिन्न बनकर अव्यय बनगया है। सुतरां अव्यय में भी रस-बल इन दो कलाओं की ही सत्ता सिद्ध हो जाती है। रस ज्ञानप्रधान है, बल कर्मप्रधान है। विश्वातीत रसबलरूप परात्पर का विश्व में ज्ञानकर्मरूप से प्रत्यक्ष होरहा है। प्रत्येक पदार्थ में हम दोनों को अभिन्नभाव से उपलब्ध कर रहे हैं। विश्व में बलों के परस्पर में अनेक प्र-

कार के सम्बन्ध होते हैं। बलों के इस सम्बन्ध तारतम्य से विश्वावच्छिन्न रसबलरूप ज्ञानकर्म के सम्बन्ध से ही वैचित्र्य उत्पन्न होजाता है। कभी ज्ञान पहिले रहता है, कर्म उसके आगे रहता है। कभी कर्म पहिले रहता है, ज्ञान उसके पीछे संलग्न रहता है। इन दोनों सम्बन्धों में ज्ञान कर्म की सहचर अवस्था है, पूर्वापरभाव है। कहीं कर्म ज्ञान के उदर में प्रविष्ट है तो कहीं ज्ञान कर्म के उदर में प्रविष्ट है। यह इन दोनों का ओतप्रोतभाव सम्बन्ध है। इन तीनों विचित्र सम्बन्धों का हम विश्व के तत्तद्भावों में साक्षात् कार कर रहे हैं।

सम्बन्धचतुष्टयी				
	१—ज्ञानपूर्वककर्म	कर्मपक्ष	योग	सहचरसम्बन्ध
	२—कर्मपूर्वकज्ञान	ज्ञानपक्ष	सांख्य	
	३—कर्मगर्भितज्ञान	ज्ञानपक्ष	सांख्य	ओतप्रोतभाव सम्बन्ध
	४—ज्ञानगर्भितकर्म	कर्मपक्ष	योग	

इन चारों सम्बन्धों के आगे जाकर प्रधान तीन ही सम्बन्ध रह जाते हैं। तीसरा और चौथा सम्बन्ध एक वस्तु है। जहां कर्म ज्ञान में गर्भित है, वहीं ज्ञान कर्म में गर्भित है। इस प्रकार दोनों का एकत्व सिद्ध होजाता है। इन तीनों में से पहिले '**ज्ञानपूर्वकर्म**' सम्बन्ध पर दृष्टि डालिए। '**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**' (शत० १ कां० ७।१।५) के अनुसार यज्ञ एक प्रकार का अत्यन्त श्रेष्ठ कर्म माना गया है। इस कर्मसंपत्ति को प्राप्त करने के लिए, दूसरे शब्दों में यज्ञकर्म करने के लिए पहिले तत्साधक ज्ञानसंचय अपेक्षित है। यज्ञ कैसे होता है? जब तक आप इस यज्ञकर्म का ज्ञान प्राप्त नहीं करलेंगे, तब तक यज्ञकर्म में कभी अधिकार नहीं मिल सकता। पहिले यज्ञपद्धति का ज्ञानप्राप्त करना पड़ेगा, तब यज्ञ कर्म होसकेगा। विना जानें कर्म कैसे होसकता है। पहिले जानिए—फिर करिए। यदि विना ज्ञान को आधार बनाए आप मोहवश कर्म में प्रवृत्त होजांयगे तो ऐसा ज्ञानविरहित कर्म कभी सफल नहीं होगा। ज्ञान की इसी पूर्वस्थिति का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म आचरेत्।
अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

यज्ञ कर्म विना तत्सम्बन्धी ज्ञान के नहीं होसकता, अतः हम इस यज्ञ कर्म को 'ज्ञान-पूर्वककर्म' कह सकते हैं। यज्ञकर्म उदाहरण मात्र है। यज्ञातिरिक्त दान, तप, आदि और जितनें भी शास्त्रीय कर्म हैं, एवं इष्ट-आपूर्त-दत्त-आदि जितनें भी लौकिक कर्म हैं, उन सभी (वैदिक-लौकिक) कर्मों में ज्ञानपहिला है, कर्म दूसरा है। यच्च--यावत् कर्म ज्ञानपूर्वक ही किए जासकते हैं। थोड़ी देर के लिए लौकिक-वैदिक कर्मों को छोड़िए, शरीरसम्बन्धी नित्य कर्मों को लीजिए। यद्यपि यह सच है कि जिस प्रकार यज्ञतपदानादि वैदिककर्मों के लिए गुरू के पास जाकर ज्ञानसंपादन करना पड़ता है, डाक्टरी--इञ्जिनीयरी--शिल्पकर्म--आदि लौकिक कर्मों के लिए जिस प्रकार कालेजों में जाकर पहिले ज्ञान सम्पादन करना पड़ता है, इस प्रकार शयन, गमन, हसन, रुदन, भोजन आदि शरीरिक कर्मों के लिए किसी गुरू का आश्रय नहीं लेना पड़ता, इन कर्मों के ज्ञानसम्पादन के लिए चटशालाएं नहीं खुलीं हुईं हैं। बालक जन्म से ही उक्त शारीरिक कर्मों में निष्णात रहता है, तथापि आप को यह मानना पड़ेगा कि शारीरिक कर्मों का पूर्वाधार भी ज्ञान ही है। स्वाभाविककर्म भी विना इच्छा के नहीं होसकते। कामना ही कर्म की जननी है। यह कामना ज्ञानमय मन का स्वरूपधर्म है। मन सब में है। इस ज्ञानमूर्त्ति मन से इच्छा का उदय होता है, इच्छा से यत्न होता है, यत्न से कर्म में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा यह मान लेना पड़ता है कि वैदिक, लौकिक, शारीरिक भेदभिन्न शास्त्रीय अशास्त्रीय जितने भी कर्म हैं, उन सब में ज्ञान पहिले है, कर्म बाद में है। यही 'ज्ञानपूर्वककर्म' का पहिला विभाग है।

ज्ञानपूर्वक कर्म करनें से आत्मा में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होजाता है। आत्मा पर अनुशयरूप से कर्म की उसी प्रकार छाप लग जाती है, जैसे बालूमिट्टी में हाथ मारनें से वहां हाथ का चिह्न बन जाता है। यही संस्कार आगे जाकर स्मृति का कारण बनता है। हमनें नाट्यशाला में जाकर बड़े गौर से ज्ञानपूर्वक (समझते हुए) नाटक देखा। देखना कर्म हुआ, समझना ज्ञान हुआ। इस ज्ञानपूर्वक कर्म से आत्मा में नाटक का संस्कार जम गया।

घर आगए। कालान्तर में आत्मगत वही अभिनय संस्कार नाटक के उन उन अपूर्व दृश्यों की याद दिलाया करते हैं। इसी का नाम स्मृति है। ज्ञानपूर्वक जितनें भी कर्म हैं, सब इसी प्रकार संस्कार रूप में परिणत होते हुए स्मृति के कारण बनते हैं। यह संस्कार ज्ञान कर्म भेद से दो भागों में विभक्त हैं। हम एकान्त स्थान में बैठे बैठे बिना किसी भौतिक पदार्थ को आधार बनाए नई नई कल्पना करनें लगते हैं। यह काल्पनिक जगत् केवल ज्ञानीयजगत् है। इस काल्पनिक ज्ञान से आत्मा में ज्ञानमय संस्कार का उदय होजाता है। ज्ञानजनित इसी संस्कार को **'अनुभवाहितसंस्कार'** कहा जाता है। एवं कर्म करनें से जो आत्मा में एक प्रकार का अतिशय उत्पन्न होता है, उसे कर्मसंस्कार कहा जाता है। ज्ञानजनित संस्कार शास्त्रों में **'भावना'** नाम से, एवं कर्मजनित संस्कार **वासना** नाम से प्रसिद्ध है। कर्मजनित वासना से, ज्ञानजनित भावना से आत्मा में एक प्रकार का अपूर्व सांस्कारिक कर्म, एवं सांस्कारिक ज्ञान उत्पन्न होजाता है। यही सांस्कारिक ज्ञान कर्म जीवात्मा के बंधनमूलक जन्म–मृत्युचक्र के प्रधान स्तम्भ हैं। आत्मप्रतिष्ठित इसी संस्कार पुंज को **'विद्या'** कहा जाता है। इसी से उत्तरोत्तर कर्मसन्तान वितत होती है। अध्यात्मसंस्था में प्राण–भूत–देवता आदि अनेक विभाग हैं। यह सब अपनें अपनें नियत कर्म में आरूढ हैं। इन्द्रिएं देववर्ग हैं। सब इन्द्रियों का नियत कर्मों से सम्बन्ध है। आंख रूपदर्शनकर्म में, श्रोत्र शब्दग्रहणकर्म में नियत है। इस प्रकार ११ इन्द्रियों का कार्यकारणभाव सर्वथा नियत है। प्राणापानसमानादि पांचों प्राणों के व्यापार नियत हैं। मांस–मेद–अस्थि–मज्जा आदि सातों भूतों का कार्यकारणभाव नियत है। कार्यकारणभावात्मक इस नियतभाव का ही नाम **'नियति'** है। यह ईश्वरीयध्रुव नियम है। जिस ईश्वरीय ध्रुव नियम का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, अत एव जो नियम सत्य (त्रिकालाबाधित) नाम से प्रसिद्ध है, वही नियमसूत्र **'नियति'** नाम से प्रसिद्ध है। विश्वेश्वर की नियति महामहिमशालिनी है, हमारी नियति अल्पा है। वही हमारा नियन्ता है। हमारी नियती भी अन्ततोगत्वा उसी महानियति में अन्तर्भूत है। जब तक वह अध्यात्मसंस्था के प्राण–भूत–देवमय तन्त्रों को चलातारहता है, तभी तक यह संस्था चलती है। वह कबतक अपनी नियति को हमारे में प्रतिष्ठित रखता है ? इस

का उत्तर है कर्मसंतान। इसी आधार पर तो-'स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। कर्मसंतान ही नियति का मूलाधार है। जब तक कर्मसंतान है, तब तक शरीरतन्त्र का संचालन है। कर्मसंतान का कारण वही पूर्वोक्त संस्काररूप विद्या भाग है। अत एव आगे जाकर—

"प्राणभूतदेवभौतिकानां यो नियतकार्यकारणभावः (याथातथ्यरूपः सत्यात्मको नियतिभावः) स एव "विद्या"

विद्या का यह लक्षण होजाता है। यही संस्कारपुञ्ज विद्या है, यही वेद है, यही ब्रह्म है। स्थूलदृष्टि से देखनें पर यद्यपि विद्या, वेद, ब्रह्म तीनों अभिन्नवत् प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करनें पर तीनों का औपाधिक भेद स्पष्ट प्रतीत होनें लगता है। यद्यपि तीनों ही ज्ञानकर्ममय हैं, परन्तु पूर्वप्रदर्शित ज्ञानकर्म भेद से तीनों की संस्था में अन्तर हो जाता है। ज्ञान कर्म से पहिले रहे, पहिली संस्था है। कर्म ज्ञान से पहिले रहे, यह दूसरी संस्था है। दोनों साथ रहें, एकदूसरे में ओतप्रोत रहें, यह तीसरी संस्था है। इस प्रकार ज्ञान कर्म का तीन ही प्रकार से समन्वय होसकता है। कर्मरूप ऐसा शब्द प्रपञ्च जो ज्ञान का उत्पादक हो, वही वेद है। भावना-वासनात्मक ऐसा अनुभवाहित संस्कारपुञ्ज जिससे कि संस्कारावच्छिन्न उस वस्तु का ज्ञान बना रहता हो, वही विद्या है। इस संस्काररूप विद्यात्मक ज्ञान से ही ज्ञानधारा उत्तरोत्तर प्रवाहित रहती है। एवं ऐसा ज्ञान जिस के उदर में कर्म (विषय) बैठा हो, वही ब्रह्म है। इस प्रकार यद्यपि नियतित्त्वेन नियतिधर्म तीनों में समान है, तथापि तीनों की नियति में थोड़ा थोड़ा अन्तर है। इसी अन्तर से ईश्वरीया एक सत्यनियति तीन नामों से व्यवहृत होरही है। जिस नियति का गृह्यमाण धर्म से अभिनय होता है, वह नियति 'ब्रह्मनियति' है। हम घट देखते हैं, घट दर्शन से 'अयं घटोऽस्ति' (यह घड़ा है) इत्याकारक घट ज्ञान का उदय होजाता है। दूसरे शब्दों में घट पदार्थ हमारे ज्ञान में आजाता है, हमारा ज्ञान घटाकाराकारित बन जाता है। उसी समय हमारे मुख से-'घटमहं जानामि' (मैं घड़ा जानता हूं) यह अक्षर निकल पड़ते हैं। घटधर्म को लेकर आज हमारा ज्ञान धर्मी बन रहा है। घट धर्म

(किंवा घटज्ञान) धर्मी (ज्ञान) से गृह्यमाण धर्म है। ज्ञान के उदर में घटधर्म प्रतिष्ठित होरहा है। इस घटरूप गृह्यमाण धर्म से युक्त ज्ञान का जो एक अपूर्व स्वरूप (घटाकाराकारित स्वरूप) है वही 'ब्रह्म' है। इस के अभिनय का **'घटमहं जानामि'** यही उक्त स्वरूप है। दूसरे शब्दों में घटविषयावच्छिन्न अत एव घटाकाराकारित ज्ञान (सविषयक ज्ञान) ही ब्रह्म है। इस में कर्म रूप घट ज्ञान के गर्भ में प्रतिष्ठित होरहा है।

प्रकारान्तर से देखिए। सामने चेतन घोड़ा खड़ा हुआ है। आप का आत्मा चेतनमूर्त्ति किंवा चिन्मूर्त्ति है। आपके आत्मा में से जो इन्द्रियरूप रश्मिएं निकलती हैं— वे भी चेतन हैं, यही आत्मवृत्ति है। आत्मचैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य है, इन्द्रियचैतन्य अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य है, अश्व विषयावच्छिन्नचैतन्य है। मध्यस्थ वृ० चैतन्य के द्वारा विषया० चै० रूप अश्व का अन्त० चै० रूप आत्मा के साथ सम्बन्ध होजाता है। इस प्रकार अन्त० अन्तकरणवृत्त्य० विषयाव० इन तीनों चैतन्यों के समन्वय से अश्वज्ञानरूप अपूर्व प्रत्यय का उदय होजाता है। यह विषयरूप अपूर्व ज्ञान (जिसे लोक भाषामें घोड़े का ज्ञान कहा जाता है) ही ब्रह्म है। ज्ञान के पर्व पर्व में अश्व, अश्व के पर्व पर्व में ज्ञान है। यही तो ज्ञान कर्म का ओतप्रोतभाव सम्बन्ध है। ज्ञान के अमुक अंश में घोड़ा है, अथवा अश्व के अमुक भाग में ज्ञान प्रतिष्ठित है, यह निर्णय करना असंभव है। जितनी दूर में ज्ञान है, उतनी ही दूर में घोड़ा है। ज्ञान और घोड़ा एक वस्तु बन रहे हैं— **"तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः"**।

अश्व नाम का पदार्थ हमारी आंखों के सामने नहीं है। एक तटस्थ व्यक्ति के मुख से 'अश्व' शब्द निकलता है। वीचितरंगन्याय से वाक्समुद्र में प्रतिध्वनि करता हुआ वह अश्वशब्द हमारे कानों में आता है। वहां पर बैठा हुआ प्रज्ञानमन उसे लेलेता है। तत्काल इस अश्वशब्द ज्ञान से हमारे अन्तरात्मा में अश्वपदार्थ का उदय होजाता है। अश्वशब्द अश्व पदार्थ का बोधक बन जाता है। क्यों कि शब्द और अर्थ का उत्पत्तिसृष्ट सम्बन्ध नहीं है, अपितु उत्पन्नसृष्ट सम्बन्ध है। शब्दाविर्भावकाल में तद्वाच्य अर्थ भी प्रादुर्भूत होजाता है।

शब्द आविर्भूत होगया, उस का पदार्थ के साथ अनन्तर सम्बन्ध हुआ— यह बात नहीं है। शब्दार्थ के इसी औत्पत्तिक (समकालिक) रहस्य को लक्ष्य में रखकर आचार्य कहते हैं—

" औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेस्तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् "

(पू० मी० १ अ० ४ अ० ५ सू०)

इसी सौत्र अर्थ का स्पष्टीकरण करण करते हुए सेतुकार कहते हैं—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदी)

मानलीजिए किसी शब्द का वाच्य अर्थ आप को पहिले से विदित नहीं है, वह शब्द आप सुनते हैं। ऐसा शब्द भी निरर्थक नहीं जाता। अपि तु तत्काल "अस्ति किञ्चित्" इत्याकारक उन्मुग्ध ज्ञान अवश्य ही होजाता है। भगवान् रामचन्द्र के लीलाशरीर को किसने देखा है। परन्तु सभी 'राम' सुनते ही किसी अलौकिक पुरुष के ध्यान में निमग्न होजाते हैं। शब्द अर्थ के विना रह नहीं सकता। यदि अर्थ का स्वरूप अविज्ञात रहता है तो शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति से ज्ञानोदय का कारण बनजाता है। ऐसे वस्तुशून्य ज्ञान को 'विकल्प' कहाजाता है; जैसा कि सूत्रकार कहते हैं—

" शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः "

(पा० यो० समाधिपाद ९ सू०)।

जिस प्रकार शब्द सुनने से तद्वाच्य अर्थज्ञान का उदय होजाता है, एवमेव अर्थ (विषय) के देखने से शब्दज्ञान का उदय होजाता है। घोड़े को देखते ही 'घोड़ा' यह शब्द भी हमारे ज्ञान में प्रविष्ट होजाता है। यदि शब्द मालूम नहीं होता है तो 'अस्ति किंचित्' यही ज्ञान होजाता है। इस शब्दार्थ प्रकरण से प्रकृत में हमें केवल बतलाना है कि शब्द श्रवण से भी ज्ञान का उदय होजाता है। यह शब्दज्ञानात्मिका नियति वाक्प्रपञ्च से अभिनीयमाना है। इसी का नाम वेदतत्त्व है। जैसे विषयावच्छिन्न ज्ञान ब्रह्म था, तथैव शब्दावच्छिन्न ज्ञान का नाम वेद है। इस

ज्ञान में कर्म पहिले है, ज्ञानोदय बाद में है। शब्द सुनना एक कर्म है। इस कर्म से अर्थज्ञान का उदय होता है। शब्द गायब होजाता है, शब्दकर्मजनित अर्थज्ञानमात्र रहजाता है। यही कर्मपूर्वकज्ञानरूप दूसरा विभाग है।

तीसरा है विद्यातत्त्व। शब्द और अर्थ (विषय) यह दो ही तत्त्व ज्ञान के साधक हैं। शब्द सुननें से भी ज्ञान होता है, एवं विषय को देखनें से भी ज्ञान होता है। शब्द सुननें से अथवा विषय दर्शन से आत्मा में तदवच्छिन्न ज्ञान का उदय हुआ। विद्यार्थी नें गुरु के मुख से निकला हुआ शब्द सुना। शब्द श्रवण से तद्विषयक ज्ञान होगया। यदि यह ज्ञान विद्यार्थी के अन्तःकरण में खचित होजाता है तो वह कहता है गुरुमहाराज! मुझे अमुक विषय याद होगया, अब में इसे कभी नहीं भूल सकता। यह याद होजाना ही संस्कार है। हमनें विद्या पढ़ी है, इस का तात्पर्य यही है कि शब्दप्रपञ्च का सहारा लेकर तज्जनित ज्ञान को हमनें अपने आत्मा में प्रतिष्ठित कर लिया है। शब्द आकाश में लीन होगया, परन्तु आगे के सारे कर्म इसी अनुभवाहित संस्कार के आधार पर होते हैं। जिसप्रकार ज्ञान उत्पन्न कर शब्द तिरोहीत होजाता है, एवमेव ज्ञान भी अधिक समय तक नहीं ठहरता। ठहरता है केवल संस्कार–जिस में यह संस्कार नहीं होते हैं, समझलो उसनें विद्या प्राप्त नहीं की, अपि तु कोरी पोथी पढ़ी है 'नामैवैतत्'। शब्द सुना है, नाम मात्र की उपासना की है। शब्दवत् विषय से भी इसी प्रकार आत्मा में संस्कार होता है। विषय भी नहीं है, शब्द भी नहीं है, केवल काल्पनिक जगत् है। शब्द एवं विषय के बिना ही हम अपनें ज्ञान में निराधार ज्ञानमयी कल्पनाएं किया करते हैं। इन से भी आत्मा में संस्कार का उदय होजाता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इस प्रकार शब्दश्रवणरूप कर्म, विषयदर्शनरूप कर्म, एवं ज्ञानीय कल्पनारूप ज्ञान भेद से तीन प्रकार से संस्कारों का उदय होता है। शब्द विषय से होनें वाला संस्कार वासनारूप कर्म संस्कार है। एवं ज्ञानमय संस्कार भावनारूप ज्ञान संस्कार है। यही संस्कारावच्छिन्नज्ञान 'विद्या' है। विद्या ज्ञानमयी है। इसे लोक में 'मालुमात' कहते हैं। जो बहुदर्शी एवं बहुश्रुत होता है, उसे इसी विद्यासंस्कार के कारण विद्वान् कहा जाता है। आगे के सारे कर्म इसी विद्यात्मक (संस्कारात्मक)

ज्ञान से होते हैं । ऐसे कर्मों को हम ज्ञानपूर्वककर्म कहेंगे । सांस्कारिककर्म ज्ञानपूर्वक कर्म है । यही ज्ञान कर्म का तीसरा विभाग है । विद्या में गृहीत पूर्वाहित संस्कारों से कर्मों का अभिनय होता है । 'हम अमुक कर्म का ज्ञान रखते हैं, अतएव इस ज्ञान के बल पर अमुक कर्म करनें में समर्थ हैं' यही अभिनय का स्वरूप है । इस ज्ञान कर्म के तारतम्य से उक्त तीनों पर्वों के निम्न लिखित लक्षण होजाते हैं ।

१—गृह्यमाणधर्मेणाभिधीयमानानियतिः ———"ब्रह्म"

२—वाचाभिनीयमानानियतिः ————"वेदः"

३—गृहीतपूर्वाहितसंस्कारेणाभिधीयमानानियतिः—"विद्या"

१—विषयावच्छिन्नं ज्ञानं—"ब्रह्म"

२—शब्दावच्छिन्नं ज्ञानं—"वेदः"

३—संस्कारावच्छिन्नं ज्ञानं—"विद्या"

सर्वज्ञ-सर्वशक्ति—सर्ववित् एक ही ब्रह्मतत्त्व किंवा ब्रह्मज्ञान विषय, शब्द, संस्कार इन तीन उपाधियों के भेद से उक्त तीन रूप धारण करण लेता है । उपाधिदृष्ट्या जहां तीनों ज्ञान पृथक् पृथक् हैं, वहां उपाधि को छोड़ते हुए तीनों अभिन्न हैं । इसी एकत्त्वभावना को लक्ष्य में रखकर उक्त तीनों पर्वों के लिए "त्रयं ब्रह्म" "त्रयो वेदाः" "त्रयीविद्या" इन अभेद सूचक वाक्यों का प्रयोग किया जाता है ।

ब्रह्म- वेद- विद्या इन तीनों विवर्त्तों में पहिले किस विवर्त्त का उदय होता है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । इसके समाधान के लिए निम्न लिखित नामरूपकर्म प्रपञ्च पर दृष्टि डालनी पड़ेगी । विश्व में वस्तुज्ञान के संपादक शब्द और अर्थ (विषय) दो ही विवर्त्त हैं । यद्यपि 'कर्म' नाम का एक तीसरा विभाग और माना जाता है, परन्तु दार्शनिकों नें इस का रूप में अन्तर्भाव मानते हुए नाम एवं रूप को ही विश्व का स्वरूप समर्पक मान लिया है । नाम शब्दप्रपञ्च है, रूप अर्थ प्रपञ्च है । नाम--रूप--कर्म इन तीनों का क्रमशः सृष्टिसाक्षी कर्मान्वय के वाक्- मन- प्राण भाग से सम्बन्ध है । मन से रूप का, प्राण से कर्म का, एवं वाक् से नाम

का उदय होता है। मन-प्राण-वाक् यह तीनों क्रमशः रूप-कर्म-नाम के उक्थ-ब्रह्म-साम बनते हुए आत्मा कहलाते हैं। मन-प्राण-वाक् अमृतावस्था है, यही सत्ताभाव है। इस सत्ताभाव में प्रतिष्ठित नाम-रूप-कर्म मर्त्यभाव हैं। मर्त्य विषय नाम रूपकर्मात्मक है। यह सत्ता से अनुगृहीत रहता है। इन तीनों का विकास कर्मान्वय से हुआ है, अतएव इस समष्टि को 'कर्म' नाम से ही व्यवहृत किया जाता है। वस्तुज्ञान इसी कर्म पर निर्भर है। नामरूपकर्मात्मक विश्वावच्छिन्न मर्त्यरूप कर्म भाग ही ज्ञान का स्वरूप सम्पादक है। पूर्व कथानुसार नाम-रूप-कर्मों में नाम रूप ही प्रधान हैं, एवं कर्म का रूप में अन्तर्भाव है। नाम शब्दमयी वाक् है, रूप अर्थमयी वाक् है। अर्थरूप यही वाक्प्रपञ्च ज्ञान का उद्भावक है। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो विना शब्द के प्रकट होता हो, अर्थज्ञान शब्दानुविद्ध ही होता है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। यद्यपि नामवत् (शब्दवत्) रूप (अर्थ) भी ज्ञान का कारण है, परन्तु शब्दमूला सृष्टि में शब्द की ही प्रधानता रहती है, अतः शब्द को ही ज्ञान का प्रधान साधक मानना उचित होता है। जिसे आप अर्थ कहते हैं, उस की उत्पत्ति का मूल भी शब्द (शब्दतन्मात्रा) ही है। शब्द ही संघात अवस्था में आकर अर्थ रूप में परिणत होरहा है। अत एव अर्थरूप पांचों भूतों में हम शब्द उपलब्ध करते हैं। शब्दतन्मात्रा भूतमात्रा की जननी है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर—"स भूरीतिव्याहरत्-पृथिवीव्यभवत्" इत्यादि कहा गया है। शब्द प्राथमिक है, अर्थ उत्तरभावी है। यद्यपि दोनों का उत्पत्तिसृष्ट सम्बन्ध माना गया है, तथापि अर्थ प्रपञ्च प्रतिसंचरावस्था में शब्दतन्मात्रा में ही लीन होता है, अतः इसी का प्राथम्य मानना पड़ता है। निष्कर्ष यही हुआ कि रूपात्मक अर्थ मय वाक्प्रपञ्चगर्भित नामात्मक शब्दवाक्-प्रपञ्च ही पदार्थज्ञान का साधक है। 'हम घड़ा जानते हैं' इस वाक्य में घटशब्द नाम है, कम्बुग्रीवादिभाव रूप है। दोनों वाक्रूप कर्म है। इसी कर्म से घटज्ञान का उदय हुआ है। इसी कर्मविज्ञान को आधार मान कर हम कह सकते हैं कि संसार में कर्मपूर्वक ही ज्ञान होता है। कर्म प्रथम है, ज्ञान द्वितीय है। ज्ञान सम्पादक शब्द प्रधान, दूसरे शब्दों में शब्दावच्छिन्न इसी ज्ञान को वेद कहा है। वेद शब्दतन्मात्रामय है। इस का सबसे पहिले विकास होता है,

अत एव वेद–ब्रह्म–विद्या–इन तीनों में हम वेद विभाग को ही प्रथमज कहेंगे। इसी अभिप्राय से तो "ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेव विद्याम्" यह कहा गया है। आप अपने मुख से जो–'अयं घटः' 'अयं पटः' 'अयमश्वः' 'अयं पुरुषः' इत्यादि वाक्य बोलते हैं, यह इसी वेद-तत्त्व की महिमा है। वस्तु की उपलब्धि ही वस्तु का ज्ञान है। इस उपलब्धि का कारण यही वेदतत्त्व है। वेद उपलब्धि का कारण नहीं है, अपि तु उपलब्ध होनें वाला पदार्थ स्वयं वेद है। कारण वह शब्द तन्मात्रारूप वेदतत्त्व ही तो आगे जाकर स्थूलरूप में आकर भौतिक विश्वरूप में परिणत हुआ है। उपलब्ध पदार्थ भौतिक हैं। त्रयीवेद ही इन का प्रभव प्रतिष्ठा परायण है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ का आलम्बन–उपादान त्रयीवेद है। त्रयीवेद में प्रतिष्ठित भूतमय पदार्थ की ही उपलब्धि होरही है। हम भौतिक पदार्थ क्या देख रहे हैं, त्रयीगर्भ में प्रतिष्ठित भौतिक पदार्थ देख रहे हैं। इसी उपलब्धि विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि–अपश्यत"

वेद से विषय का विकास होता है। विषयावच्छिन्न ज्ञान ब्रह्म है। अतः इसे हम दूसरा स्थान दे सकते हैं। शब्दात्मक वेद, विषयात्मक ब्रह्म से संस्कारावच्छिन्नज्ञानरूप विद्यातत्त्व का उदय होता है, अतः इसे तीसरी कोटि में रखना न्याय संगत होता है।

१—त्रयो वेदाः (कर्मपूर्वकज्ञानावस्था)—प्रथमावस्था
२—त्रयं ब्रह्म (ज्ञानसहकृतकर्मावस्था)—मध्यमावस्था
३—त्रयी विद्या (ज्ञानपूर्वककर्मावस्था) —चरमावस्था

वेद ही ब्रह्म बना है, वेद ही ब्रह्मरूप में परिणत होकर विद्या का कारण बना है, अत एव वेद को ब्रह्म भी कहाजाता है, एवं विद्याशब्द से भी व्यवहृत किया जासकता है। यही वेद नाम का प्रथम पुरंजन विश्वोपलब्धि का कारण बनता हुआ स्वयम्भू का स्वरूप समर्पक बनता है। "अनेजदेकं" इत्यादि मन्त्र इसी वेदतत्त्व का स्वरूप बतलाता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

इत्युपलब्धिवेदः

स्थितिगतिलक्षणा वेदनिरुक्तिः

वेदस्वरूप का साक्षात् करनें के लिए थोड़ी देर के लिए आप हमारे साथ विश्वरंगमञ्च पर चलिए। अपनी नियत बैठक (सीट) पर बैठ जाइए। लीजिए त्रिसत्य देवताओं की त्रित्व मर्यादा के अनुसार पहिली घंटी हुई, दूसरी घंटी हुई, तीसरी घंटी के साथ साथ ड्राप (पर्दा) उठा, और विश्व का दृश्य (सीन) आपके सामनें आगया। इस दृश्य में आप क्या देख रहे हैं ? दो अभिनेता। एक नट और दूसरी नटी, एक पुरुष और एक प्रकृति, एक ब्रह्म और एक माया। दोनों अभिनेताओं में एक अभिनेता (पुरुष) शान्त भाव से खड़ा है, दूसरा पात्र (प्रकृति) प्रतिक्षण में होनें वाली नवीन नवीन कलाओं को अपनें अंगप्रत्यङ्ग में प्रकट करता हुआ वाद्य–गीत–नृत्य के साथ दर्शकगणों का चित्त मुग्ध कर रहा है। साधारण कोटि के दर्शक उस शान्तपात्र (पुरुष) को भूल कर इस अशान्त पात्र (प्रकृति) की क्षणिक कलाओं पर मुग्ध होरहे हैं। असाधारण धीर दर्शक उस शान्तपात्र (पुरुष) की शान्ति के अनुगामी बन रहे हैं। एक दल प्रेय का उपासक है तो दूसरा श्रेय की आराधना कर रहा है। इस प्रकार इस विश्वदृश्य में आप एक शान्त भाव देख रहे हैं, एवं एक अशान्तभाव देख रहे हैं। साहित्यकला में निष्णात अत एव क्रान्तदर्शी नाम से प्रसिद्ध विश्वनाट्यकला के अभिज्ञ कविवरों (महर्षियों) नें अपनी साहित्यभाषा में उक्त दोनों अभिनेताओं के '**स्थिति–गति**' यह नाम रक्खें हैं। शान्त अभिनेता स्थिति है, अशान्त अभिनेता गति है। विश्वनाट्यभवन में, इस नाट्य भवन के प्रत्येक दृश्य में उक्त दो ही अभिनेताओं का साम्राज्य है। प्रयास करनें पर भी इन दोनों से अतिरिक्त तीसरा दृश्य आप को नहीं मिल सकता। महाविश्व में, विश्व के प्रत्येक पर्व में, पर्व के प्रत्येक पदार्थ में, पदार्थ के प्रत्येक महाभूत में, महाभूत के प्रत्येक रेणु (परमाणु) में, रेणु के प्रत्येक अणु में, अणु के प्रत्येक गुण में, गुण के प्रत्येक पुरंजन में, पुरंजन के प्रत्येक पञ्चजन में पञ्चजन के प्रत्येक विश्वसृट् में, विश्वसृट् के प्रत्येक आत्मक्षर में, आत्मक्षर के प्रत्येक अक्षर में, अक्षरालम्बन अव्यय में, सर्वाधार परात्पर में सर्वत्र उक्त उन्हीं

स्थिति-गति भावों का साम्राज्य है। स्थिति उस दृश्य का पूर्वभाव है, गति उत्तरभाव है। स्थित रहता हुआ वह दृश्य विश्व प्रतिक्षण चल रहा है, ठहरा हुआ आगे बढ़ रहा है। यह ठहराव भी नित्य है, एवं बदलना भी नित्य है। साथ ही में आपामर आविद्वज्जन सब को इन दोनों भावों के समानरूप से दर्शन हो रहे हैं। परन्तु 'लोकरुचिर्हि भिन्ना'। एक कहता है-स्थितिदृश्य ही उपादेय है, दूसरा दल कहता है- गतिप्रधान अभिनय ही तात्त्विक वस्तु है। एक की दृष्टि में स्थितितत्त्व ग्राह्य है, गतितत्त्व निरर्थक है। दूसरे की दृष्टि में गतितत्त्व ग्राह्य एवं स्थितितत्त्व निरर्थक है। जिसकी दृष्टि में जो ग्राह्य है, दूसरे की दृष्टि में वह हेय है। इसी रुचि-भेद का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गी० २।६९)।

स्त्री-पुरुष के मिथुनभाव से योषावृषात्मक दोनों के शुक्रशोणित की संसृष्टि होती है। इस से गर्भस्थिति होती है। दशममास में एवयामरुत् के धक्के से गर्भ भूपृष्ठ पर संलग्न होता है, यहीं इस गर्भस्थ प्राणी का जन्मकाल है। उत्पन्न शिशु आप के सामने है। आप उसे बदलता हुआ देख रहे हैं। इसी परिवर्त्तन से आप उसे क्रमशः बाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाओं में बदलता हुआ पाते हैं। निरन्तर परिवर्त्तन का साक्षात्कार होरहा है। साथ ही में आप "यह वही है जो कुछ दिन पहिले बच्चा था, यह वही है जो किसी समय पर युवा था, परन्तु आज वृद्ध होगया है" यह 'वही' रूप स्थितिलक्षण अपरिवर्त्तनीयभाव भी देख रहे हैं। नित्यस्थिति में नित्य परिवर्त्तन देखा जारहा है। जो स्वरूप आज है, वह कल नहीं, जो कल होगा वह परसों न रहेगा। परन्तु जो देवदत्त आज है, वही कल रहेगा, वही परसों रहेगा, इस प्रकार विश्वावयवरूप एक ही मनुष्य में "यही है" (वह नहीं है—वही है) इन दोनों विरुद्धभावों का साक्षात्कार होरहा है। इस क्षणिक परिवर्त्तन का नाम ही गति है, एवं अक्षण अपरिवर्त्त-नीयभाव का नाम ही स्थिति है। दोनों मिलकर एक मनुष्य है। निदर्शनमात्र है। संसार के जड़चेतनात्मक उभयविध पदार्थों में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से आपको एक ही स्थानपर, एक

ही बिन्दु पर दोनों तत्त्व उपलब्ध होंगे। प्रतिक्षण अपरिवर्त्तित होते हुए पदार्थों में न बदलनें वाला स्थितितत्त्व ही हमारा सुप्रसिद्ध अस्तिरूप अमृततत्त्व है। अपरिवर्त्तनीय अमृतरूप स्थितिभाव पर प्रतिष्ठित, अत एव अपरिवर्त्तनीयभाववत् (सत्तारूप) प्रतीयमान, वस्तुतः—प्रतिक्षण वदलनें वाला गतिभाव ही नास्तिरूप सुप्रसिद्ध मृत्युतत्त्व है। दोनों दोनों में ओतप्रोत हैं। स्थिति-गति में डूबी हुई है, यही 'ओत' भाव है, गति स्थिति में प्रतिष्ठित है, यही प्रोतभाव है, यही ओतप्रोतभाव है। यद्यपि दार्शनिकों नें सर्वथा नास्तिरूप मृत्युतत्त्व के '**नास्ति—अस्ति नास्ति**' यह तीन स्वरूप मानें हैं। परन्तु मध्यस्थ अस्तिभाग को परमार्थकोटि में '**नास्ति**' मानना पड़ता है। मध्य का अस्तिलक्षण नास्तिप्रस्ताव (उपक्रम) नास्तिनिधन (उपसंहार) वनता हुआ तन्मध्यन्याय से नास्तिकोटि से वाहर नहीं जासकता। जवतक इस पर अमृत का अनुग्रह नहीं होता, तव तक यह अव्यक्त है; यही नास्तिभाव है। अमृतानुग्रह से यही व्यक्तावस्था में आता हुआ अस्ति कहलानें लगता है। यह अस्तिभाव इस का स्वरूपधर्म नहीं, अपि तु अमृत का अनुग्रह है। इस अनुग्रह के निवृत्त होजानें पर यह वापस अपनें उसी अव्यक्तरूप नास्तिभाव में आजाता है, अत एव इसे हम नास्तिसार ही माननें के लिए तय्यार हैं। जो महानुभाव (चार्वाकादि) केवल नास्तितत्त्व को ही प्रधान मानते हैं, जिन का "**सर्वमिदं क्षणिकं क्षणिकम्, अत एव शून्य शून्यम्, अत एव दुःखं दुःखम्, अत एव स्वलक्षणं स्वलक्षणम्**" यह घन्टाघोष है, जिन के मतानुसार अस्ति नाम का अमृतलक्षण कोई नित्य तत्त्व नहीं है, उनके केवल इस नास्तिभाव में ही दोनों भाव आजाते हैं। आप निरन्तर अपनें मुख से '**कुछ नहीं है**' '**कुछ नहीं है**' यही वोलते रहिए। परन्तु हम इसी व्यवहार में '**नहीं**'—और '**है**' इन दोनों को दिखला देते हैं। कुछ नहीं माननें वालों के प्रति पहिले तो हम यही कहेंगे कि जव आपके मतानुसार '**कुछ नहीं है**' तो ऐसी अवस्था में '**कुछ नहीं है**' इस कोटि में आते हुए आप स्वयं भी '**कुछ नहीं है**'। जव आप स्वयं कुछ नहीं हैं तो आपके मुख से निकला हुआ—'**कुछ नहीं है**' यह वाक्य भी कुछ नहीं है। फलतः '**कुछ नहीं है**' यह कहते हुए आपका '**कुछ नहीं है**' यह सिद्धान्त अपनें आप गिर जाता है।

थोड़ी देर के लिए हम आपके 'कुछ नहीं है' इस सिद्धान्त को मानलेते हैं । आप और तो कुछ नहीं मानते, परन्तु 'कुछ नहीं है' यह तो आप भी मानते हैं । दूसरे शब्दों में स्वतन्त्र सत्तावाद को न मानते हुए भी आप 'कुछ नहीं है' इस वाक्य की सत्ता तो अपनें मुख से ही मान रहे हैं । इस प्रकार अगत्या आप को 'सत्ता' भाव से आक्रान्त होजाना पड़ता है । यदि इस आपत्ति से वचनें के लिए आप यह कहें कि हमारा 'कुछ नहीं है' यह भी नास्तिसार होता हुआ "कुछ नहीं है" तो ऐसी अवस्था में आप साक्षात्‌रूप से सत्ता मान लेते हैं । कारण–अभाव का अभाव सत्ता है । "घट नहीं है- यह बात नहीं है" इस का अर्थ है— 'घट है' । इसी प्रकार 'कुछ नहीं है' यह 'कुछ नहीं है' का अर्थ है–'कुछ है' । जानें दीजिए आप इस सारे तर्कवाद को । 'कुछ नहीं है' यही मानिए । इस 'कुछ नहीं है' वाक्य में आपको 'कुछ नहीं'–'है' यह दो विभाग माननें पड़ेंगे। नास्ति के–'न'–'अस्ति' इन दो भावों का आप अपलाप नहीं कर सकते । नास्ति वाक्य में रहनें वाला 'न' मृत्यु है, अस्ति अमृत है । तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी यह दोनों भाव एक विन्दु पर प्रतिष्ठित हैं । 'न' भातिसिद्ध है, 'अस्ति' सत्तासिद्ध है । भातिभेद द्वैत का कारण नहीं वनता, अपि तु सत्ताभेद द्वैत का मूल है । यहां सत्ता एक है, अतः अमृत–मृत्यु–यह दो भाव द्वैत के कारण नहीं वनते । उक्त इसी अस्ति–नास्ति विज्ञान को लक्ष्य में रखकर आचार्य कहते हैं—

यँदस्ति किञ्चित्तदिमं प्रतीमोऽविचालिशश्वत्स्थमनाद्यनन्तम् ।
प्रतिक्षणान्यन्यविकारसृष्टप्रवाहि तद् यद्विरुद्धभावम् ॥

---

* गुरुवर श्री (मधुसूदनजी) ओझाजी विरचित इस अपूर्वग्रन्थ का भाषाभाष्य लेखक की ओर से लगभग १५०० पृष्ठों में संपन्न हुआ है । ईश्वर–जीव–लोक–परलोक–प्रतिमा-श्राद्ध–साकार–निराकार आदि विषयों पर जितनें भी संदेह होसकते हैं, प्रथमखण्ड में विस्तार से इन की पुष्टि है । उत्तरखण्ड में वैज्ञानिक पद्धति से विशुद्ध वैदिक प्रमाणों द्वारा इन सब का समाधान किया गया है । यह भाषाभाष्य मुद्रण सापेक्ष है । मूलग्रन्थप्राप्तिस्थान- मैनेजर श्रीमधुसूदन कार्यालय तहवीलदारों का रास्ता जयपुर (राजपूताना) मूल्य डा० सहित १॥)

विरुद्धभावद्वयसन्निवेशात् संभाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम् ।
आभ्वभ्वसंज्ञे स्त इमे च मूले द्रष्टाभु दृश्यं तु मतं तदभ्वम् ॥२॥
(संशयतदुच्छेदवाद सच्चिदानन्दखण्ड १-२-श्लो०)

पूर्व के सन्दर्भ से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि प्रत्येक वस्तु में स्थिति गति रूप अस्ति-नास्ति भाव अनुस्यूत हैं । प्रत्येक पदार्थ में दोनों नहीं है, अपि तु दोनों की समष्टि प्रत्येक पदार्थ है । अस्ति भी वही है, नास्ति भी वही है । समझने के लिए दोनों को पृथक् मानते हुए दोनों में पूर्वापरभाव मान लिया जाता है । यह-अस्ति-नास्ति है क्या वस्तु ? इस प्रश्न का उत्तर यद्यपि उपलब्धिवेदनिरुक्ति में दिया जाचुका है, स्मरण न रहा होतो फिर सिंहावलोकन करलीजिए । मन-प्राण-वाक् की समष्टि अस्ति है, यह अमृतभाव है । सदा एक रस रहना ही अमृतभाव है । पदार्थ बदलता है, सत्ता नहीं बदल ती । 'घटोऽस्ति' में जैसे अस्ति है, तथैव घटो नास्ति में भी अस्ति है । मन--प्राण--वाक् पर क्रमशः इन तीनों के मर्त्यभाव प्रतिष्ठित रहते हैं । वे ही मर्त्यभाव रूप-कर्म-नाम हैं । नामरूपकर्म की समष्टि वस्तु है । नामरूप बदलते है, सत्ता नहीं बदलती । इस प्रकार मन-प्राण-वाक्--रूप-कर्म-नाम भेद से अस्ति नास्ति लक्षण प्रत्येक पदार्थ षट्कल बन जाता है । इसी अभिप्राय से-'षाट्कौशिकमिदं सर्वम्' यह कहा जाता है । इस षाट्कौशिक पदार्थ में 'अस्ति' पूर्वभाव है, नास्ति उत्तरभाव है । नास्ति विना अस्तिभाव के अप्रतिष्ठित है । नास्ति क्रियारूप है । क्रियातत्त्व तबतक सर्वथा अनुपपन्न है, जब तक कि उस का कोई निष्क्रिय अपरिवर्त्तनीय धरातल न मान लिया जाय । अत एव नास्तिसार क्रिया से पहिले अस्तिसार ज्ञानतत्त्व की सत्ता माननी पड़ती है । अस्ति के पूर्वभावित्व, एवं नास्ति के उत्तरभावित्व की यही उपपत्ति है । सर्वत्र व्याप्त अस्ति-नास्ति ही सुप्रसिद्ध विद्या-कर्म हैं । शान्त-स्थिर-स्वतःप्रकाश-स्थितितत्त्व विद्या है, यही ज्ञान है । अशान्त--चर--अप्रकाश--गतितत्त्व ही अविद्या है, यही कर्म है । अव्ययपुरुष का विद्याभाग सर्वथा शान्त है, कर्मभाग नितान्त अशान्त है । रसप्रधान विद्याभाग रस है, बल प्रधान कर्मभाग बल है । बलभाग मृत्यु है, रसभाग अमृत है । एक असत् है, दूसरा सत् है । एक मूर्त्त है तो

दूसरा अमूर्त है। रस--बल, विद्या--कर्म, अमृत--मृत्यु, अस्ति--नास्ति, सत्--असत्, अमूर्त-मूर्त, अनिरुक्त-निरुक्त, शान्त--अशान्त, नित्य-अनित्य, अनेजत्-एजत्, स्थिति-गति सब अभिन्नार्थक हैं। दोनों की समष्टि एक आत्मा है। रस--विद्या--अमृत--अस्ति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध स्थितितत्त्व तत्तद्वस्तु का पूर्वभाव है, एवं बल-कर्म-मृत्यु-नास्ति इत्यादि नामों से प्रसिद्ध गतितत्त्व तत्तद्वस्तु का उत्तरभाव है। प्रत्येक वस्तु पर दृष्टि डालिए, एवं दोनों भावों की खोज करिए। 'इदंत्व' 'अन्यथात्त्व' का अन्वेषण करिए। जिस दिन आपनें वस्तुस्वरूपसंपादक वस्तुगत इदंत्त्व, एवं अन्यथात्त्व को पहिचान लिया, उस दिन आपनें वेदमूर्त्ति अव्ययेश्वर का साक्षात्कार करलिया, यह साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का आदेश है।

यह वस्तु कैसी है? इस का कैसा स्वरूप है? एतद्विषयक ज्ञान ही वस्तु का इदंत्व है। कैसा समझना इदंत्व समझना है। आगे जाकर यह वस्तु कैसी बनजायगी-यह समझना अन्यथात्त्व है। 'वस्तु कैसी है' इस वाक्य का वस्तु के पूर्वभाव से सम्बन्ध है, 'वस्तु आगे जाकर कैसी बनजायगी' इस वाक्य का वस्तु के उत्तरभाव से सम्बन्ध है। 'कैसी है' इदंत्व है, 'कैसी होजायगी' अन्यथात्त्व है। कैसी है-यह उस वस्तु का सिद्धरूप है, एवं कैसी होजायगी, यह उस की साध्यावस्था है। सिद्धावस्थापन्न इदंत्व ही उस वस्तु का 'स्थिति' भाव है। यहीलोक भाषा में 'वस्तुस्थिति' नाम से प्रसिद्ध है। विद्यमानवस्तु के स्वरूप का विचार ही विद्वन्मण्डली में 'वस्तुस्थिति' नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थिति वस्तु आगे आगे नवीन नवीन रूप धारण करती जाती है, बदलती जाती है, यही वस्तुगति है। कैसी है-क्या होगा, इन दोनों भावों पर दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ते जाइए, एक दिन अव्यय पुरुष आपके सामनें आखड़ा होगा, क्यों कि यही दोनों अव्ययात्मा के स्वरूपधर्म हैं। अव्यय एक वस्तु है। विद्याभाग इस अव्यय की वस्तुस्थिति है, एवं कर्मभाग अव्ययवस्तु की वस्तुगति है। वस्तुस्थितिरूपा विद्याकला अव्यय की सिद्धावस्था (नित्यावस्था-अमृतावस्था) है, एवं गतिरूपा कर्मकला साध्यावस्था (अनित्यावस्था-मृत्युअवस्था) है। वस्तुस्थिति सदा सर्वदा के लिए वस्तुस्थिति ही है, वह कभी वस्तुगति नहीं बन सकती; एवं वस्तुगति सदा के लिए वस्तुगति ही है, यह कभी वस्तुस्थिति नहीं बन सकती।

सल्लक्षण अमृत सदा अमृत ही है, असल्लक्षण मृत्यु सदा मृत्यु ही है। भावात्मक सत् का कभी अभाव नहीं; अभावरूप असत् की कभी सत्ता नहीं। इसी इदंत्व अन्यथात्व का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

> अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।
> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ (गी. २ । १६) ।

दोनों सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी हैं, फिर भी वस्तु एक है। कैसा आश्चर्य ! कैसा दुर्विज्ञेय अव्यय !! कितनी जटिल समस्या !!! अभ्व (गतिरूपक्षणिक कर्म) गर्भित अव्यय वास्तव में हमारे लिए आभू (सर्वव्यापक स्थितिरूप अक्षण अमृत)—(हाभू–हौआ) है। कौन इसे यथार्थरूप से जान सकता है। सिद्धसाध्य का जोड़ा है। एक आत्मा है, दो शरीर हैं।

सिद्धसाध्यावस्थापन्न विद्याकर्ममय अव्यय पुरुष ही प्राणप्रधान क्षरप्रकृति के सहारे विश्व निर्माण की इच्छा से वेदरूप में परिणत होता है। सुतरां तदुत्पन्न कार्यरूप वेद में कारण के स्वरूपधर्म की (स्थिति—गतितत्त्व की) सत्ता सिद्ध होजाती है। भावद्वयोपेत वेदमूर्ति इसी अव्यय से सम्पूर्ण विश्व बना है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व में समष्टि एवं व्यष्टि-रूप से हम उक्त दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर रहे हैं। स्थितितत्त्व को हमनें विद्या कहा है, यही ज्ञानशक्ति है। गतितत्त्व को कर्म कहा है, यही क्रियाशक्ति है। ज्ञान क्रिया के अतिरिक्त तीसरे तत्त्व का अत्यन्ताभाव है। यद्यपि कितनें ही दार्शनिक ज्ञान—क्रिया से अतिरिक्त एक तीसरी अर्थशक्ति की सत्ता और मानते हैं, परन्तु आगे जाकर इस का कर्म किंवा क्रियाशक्ति में ही अन्तर्भाव होजाता है। **'बलसंघातः क्रिया, क्रियासंघो गुणः, गुणकूटो द्रव्यम्, द्रव्यमर्थः'** के अनुसार बल ही प्राण—क्रिया—गुण रूप में परिणत होकर स्थूलावस्था में परिणत होता हुआ अर्थ कहलानें लगता है। इस प्रकार ज्ञानक्रियामूर्त्ति अव्यय के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का अभाव सिद्ध होजाता है। अपनें विशुद्धरूप से यही सब में व्याप्त होरहा है, एवं वेदरूप से यही

सब कुछ बन रहा है। यह अव्यय पुरुष कामनाओं का समुद्र बनता हुआ काममय कहलाता है। (देखिए ऐ० आरण्यक)। इस काममय अव्यय समुद्र में से वेद द्वारा विद्याकर्म-रूप अनन्त रत्न निकला करते हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ उस महासमुद्र में से निकलने वाली एक एक मणि है। इस प्रकार वेदरूप से यही नानारूप मणि है, एकांश से वही सूत्र (डोरा) है। मणिमाला की मणिएं व्यक्त हैं—सूत्र अव्यक्त है। इसी मणिमाला का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते है—

> मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गी० ७।७)।

विश्वमूर्त्ति स्थितितत्त्व 'जू' भाव है, गतितत्त्व यत् भाव है। जू भाव सर्वथा अनेजत् (कंम्पन रहित) है, यत्भाव सर्वथा एजत् (स्थितिरहित) है। अनेजत् एजत् की समष्टि यज्जू है। यही यज्जू है, यही यजुर्वेद है। मनप्राणवाङ्मय अव्यय के कर्मभाग का विकास यजुर्वेद है। विज्ञान ऋग्वेद है, आनन्द सब की अवसान भूमि बनता हुआ सामवेद है। इस प्रकार स्थितिगतिरूपा यह वेदत्रयी सर्वत्रव्याप्त होरही है। इस वेद को हम 'आत्मधृतिवेद' 'पुरुषवेद' आदि नामों से भी व्यवहृत कर सकते हैं। शेष छन्द—रस—वितानादि वेदों का स्वरूप आगे के मन्त्रार्थ प्रकरण में किया जायगा।

इति—स्थितिगतिलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

—०:*:०—

प्रकरणसंगतिः

नेजदेकम्० इत्यादि मन्त्र वेदरूप स्थितिगतिभावापन्न विद्याकर्ममय अव्यय का, दूसरे शब्दों में विद्याकर्ममय विश्वरूप अव्ययात्मक वेदतत्त्व का ही निरूपण करता है। यह वेद उस पुरुष का स्वरूप है, अत एव अव्ययपुरुषतत्त्व किसी अन्य पुरुष से उत्पन्न न होनें के कारण जैसे अपौरुषेयतत्त्व है, एवमेव तदभिन्न यह प्रथन वेद भी अपौरुषेय ही समझना चाहिए।

जब कि "अनेजदेकम्०" इत्यादि मन्त्र गति-स्थितितत्त्व का निरूपक है तो मानना पड़ेगा कि वेदतत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ उक्त मन्त्र—"**इस उपनिषत् में विद्याकर्ममय गूढोत्मा (अव्यय) का ही निरूपण है**" इस प्रतिज्ञा का विरोधी नहीं बन सकता। गूढोत्मा के उदर में पांचों प्राकृतात्मा आजाते हैं। अत एव प्राकृतात्मावच्छिन्न अव्यय का भी निरूपण आवश्यक बन जाता है। फलतः विवश होकर श्रुति को '**अनेजदेकम्०**' इत्यादि प्राकृतात्माधिकरण द्वारा वेदमय विद्याकर्माव्यय का भी निरूपण करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में वेदस्वरूप निरूपण देख कर जो महानुभाव "**इस उपनिषत् में गूढोत्मा नाम के अव्यय का ही निरूपण है**" इस प्रतिज्ञा का विरोध समझने लगते हैं, उन्हें पूर्वप्रतिपादित वेदस्वरूप को, एवं वेद की अव्यय के साथ अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर विरोध की आशङ्का छोड़ देनी चाहिए।

पाठक विचार करते होंगे कि कभी तो लेखक प्रकृत मन्त्र को स्थिति—गति का निरूपक बतलाता हुआ, अव्यय के विद्या—कर्म दोनों भागों का निरूपक बतलाता है, कभी मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण को तो कर्मभाग का, एवं पञ्चमन्त्रात्मक इस द्वितीय प्रकरण को विद्याभाग का प्रतिपादक मान रहा है। किस पक्ष को ठीक समझा जाय? पाठकों की इस विप्रतिपत्ति का लेखक स्वागत करता है, और उन्हें उत्तर में यह कहना उचित समझता है कि यह भाष्य

वैज्ञानिक है। यद्यपि वैज्ञानिक पदार्थ सर्वथा निःसंदिग्ध हैं। दर्शन के समान इन में कल्पनामात्र का रंच मात्र भी समावेश नहीं है। तथापि वैज्ञानिक परिभाषाओं के विलुप्तप्राय होजानें से, एवं साथ ही में–**'मक्षिकास्थाने मक्षिकाप्रयोगः'** करनें वाले, दूसरे शब्दों में इन्द्र शब्द की **विडौजा** टीका करनें वाले टीकाकारों की दयादृष्टि से आज हम वेद के यथार्थ अर्थ से कोसों दूर हटगए हैं, अथवा हटादिए गए हैं। पाठकों के संदेह का यही मूल कारण है। परिभाषा-ज्ञान के अभाव से विरुद्धाविरुद्ध प्रतीत अब तक जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा निःसंदिग्ध है। कर्मप्रतिपादक प्रारम्भ के तीनों मन्त्रों का निरूपण करते हुए हमनें कहा है कि यद्यपि मन-प्राण–वाक् की समष्टि का नाम ही कर्माव्यय है, एवं आनन्द–विज्ञान–मन की समष्टि को ही विद्याव्यय कहते हैं, इस प्रकार विद्याव्यय कर्माव्यय दोनों का स्वरूप सर्वथा भिन्न भिन्न है। तथापि दोनों का परस्पर में अविनाभाव है। जिसे आप विद्या कहते हैं, उसमें भी कर्म है, जिसे आप कर्म कहते हैं, उसमें भी विद्या है। कर्म ज्ञान का उद्बोधक है, ज्ञान कर्म का प्रवर्त्तक है। कर्माव्यय का विद्याभाग ज्ञानशक्तियुत मन है; विद्याव्यय का कर्म भाग क्रियामय विज्ञान है। अतः कर्म भाग के प्रतिपादक प्रथम प्रकरण को कर्म–ज्ञान दोनों का प्रतिपादक माना जासकता है–जैसा कि प्रकरणोपसंहार में बतलादिया गया है–(देखिए ई. वि. भा. २३४ पृ.)। साथ ही में प्रधानता मन–प्राण–वाङ्मय कर्म भाग की है, अतः उसे कर्मप्रतिपादक मानलिया गया है। यही स्थिति इस दूसरे प्रकरण की है। इस में भी दोनों का समावेश है, इस लिए तो इसे दोनों का प्रतिपादक कहा जासकता है। प्रधानदृष्टि वेदमयी विद्या पर है, इसलिए इसे विद्या का प्रतिपादक मानलिया है। वेदावच्छिन्न विद्या का निरूपक होनें से इसे वेदनिरूपक भी कहा जासकता है। वेदपुरंजन ही स्वयम्भू है। यही आध्यात्मिक द्रष्टा अव्यक्त है। अत एव इस प्रकरण को अव्यक्त स्वयम्भू का भी प्रतिपादक माना जासकता है।

अपि च "गतितत्त्व कर्म है, स्थितितत्त्व विद्या है। ऐसी कोई गति नहीं जिस में स्थिति न हो। जिस दिन गति में से स्थिति सर्वात्मना निकल जाती है, उस दिन वह गति स्थितिरूप में परिणत होजाती है। एवमेव ऐसी कोई स्थिति नहीं जिस में गति

न हो। जिस दिन स्थिति में से गति निकाल दी जाती है, उस दिन वह स्थिति गति-रूप में परिणत होजाती है" इस विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार दोनों तत्त्वों में दोनों की सत्ता माननी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि जहां गतिभाव प्रधान रहता है, वहां तद्वादन्याय के अनुसार गतिशब्द का प्रयोग होता है, एवं जहां स्थिति प्रधान रहती है, वहां स्थिति शब्द प्रयुक्त होता है। दोनों मे दोनों के रहते हुए भी जो प्रथम प्रकरण को कर्म का, एवं इस द्वितीय प्रकरण को विद्या का निरूपक बतलाया है, इस का यही रहस्य है।

अपि च वस्तुस्थिति को हमने विद्या कहा है, वस्तुगति को कर्म कहा है। इदंत्व विद्या है, अन्यथात्व कर्म है। यह प्रकरण स्थितिगति का निरूपण करता हुआ विद्याकर्म दोनों से सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक पदार्थ स्थितिशील है, यही वस्तुस्थिति है। पुरोऽवस्थित पदार्थ के लिए आप से प्रश्न होता है कि इस पदार्थ की वस्तुस्थिति बतलाइए ? इस के उत्तर में बहुत छानबीन करनें के अनन्तर आप कहते हैं कि इस वस्तु में एक स्थितिभाग है, एक गतिभाग है। इदंत्व से सम्बन्ध रखनें वाली सिद्धावस्था, एवं अन्यथात्व से सम्बन्ध रखनें वाली साध्यावस्था ही इस वस्तु की वस्तुस्थिति (वास्तविकस्वरूप) है। इस प्रकार स्थितिगतिमत् पदार्थ का यथार्थ स्वरूप भी "वस्तुस्थिति" नाम से व्यवहृत होता देखा जाता है। वस्तुस्थिति ही विद्या है। इस के उदर में स्थिति गति दोनों है। इस लिए भी गतिस्थितिरूपा वस्तुस्थिति (विद्या) के प्रतिपादक इस प्रकरण को विद्याप्रतिपादक माननें में कोई आपत्ति नहीं होती।

उस अव्यय की विश्वातीत, विश्वनिर्माता यह दो अवस्थाएं हैं। विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन (वेदादि) रहित शुद्ध षोडशी विश्वातीत है। वह कभी विश्व का आत्मा नहीं बनता। कारण विश्वकर्तृत्व से वह बाहर है, एवं आत्मा का **'यस्य यदुक्थं सत्-ब्रह्म सत्-साम स्यात् स तस्यात्मा'** यह लक्षण किया है। विशुद्ध षोडशी न विश्व का उक्थ (प्रभव) है, न ब्रह्म (प्रतिष्ठा), है, न साम (परायण) है। मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण में विद्याकर्ममय इसी विश्वातीत षोडशी का निरूपण हुआ है। दूसरा है विश्वकर्त्ता षोडशी। यही विश्व का आत्मा

विश्वेश्वर प्रजापति है। हमारा 'विश्वकर्त्ता' शब्द विश्वकर्त्ता, विश्व, विश्वकर्त्ता और विश्व का सम्बन्ध इन तीन भावों से युक्त हैं। वेदावच्छिन्न अत एव स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध वेद-युक्त विद्याकर्म्ममयषोडशी विश्वकर्त्ता है। शुक्रयुक्त महद्ब्रह्म विश्व है। आगे का तीसरा प्रकरण (सपर्य्यगाच्छुक्र-इत्यादि मन्त्र) इसी विश्व का निरूपण करता है। इस द्वितीय प्रकरण का 'अनेजदेकम्०' इत्यादि प्रथम मन्त्र विश्वकर्त्ता-विश्वात्मा (वेदमूर्त्ति अत एव विश्व रचना में समर्थ स्वयम्भूमूर्त्ति विद्याकर्ममय षोडशीपुरुष) का निरूपण करता है, एवं इसी द्वितीय प्रकरण के तीन मन्त्र (५-६-७ वें मन्त्र) "विश्वात्मा से उत्पन्न होनें वाले विश्व के साथ विश्वात्मा का क्या सम्बन्ध है ?" इस सम्बन्ध जिज्ञासा को शान्त करते हैं।

प्रकरण	क्रम	मन्त्र	स्थान	विवरण	
२—प्रकरण	१—१	"अनेजदेकम्०"	(ई. उ. ४ मं.)	वेदावच्छिन्नो विद्याकर्ममयात्मा	"विश्वकर्त्ता"
	२—१	"तदेजति०"	(ई. उ. ५ मं.)	विश्व-विश्वात्मनोः सम्बन्धः	"सम्बन्धः"
	३—२	"यस्तु सर्वाणि०"	(ई. उ. ६ मं.)		
	४—३	"यस्मिन् सर्वाणि०"	(ई. उ. ७मं.)		
३-प्रकरण	५—१	"सपर्यगाच्छुक्रम्"	(ई. उ. ८ मं.)	सृष्टिः	"विश्वम्"

विश्वप्रतिपादक "सपर्य्यगात्०" का तीसरे प्रकरण से सम्बन्ध है, अतः इसे अभी छोड़ते हैं। शेष बचे हुए द्वितीय प्रकरण के विश्वात्मा का ही क्रमप्राप्त निरूपण किया जाता है।

इति—प्रकरणसंगतिः

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

प्रथमखण्ड

१

समाप्त